महावीर-वाणी

(महावीर-वाणी का दूसरा खंड)

प्रवचन

भगवान् श्री रजनीश

सम्पादन

स्वामी चैतन्य भारती

जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन, बम्बई

१९७२

•

प्रथम संस्करण
अगस्त, १९७३
प्रतियाँ : ३०००
मूल्य : रुपये ३०.००

•

प्रकाशक :

ईश्वरलाल एन० शाह,
(अब साधु ईश्वर समर्पण)
मंत्री, जीवन जागृति केंद्र
३१, इजरायल मोहल्ला
भगवान भुवन, मस्जिद बंदर रोड,
बम्बई-९. फोन : ३२१०८५

•

मुद्रक :

अनंत जे. शाह
लिपिका प्रेस,
कुर्ला रोड, अंधेरी,
बम्बई-५९

महावीर-वाणी

द्वितीय पर्युषण व्याख्यान-माला के अन्तर्गत ४ से २१ सितम्बर, १९७२ तक पाटकर हॉल, बम्बई में 'महावीर-वाणी' पर भगवान् श्री रजनीश द्वारा दिये गये १८ प्रवचनों का संकलन ।

अनुक्रम

पहला प्रवचन

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
४ सितम्बर, १९७२

धर्म-सूत्र : १

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई शरणमुत्तमं ॥

जरा और मरण के तेज प्रवाह में वहते हुए जीव के लिए धर्म ही एकमात्र द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।

अरस्तू ने कहा है : 'यदि मृत्यु न हो, तो जगत् में कोई धर्म भी न हो।' ठीक ही है उसकी बात, क्योंकि अगर मृत्यु न हो, तो जगत् में कोई जीवन भी नहीं हो सकता। मृत्यु केवल मनुष्य के लिए है।

इसे थोड़ा समझ लें।

पशु भी मरते हैं, पौधे भी मरते हैं, लेकिन मृत्यु मानवीय घटना है। पौधे मरते हैं, लेकिन उन्हें अपनी मृत्यु का कोई बोध नहीं है। पशु भी मरते हैं, लेकिन वे अपनी मृत्यु के सम्बन्ध में चिन्तन करने में असमर्थ हैं।

मृत्यु केवल मनुष्य की ही होती है; क्योंकि मनुष्य बोधपूर्वक मरता है, जानते हुए मरता है। मृत्यु निश्चित है, ऐसा बोध मनुष्य को है, चाहे मनुष्य कितना ही भुलाने की कोशिश करे, चाहे कितना ही अपने को छिपाये, पलायन करे, चाहे कितने ही आयोजन करे—सुरक्षा के, भुलावे के, लेकिन हृदय की गहराई में मनुष्य जानता है कि मृत्यु से बचने का कोई उपाय नहीं है।

मृत्यु के सम्बन्ध में पहली बात तो यह ख्याल में ले लेनी चाहिए कि मनुष्य अकेला प्राणी है, जो बोधपूर्वक मरता है। मरते तो पौधे और पशु भी हैं, लेकिन उनके मरने का बोध भी मनुष्य को होता है, उन्हें नहीं होता। उनके लिए मृत्यु एक अचेतन घटना है। इसलिए पौधे और पशु, धर्म को जन्म देने में असमर्थ हैं।

जैसे ही मृत्यु चेतन बनती है, वैसे ही धर्म का जन्म होता है। जैसे ही यह प्रतीति साफ हो जाती है कि मृत्यु निश्चित है, वैसे ही जीवन का सारा अर्थ बदल जाता है; क्योंकि अगर मृत्यु निश्चित है, तो फिर जीवन की जिन क्षुद्रताओं में हम जीते हैं, उनका सारा अर्थ खो जाता है।

के भीतर के लोगों को उतना धक्का नहीं लगता। बफर धक्के को झेल लेता है। कार में स्प्रिंग होते हैं। रास्ते के गड्ढों को स्प्रिंग झेल लेता है। अन्दर बैठे हुए आदमी को पता नहीं चलता।

आदमी ने अपने मन में भी बफर लगा रखे हैं, जिनकी वजह से वह मृत्यु का धक्का जितना अनुभव होना चाहिये, उतना अनुभव नहीं हो पाता। मृत्यु व आदमी के बीच में हमने बफर का इन्तजाम कर रखा है। वे बफर बड़े अद्भुत हैं, उन्हें समझ लें, तो फिर मृत्यु में प्रवेश हो सके। और यह सूत्र मृत्यु के सम्बन्ध में है।

मृत्यु से ही धर्म की शुरुआत होती है इसलिए यह सूत्र धर्म के सम्बन्ध में है।

कभी आपने ख्याल न किया होगा; जब भी आप कहते हैं कि मृत्यु निश्चित है, तो आप के मन में लगता है, प्रत्येक को मरना पड़ेगा। लेकिन उस प्रत्येक

में आप सम्मिलित नहीं होते—यह बफर (सुरक्षा अस्त्र) है। जब भी हम कहते हैं कि हर–एक को मरना होगा, तब भी हम बाहर होते हैं; संख्या के भीतर नहीं होते। हम गिनने वाले होते हैं, मरनेवाले कोई और होते हैं। हम जानने वाले होते हैं, मरने वाले कोई और होते हैं। जब भी मैं कहता हूँ कि मृत्यु निश्चित है, तब ऐसा नहीं लगता कि मैं भी मरूँगा। ऐसा लगता है कि हर कोई मरेगा—'अनानीमस्', उसका कोई नाम नहीं है—हर आदमी को मरना पड़ेगा, लेकिन मैं उसमें सम्मिलित नहीं होता हूँ। मैं बाहर खड़ा रहता हूँ, मैं मरते हुए लोगों की कतार देखता हूँ, लोगों को मरते हुए देखता हूँ, जन्मते देखता हूँ, मैं गिनती करता रहता हूँ, मैं बराबर बाहर खड़ा रहता हूँ, मैं सम्मिलित नहीं होता—जिस दिन मैं सम्मिलित हो जाता हूँ, उस दिन बफर टूट जाता है।

बुद्ध ने मरे हुए आदमी को देखा और पूछा कि क्या सभी लोग मर जाते हैं। *सारथी ने कहा, 'सभी लोग मर जाते हैं।' बुद्ध ने तत्काल पूछा : 'क्या मैं* भी मरूँगा ?' लेकिन हम नहीं पूछते ! बुद्ध की जगह हम होते, तो इतने से हम तृप्त हो जाते कि सब लोग मर जाते है; बात खत्म हो जाती।

जब तक आप कहते हैं कि सब लोग मर जाते हैं, तब तक आप बफर के साथ जी रहे हैं। जिस दिन आप पूछते हैं कि क्या मैं भी मर जाऊँगा ? उस दिन बफर टूट जाता है। यह सवाल महत्वपूर्ण नहीं है कि सब मरेंगे कि नहीं मरेंगे ! सब न भी मरते हों, तो भी मृत्यु मेरे लिए उतनी ही महत्वपूर्ण है।

'क्या मैं भी मर जाऊँगा ?' यह प्रश्न दार्शनिक की तरह भी पूछा जा सकता है और धार्मिक की तरह भी पूछा जा सकता है। जब हम दार्शनिक की तरह पूछते हैं, तब फिर हम बफर की तरह खड़े हो जाते हैं। तब हम 'मृत्यु' के सम्बन्ध में सोचने लगते हैं, 'मैं' के सम्बन्ध में नहीं। जब हम धार्मिक की तरह पूछते हैं, तो 'मृत्यु' महत्वपूर्ण नहीं रह जाती, 'मैं' महत्वपूर्ण हो जाता हूँ।

सारथी ने कहा कि किस मुंह से मैं आप से कहूं कि आप भी मरेंगे। क्योंकि यह कहना अशुभ है, लेकिन झूठ भी नहीं बोल सकता, मरना तो पड़ेगा ही—आपको भी, तो बुद्ध ने कहा: रथ वापस लौटा लो, क्योंकि मैं मर ही गया। जो बात होने ही वाली है, वह हो ही गई। अगर यह निश्चित ही है, तो तीस, चालीस या पचास साल बाद क्या फर्क पड़ता है ? मृत्यु जब निश्चित ही है, तो आज ही हो गई। रथ वापस लौटा लो।

वे जाते थे एक युवक-महोत्सव में, यूथ-फेस्टिवल में भाग लेने के लिए, लेकिन रथ वीच से वापस लौटा लिया। वुद्ध ने कहा कि मैं वूढ़ा हो ही गया। अव युवक-महोत्सव में भाग लेने का कोई अर्थ न रहा। युवक-महोत्सव में तो वही लोग भाग ले सकते हैं, जिन्हें मृत्यु का कोई पता नहीं है।

सारथी ने कहा, अभी तो आप जीवित हैं। मृत्यु तो वहुत दूर है—यह वफर है। वुद्ध को वफर टूट गया, सारथी को नहीं टूटा। सारथी कहता है कि मृत्यु तो वहुत दूर है।

हम सभी सोचते हैं कि मृत्यु तो होगी, परन्तु सदा वहुत दूर सोचते हैं—कभी होगी। ध्यान रहे—आदमी के मन की क्षमता है, जैसे कि हम एक दिये का प्रकाश लेकर चलें, तो दो-तीन या चार कदम तक प्रकाश पड़ता है, ऐसे ही मन की क्षमता है—वहुत दूर रख दें अगर किसी चीज को, तो फिर मन की पकड़ के वाहर हो जाती है। मृत्यु को हम सदा वहुत दूर रखते हैं। उसे हम पास नहीं रखते। मन की क्षमता वहुत कम है। इतने दूर की वात व्यर्थ हो जाती है। एक सीमा है हमारे चिन्तन की। दूर जिसे रख देते हैं, वह वफर वन जाता है।

हम सव सोचते हैं कि मृत्यु तो होगी, लेकिन वूढ़े से वूढ़ा आदमी भी यह नहीं सोचता कि 'मृत्यु आसन्न है।' कोई ऐसा नहीं सोचता कि मृत्यु अभी होगी। सभी सोचते हैं कि कभी होगी। जो भी कहता है कि कभी होगी, उसने वफर निर्मित कर लिया। वह मरने के क्षण तक भी सोचता रहेगा कि कभी होगी और मृत्यु को और दूर हटाता रहेगा। अगर वफर को तोड़ना हो, तो सोचना पड़ेगा कि मृत्यु अभी, इसी क्षण हो सकती है।

यह वड़े मजे की वात है कि वच्चा पैदा हुआ और इतना वूढ़ा हो जाता है कि उसी वक्त मर सकता है। हर वच्चा पैदा होते ही काफी वूढ़ा तो हो जाता है कि उसी वक्त चाहे तो मर सकता है। वूढ़े होने के लिए कोई सत्तर-अस्सी साल रुकने की जरूरत नहीं है। जन्म से ही हम मृत्यु के हकदार हो जाते हैं। जन्म के क्षण के साथ ही हम मृत्यु में प्रविष्ठ हो जाते हैं।

जन्म के वाद मृत्यु समस्या है और किसी भी क्षण हो सकती है। जो आदमी सोचता है कि कभी होगी, वह अधार्मिक वना रहेगा। जो सोचता है कि अभी हो सकती है, इसी क्षण हो सकती है, उसके वफर टूट जायेंगे;

क्योंकि अगर मृत्यु अभी हो सकती है, तो आपकी जिन्दगी का पूरा पर्सपेक्टिव; देखने का पूरा परिप्रेक्ष्य बदल जायेगा।

किसी को गाली देने जा रहे थे, किसी की हत्या करने जा रहे थे, किसी का नुकसान करने जा रहे थे, किसी से झूठ बोलने जा रहे थे, किसी की चोरी कर रहे थे, किसी की बेईमानी कर रहे थे।

मृत्यु अभी हो सकती है, तो फिर नये ढंग से सोचना पड़ेगा कि झूठ का कितना मूल्य है अब। बेईमानी का कितना मूल्य है अब! अगर मृत्यु अभी हो सकती है, तो जीवन का पूरा का पूरा ढांचा दूसरा हो जायेगा।

बफर हमने खड़े किये हैं। पहला, मृत्यु सदा दूसरे की होती है। इट इज आलवेज द अदर हू डाइज़। कभी भी आप नहीं मरते, कोई और मरता है। दूसरा, मृत्यु बहुत दूर है, चिन्तनीय नहीं है। लोग कहते हैं कि अभी तो जवान हो, अभी धर्म के सम्बन्ध में चिन्तन की क्या जरूरत है। उनका मतलब आप समझते हैं? वे यह कह रहे हैं कि अभी तो जवान हो, अभी मृत्यु के सम्बन्ध में चिन्तन की क्या जरूरत है।

धर्म और मृत्यु पर्यायवाची हैं। ऐसा कोई व्यक्ति धार्मिक नहीं हो सकता; जो मृत्यु को प्रत्यक्ष अनुभव न कर रहा हो और ऐसा कोई व्यक्ति जो मृत्यु को प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हो, धार्मिक होने से नहीं बच सकता।

तो दूर रखते हैं हम मृत्यु को और अगर मृत्यु दूर न रखी जा सके, तो बफर टूट जाता है। कभी-कभी मृत्यु बहुत निकट आ जाती है, जब आप का कोई निकटजन मरता है, तो मृत्यु बहुत निकट आ जाती है और करीब-करीब आपको मार ही डालती है। कुछ न कुछ तो आपके भीतर मर ही जाता है; क्योंकि हमारा जीवन सामूहिक है। मैं जिसे प्रेम करता हूँ, उसकी मृत्यु में मैं भी थोड़ा तो मरूंगा ही। उसके प्रेम ने जितना मुझे जीवन दिया था, वह तो टूट ही जायेगा, उतना हिस्सा तो मेरे भीतर खण्डित हो ही जायेगा, उतना तो भवन गिर ही जायेगा।

आपको ख्याल में नहीं है कि अगर सारी दुनिया मर जाये और आप अकेले रह जायें तो आप जिन्दा नहीं होंगे; क्योंकि सारी दुनिया ने आपके जीवन को जो दान दिया था, वह तिरोहित हो जायेगा। आप प्रेत हो जायेंगे—जीते-जी, भूत-प्रेत की स्थिति हो जायेगी।

जब मृत्यु बहुत निकट आ जाती है तो ये बफर काम नहीं करते और धक्का भीतर तक पहुँच जाता है। तब फिर हमने सिद्धान्तों के बफर तय किये हैं। तब हम कहते हैं कि 'आत्मा अमर है। ऐसा हमें पता नहीं है, पता हो, तो मृत्यु तिरोहित हो जाती है। लेकिन पता उसी को होता है, जो इस तरह के सिद्धान्त बना कर बफर निर्मित नहीं करता है। यह जटिलता है। वही जान पाता है कि 'आत्मा अमर है' जो मृत्यु का साक्षात्कार करता है, लेकिन हम बड़े कुशल हैं, हम—मृत्यु का साक्षात्कार न हो, इसलिए 'आत्मा अमर है' ऐसे सिद्धान्त को बीच में खड़ा कर लेते हैं।

यह हमारे मन की समझावन है। यह हम अपने मन को कह रहे हैं कि घबड़ाओ मत—'शरीर ही मरता है, आत्मा नहीं मरती' तुम तो रहोगे ही, तुम्हारे मरने का कोई कारण नहीं है—महावीर ने कहा है, बुद्ध ने कहा है, कृष्ण ने कहा है, सबने कहा है कि 'आत्मा अमर है'।

बुद्ध कहें, महावीर कहें, कृष्ण कहें, सारी दुनिया कहे, जब तक आप मृत्यु का साक्षात्कार नहीं करते हैं, तब तक आत्मा अमर नहीं है। तब तक आपको भलीभाँति पता है कि आप मरेंगे, लेकिन आप मृत्यु के धक्के को रोकने के लिए बफर खड़ा कर रहे हैं।

शास्त्र, सिद्धान्त, शब्द, सब बफर बन जाते हैं। ये बफ़र न टूटें, तो मौत का साक्षात्कार नहीं होता और जिसने मृत्यु का साक्षात्कार नहीं किया, वह अभी ठीक अर्थों में मनुष्य नहीं हुआ, वह अभी पशु के तल पर जी रहा है।

महावीर का यह सूत्र कहता है, 'जरा और मरण के तेज प्रवाह में बहते हुए जीव के लिए, धर्म ही एक मात्र द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।'

इसके एक-एक शब्द को हम समझें।

'जरा और मरण के तेज प्रवाह में।' इस जगत् में कोई भी चीज ठहरी हुई नहीं है, परिवर्तित हो रही है प्रतिपल और इस प्रतिपल परिवर्तन में क्षीण हो रही है, जरा-जीर्ण हो रही है। आप जो महल बनाये हैं, वह कोई हजार साल बाद खण्डहर होगा, ऐसा नहीं, वह अभी खण्डहर होना शुरू हो गया है, नहीं तो हजार साल बाद भी खण्डहर हो नहीं पायेगा। वह अभी जीर्ण हो रहा है। अभी जरा को उपलब्ध हो रहा है।

इसे हम ठीक से समझ लें, क्योंकि यह भी हमारी मानसिक तरकीबों का हिस्सा है कि हम प्रक्रियाओं को नहीं देखते, केवल छोरों को देखते हैं।

एक बच्चा पैदा हुआ, तो हम एक छोर देखते हैं कि बच्चा पैदा हुआ। एक बूढ़ा मरा, तो हम एक छोर देखते हैं कि एक बूढ़ा मरा, लेकिन मरना और जन्मना एक ही प्रक्रिया के हिस्से हैं, यह हम कभी नहीं देखते।

हम छोर देखते हैं—प्रॉसेस नहीं, प्रक्रिया नहीं, जब कि वास्तविक चीज प्रक्रिया है। छोर तो प्रक्रिया के अंग मात्र हैं।

हमारी आंख केवल छोर को देखती है। शुरू देखती है, अन्त देखती है, मध्य नहीं देखती और मध्य ही महत्वपूर्ण है। मध्य से ही दोनों जुड़े हैं। बच्चा पैदा हुआ, यह एक प्रक्रिया है। पैदा होना और मरना एक प्रक्रिया है। जीना एक प्रक्रिया है। ये तीनों प्रक्रियायें हैं, एक ही धारा के हिस्से हैं।

इसे हम ऐसा समझें कि बच्चा जिस दिन पैदा हुआ, उसी दिन मरना भी शुरू हो गया। उसी दिन जरा ने उसे पकड़ लिया। उसी दिन वह जीर्ण होना शुरू हो गया, उसी दिन वह बूढ़ा होना शुरू हो गया। फूल खिला और कुम्हलाना शुरू हो गया। खिलना और कुम्हलाना हमारे लिए दो चीजें हैं। फूल के लिए एक ही प्रक्रिया है।

अगर हम जीवन को देखें, तो वहाँ चीजें टूटी हुई नहीं हैं, वहाँ सब जुड़ा हुआ है, सब संयुक्त है। जब आप सुखी हुए, तभी दुख आना शुरू हो गया। जब आप दुखी हुए, तभी सुख आना शुरू हो गया। जब आप बीमार हुए, तभी स्वास्थ्य की शुरुआत हो गयी। जब आप स्वस्थ हुए, तभी बीमारी की शुरुआत हो गयी, लेकिन हम तोड़कर देखते हैं। तोड़कर देखने में आसानी होती है। अगर हम स्वास्थ्य और बीमारी को एक ही प्रक्रिया समझें, तो वासना के लिए बड़ी कठिनाई हो जायेगी।

अगर हम जन्म और मृत्यु को एक ही बात समझें, तो कामना किसकी करेंगे? चाहेंगे किसे? हम तोड़ लेते है दो में। जो सुखद है, उसे अलग कर कर देते हैं, जो दुखद है, उसे अलग कर देते हैं—मन में, जगत् में तो अलग हो नहीं सकता, अस्तित्व तो एक है। विचार में अलग कर लेते हैं। फिर हमें आसानी हो जाती है।

जीवन को हम चाहते हैं, मृत्यु को हम नहीं चाहते। सुख को हम चाहते हैं, दुख को हम नहीं चाहते और यही मनुष्य की बड़ी से बड़ी भूल है, क्योंकि

जिसे हम चाहते हैं और जिसे हम नहीं चाहते वे एक ही चीज के दो हिस्से हैं। इसलिए हम जिसे चाहते हैं, उसके कारण ही हम उसे निमन्त्रण देते हैं, जिसे हम नहीं चाहते हैं। उसे हम हटाते हैं मकान के बाहर और हम उसके साथ उसे भी विदा कर देते हैं, जिसे हम चाहते हैं।

आदमी की वासना टिक पाती है चीजों को खण्ड-खण्ड बांट लेने से।

अगर हम जगत् की समग्र प्रक्रिया को देखें, तो वासना को खड़े होने का कोई उपाय नहीं है। तब अंधेरा और प्रकाश, दुख और सुख, शान्ति और अशान्ति, जीवन और मृत्यु एक ही चीज के हिस्से हो जाते हैं।

महावीर कहते हैं, 'जरा और मरण के तेज प्रवाह में··· ।'

जरा का अर्थ है, प्रत्येक चीज जीर्ण हो रही है। एक क्षण भी कोई चीज बिना जीर्ण हुए नहीं रह सकती। होने का अर्थ ही जीर्ण होना है। अस्तित्व का अर्थ ही परिवर्तन है। तो बच्चा भी क्षीण हो रहा है, जीर्ण हो रहा है। महल भी जीर्ण हो रहा है। यह पृथ्वी भी जीर्ण हो रही है। यह सौर-परिवार भी जीर्ण हो रहा है। यह हमारा जगत् भी जीर्ण हो रहा है और एक दिन प्रलय में लीन हो जायेगा—'जो भी है।'

महावीर ने बड़ी अद्भुत बात कही है। महावीर कहते हैं—जो भी है, उसे हम अधूरा देखते हैं इसलिए कहते हैं—'है'। अगर हम ठीक से देखें, तब हम कहेंगे—'जो भी है,' वह साथ में 'हो भी रहा है' और साथ में 'नहीं भी हो रहा है।' दोनों चीजें एक साथ चल रही हैं। जैसे कि जन्म और मौत दो पैर हों और जीवन दोनों पैरों पर चल रहा हो।

महावीर की बात थोड़ी जटिल मालूम पड़ेगी; क्योंकि फिर भाषा में कठिनाई पड़ेगी। मैं तो यह कहना आसान होता है कि फलां आदमी बच्चा है, फलां आदमी जवान है, फलां आदमी बूढ़ा है, लेकिन यह हमारा विभाजन ऐसे ही है, जैसे हम कहें यह गंगा है हिमालय की, यह गंगा मैदानों की, यह गंगा सागर की, लेकिन गंगा एक है। वह जो पहाड़ पर बहती है, वही मैदानों में बहती है। वह जो मैदानों में बहती है वही सागर में गिरती है।

बच्चा, जवान, बूढ़ा, एक धारा है, एक गंगा है। बांट के हमें आसानी होती है। हमारी आसानी के कारण हम असत्य को पकड़ लेते हैं। ध्यान रखें, हमारे अधिक असत्य आसानियों के कारण, कन्वीनियेंस के कारण पैदा होते हैं। असत्य सुविधापूर्ण है इसलिए असत्य को हम पकड़ लेते हैं। सत्य असुविधापूर्ण मालूम

होता है। सत्य तो कई बार इतना इन-कन्वीनियेंस, इतना असुविधापूर्ण मालूम होता है कि उसके साथ जीना मुश्किल हो जाये, हमें अपने को बदलना ही पड़े।

अगर आप बच्चे में बूढ़े को देख सकें और जन्म में मृत्यु को देख सकें, तो बड़ा असुविधापूर्ण होगा। कब मनायेंगे खुशी और कब मनायेंगे दुख ? कब बजायेंगे बैंड बाजे और कब करेंगे मातम ? बहुत मुश्किल हो जायेगा ? बहुत कठिन हो जायेगा ! सभी चीजें अगर संयुक्त दिखाई पड़ें, तो हमारे जीने की पूरी व्यवस्था हमें बदलनी पड़ेगी। जीने की जैसी हमारी व्यवस्था है, बँटी हुई, केटगरीज में, कोटियों में है।

तो हम जरा को नहीं देखते जन्म में, न देखने का एक कारण यह भी है कि यह तेज है प्रवाह। यह जो प्रक्रिया है, बहुत तेज है। इसको देखने को बड़ी सूक्ष्म आंख चाहिए। उसको महावीर 'तत्त्व-दृष्टि' कहते हैं।

अगर गति बहुत तेज हो, तो हमें दिखाई नहीं पड़ती। अगर पंखा बहुत तेज चले, तो फिर उसकी पंखुड़ियाँ दिखाई नहीं पड़ती। इतना तेज भी चल सकता है पंखा कि हमें दिखाई ही न पड़े कि वह चल भी रहा है। बहुत तेज चले, तो हमें मालूम पड़े कि ठहरा हुआ है। जितनी चीजें हमें ठहरी हुई मालूम पड़ती हैं, वैज्ञानिक कहते हैं कि तेज गति के कारण ठहरी हुई मालूम पड़ती हैं। गति इतनी तेज है कि उसे हम अनुभव नहीं कर पाते। जिस कुर्सी पर आप बैठे हैं उसका एक-एक अणु बड़ी तेज गति से घूम रहा है। लेकिन हमें पता नहीं चलता; क्योंकि गति इतनी तेज है कि हम उसे पकड़ नहीं पाते। गति को समझने की हमारी सीमा है। अणु की गति को हम नहीं पकड़ पाते, क्योंकि वह बहुत सूक्ष्म है। जरा की गति तो और भी सूक्ष्म, और भी तीव्र है।

जरा का अर्थ है—हमारे भीतर वह जो जीवन धारा है, वह प्रतिपल क्षीण हो रही है। हम जिसे जीवन कहते हैं, वह प्रतिपल बुझ रहा है। हम जिसे जीवन का दिया कहते हैं, उसका तेल प्रतिपल चुक रहा है।

ध्यान की सारी प्रक्रियाएँ जीवन के चुकते हुए तेल को देखने की प्रक्रियाएँ हैं। यह जरा में प्रवेश है।

अभी एक आदमी मुस्करा रहा है—इसे पता भी नहीं कि उसकी मुस्कराहट जो ओंठो तक आई है—हृदय से ओंठ तक जो उसने यात्रा की है—उसे पता

भी नहीं है कि हृदय में शायद दुख और आंसू घने हो गये हैं। इतनी तीव्र है गति कि जब आप मुस्कराते हैं, तब तक शायद मुस्कराहट का कारण भी जा चुका होता है।

इतनी तीव्र है गति कि जब आपको अनुभव होता है कि आप सुख में हैं, तब तक सुख तिरोहित हो चुका होता है। वक्त लगता है आपको अनुभव करने में। और जीवन की जो धारा है, (जिसको महावीर कह रहे हैं—सब चीज जरा को उपलब्ध हो रही है) वह इतनी त्वरित है कि उसके बीच के गेप, अन्तराल हमें दिखाई नहीं पड़ते।

एक दिया जल रहा है। कभी आपने ख्याल किया कि आपके दिये की लौ में कभी अन्तराल दिखाई पड़ते हैं? वैज्ञानिक कहते हैं कि दिये की लौ प्रतिपल धुआँ बन रही है। नया तेल नई लौ पैदा कर रहा है। पुरानी लौ मिट रही है, नई लौ पैदा हो रही है। पुरानी लौ विलीन हो रही है, नई लौ जन्म ले रही है। दोनों के बीच में अन्तराल हे, खाली जगह है। जरूरी है; नहीं तो पुरानी मिट नहीं सकेगी, नई पैदा नहीं हो सकेगी। जब पुरानी मिटती है और नई पैदा होती है, तो उन दोनों के बीच जो खाली जगह है, वह हमें दिखाई नहीं पड़ती। यह इतनी तेजी से चल रहा है कि हमें लगता है कि वही लौ जल रही है। बुद्ध ने कहा है कि साँझ हम दिया जलाते हैं और सुबह हम कहते हैं कि उसी दिये को हम बुझा रहे हैं, जिसे साँझ हमने जलाया था।

उस दिये को हम कभी नहीं बुझा सकते सुबह, जिसे सांझ हमने जलाया था। वह लौ तो लाख दफा बुझ चुकी, जिसे हमने साँझ जलाया था। करोड़ दफा बुझ चुकी, जिस लौ को हम सुबह बुझाते हैं। उससे तो हमारी कोई पहचान ही न थी, साँझ तो वह थी ही नहीं।

बुद्ध ने कहा है कि हम उसी लौ को नहीं बुझाते, उसी लौ की धारा में आई हुई लौ को बुझाते हैं; संतति को बुझाते हैं। वह लौ अगर पिता थी, तो हजार-करोड़ पीढ़ियाँ बीत गई रात भर में। उसकी अब जब जो संतति है—सुबह—इन बारह घंटे के बाद, उसको हम बुझाते हैं।

इसे अगर हम फैला कर देखें, तो बड़ी हैरानी होगी।

मैंने आपको गाली दी। जब आप मुझे गाली लौटाते हैं, तो यह गाली उसी आदमी को नहीं लौटती जिसने आपको गाली दी थी। लौ को तो समझना आसान है कि सांझ जलाई थी और सुबह जिसे बुझाया था लेकिन

यह जो जरा की धारा है, इसको समझना मुश्किल है। आप उसी को गाली नहीं लौटा सकते, जिसने आपको गाली दी थी। वहाँ भी जीवन क्षीण हो रहा है। वहाँ भी लौ बदलती जा रही है। जिसने आपको गाली दी थी, अब वह आदमी नहीं है वहाँ, अब वहाँ उसकी संतति है। उसी धारा में एक नई लौ है। हम कुछ भी लौटा नहीं सकते। लौटाने का कोई भी उपाय नहीं है; क्योंकि जिसको लौटाना है, वह—वही नहीं है। बदल गया है।

हेरॉक्लीटस ने कहा है—एक ही नदी में दुबारा उतरना असम्भव है। निश्चित ही असम्भव है; क्योंकि दुबारा जब आप उतरते हैं, तो वह पानी वह चुका होता है, जिसमें आप पहली बार उतरे थे। हो सकता है अब सागर में हो वह पानी, हो सकता है अब बादलों में पहुँच गया हो, हो सकता है फिर गंगोत्री में गिर रहा हो; लेकिन अब उस पानी से मुलाकात आसान नहीं है दुबारा। और अगर हो भी जाये, तो आपके भीतर की भी जीवन-धारा बदल रही है, अगर वह पानी दुबारा मिल भी जाये, तो जो उतरा था नदी में वह आदमी नहीं मिलेगा दुबारा।

दोनों नदी हैं। नदी भी एक नदी है और आप भी एक नदी हैं। आप भी एक प्रवाह हैं। सारा जीवन एक प्रवाह है—इसको महावीर कहते हैं—'जरा।' इसका एक छोर जन्म है और दूसरा छोर मृत्यु है। जन्म में ज्योति पैदा होती है, मृत्यु में उसकी संतति समाप्त होती है। इस बीच के हिस्से को हम जीवन कहते हैं; जो कि क्षण-क्षण बदल रहा है।

यह प्रवाह इतना तेज है कि इसमें पैर रोक कर खड़ा होना भी मुश्किल है। हालांकि हम सब खड़े होने की कोशिश करते हैं। जब हम एक बड़ा मकान बनाते हैं, तो हम इस ख्याल से नहीं बनाते कि कोई और इसमें रहेगा। कभी कोई ऐसा आदमी देखा है, जो मकान बनाता हो कि कोई और इसमें रहेगा ? नहीं, आप अपने लिए मकान बनाते हैं, लेकिन सदा आपके बनाये मकानों में कोई और रहता है। आप अपने लिए धन इकट्ठा करते हैं, लेकिन सदा आपका धन किन्हीं और के हाथों में पड़ता है। जीवन भर जो आप चेष्टा करते हैं, उस चेष्टा में कहीं भी पैर थमने का कोई उपाय नहीं है। जहाँ हम खड़े होने की चेष्टा कर रहे थे, वहाँ कोई और खड़ा होता है! वह भी खड़ा नहीं रह पाता! कोई और···कोई और··· !

यह बड़ी मजे की बात है कि हम सब दूसरों के लिए जीते हैं।

एक मित्र को मैं जानता हूँ। बूढ़े आदमी हैं अब तो। पंद्रह वर्ष पहले जब वे मुझे मिले थे, तो उनका लड़का एम० ए० करके यूनिवर्सिटी के बाहर आया था, तो उन्होंने मुझसे कहा था कि अब और तो कोई मेरी महत्वाकांक्षा है नहीं—बस, मेरे लड़के को ठीक से नौकरी मिल जाये, उसकी शादी हो जाये, वह व्यवस्थित हो जाये··· ।

फिर उनका लड़का व्यवस्थित हो गया, नौकरी मिल गयी, उनके लड़के को अब तीन बच्चे हैं। अभी कुछ दिन पहले उनका लड़का मेरे पास आया और उसने आकर मुझे कहा : "मेरी तो कोई ऐसी आकांक्षा नहीं है। बस, ये मेरे बच्चे ठीक से पढ़-लिख जायें, इनकी ठीक से नौकरी लग जाये, ये व्यवस्थित हो जायें··· ।"

इसको मैं कहता हूँ—'उधार जीना।'

बाप इनके लिए जिये, ये अपने बेटों के लिए जी रहे हैं। इनके बेटे भी अपने बेटों के लिए जियेंगे।

जाना कभी हो ही नहीं पाता। सारी स्थिति बड़ी असंगत, बड़ी बेतुकी मालूम होती है। अगर मैं इन सज्जन से कुछ कहूँ, तो इनको दुख लगेगा। मैंने सुन लिया, मैंने उनसे कुछ कहा नहीं, अगर मैं उनसे कहूँ, कि बड़ी अजीब बात है, तुम्हारे बेटे भी यही करेंगे—कि अपने बेटों के जीने के लिए जियेंगे।

मगर इन सारे उपद्रवों का अर्थ क्या है ?

कोई आदमी जी नहीं पाता और सब आदमी उनके लिए चेष्टा करते हैं। जो जियेंगे वे भी किन्हीं और के जीने के लिए चेष्टा करेंगे।

इस सारी कथा का अर्थ क्या है ?

कोई अर्थ नहीं मालूम पड़ता। अर्थ मालूम पड़ेगा ही नहीं; क्योंकि जिस प्रवाह में हम खड़े होने की कोशिश कर रहे हैं, उस प्रवाह में न हम खड़े हो सकते हैं, न हमारे बेटे खड़े हो सकते हैं, न उनके बेटे खड़े हो सकते हैं, न हमारे बाप खड़े हुए, न उनके बाप भी कभी खड़े हुए।

जिस प्रवाह में हम खड़े होने की कोशिश कर रहे हैं, उसमें कोई खड़ा हो नहीं सकता। एक ही उपाय है कि हम सिर्फ आशा कर सकते हैं कि वहाँ हमारे बेटे खड़े हो जायेंगे, जहाँ हम खड़े नहीं हुए।

इतना साफ है कि हम खड़े नहीं हो पा रहे, फिर भी आशा नहीं छूटती।

'चलो ! हमारे खून का हिस्सा--हमारे शरीर का कोई टुकड़ा खड़ा हो जायेगा।'

लेकिन जब आप खड़े नहीं हो पाये, तो ध्यान रखें--कोई भी खड़ा नहीं हो पायेगा। असल में जहाँ आप खड़े होने की कोशिश कर रहे हैं, वह जगह खड़े होने की है ही नहीं।

महावीर कहते हैं कि जरा और मरण के तेज प्रवाह में बहते हुए जीव के लिए धर्म ही एकमात्र शरण है।

इस प्रवाह में जो शरण खोजेगा, उसे शरण कभी भी नहीं मिलेगी। इस प्रवाह में कोई शरण है ही नहीं, यह सिर्फ प्रवाह है।

महावीर के दो हिस्से ठीक से समझ लें।

एक। जिसे हम जीवन कहते हैं, उसे महावीर जरा और मरण का प्रवाह कहते हैं; उसमें अगर आपने खड़े होने की कोशिश की, तो आप खड़े होने की कोशिश में ही मिट जायेंगे, खड़े नहीं हो पायेंगे। उसमें खड़े होने का कोई उपाय ही नहीं है। और ऐसा मत सोचना (जैसा कि कुछ नासमझ सोचे चले जाते हैं।) जैसा कि नैपोलियन कहता है कि मेरे शब्दकोष में असंभव जैसा कोई शब्द नहीं है।

यह बचकानी बात है। यह बहुत बुद्धिमान आदमी नहीं कह सकता। और नैपोलियन बहुत बुद्धिमान हो भी नहीं सकता; क्योंकि वह कहता है, "मेरे शब्दकोष में असंभव जैसी कोई बात नहीं है।"—और यह कहने के दो साल बाद वह जेलखाने में पड़ा हुआ है—हेलना के।

सोचता था कि सारे जगत् को हिला दूँगा। सोचता था कि पहाड़ों को कह दूँ हट जाओ, तो उन्हें हटना पड़े।

हेलना के द्वीप में एक दिन सुबह घूमने निकला है और एक घासवाली औरत पगडण्डी से चली आ रही है। नैपोलियन के सहयोगी ने चिल्लाकर कहा—"ओ घसियारिन रास्ता छोड़ दे।" लेकिन घसियारिन ने रास्ता नहीं छोड़ा।

हारे हुए नैपोलियन को कौन घसियारिन रास्ता छोड़ने को तैयार हो सकती है? और मजा यह है कि अन्त में नैपोलियन को ही रास्ता छोड़कर उतर जाना पड़ा और घसियारिन रास्ते से गुजर गई।

यह वही नैपोलियन है, जो कुछ दिन पहले कहता था कि मेरे शब्दकोश में असंभव जैसा कोई शब्द ही नहीं है। अगर मैं आल्प्स पर्वत से कहूँ कि हट, तो उसे हटना पड़े। वह एक घसियारिन को भी नहीं कह सकता कि हट।

महावीर कहते हैं कि कुछ—'असंभव है।' बुद्धिमान आदमी वह नहीं है, जो कहता है कि कुछ भी असम्भव नहीं। न ही वह आदमी बुद्धिमान है, जो कहता है कि सभी कुछ सम्भव है। बुद्धिमान आदमी वह है, जो ठीक से परख कर लेता है कि क्या असम्भव और क्या सम्भव है। बुद्धिमान आदमी वह है, जो जानता है कि क्या असम्भव है और क्या सम्भव है। एक बात निश्चित रूप से असम्भव है कि जरा और मरण के तेज प्रवाह में कोई शरण नहीं है। यह असम्भव है। इसमें पैर जमा कर खड़े हो जाने का कोई भी उपाय नहीं है। इस असम्भव के लिए जो चेष्टा करते हैं, वे मूढ़ हैं।

असम्भव का मतलब यह नहीं होता कि थोड़ी कोशिश करेंगे तो हो जायेगा। असम्भव का मतलब यह भी नहीं होता कि संकल्प की कमी है, इसलिए नहीं हो रहा। असम्भव का मतलब यह नहीं कि ताकत कम है, इसलिए नहीं हो रहा है। असम्भव का मतलब होता है—स्वभावतः जो हो नहीं सकता—प्रकृति के नियम में जो नहीं हो सकता।

महावीर यह नहीं कहते कि आकाश में उड़ना असम्भव है। जो कहते हैं, वे गलत साबित हो गये हैं। महावीर जैसे आदमी कभी नहीं कहेंगे कि आकाश में उड़ना असंभव है। जब पक्षी उड़ लेते हैं, तो आदमी उड़ ले, इसमें बहुत असंभावना नहीं है। जब पक्षी उड़ लेते हैं, तो आदमी भी कोई इन्तजाम कर लेगा। और उड़ लेगा।

चाँद पर पहुँच जाना, महावीर नहीं कहेंगे कि असम्भव है; क्योंकि चाँद और जमीन के बीच फासला कितना ही हो, आखिर फासला ही है। फासले पूरे किये जा सकते हैं।

इस सम्बन्ध में ईसाइयत कमजोर है। ईसाइयत ने ऐसी बातें असम्भव कहीं, जिनको विज्ञान ने सम्भव करके बता दिया और उसके कारण पश्चिम में धर्म की प्रतिष्ठा गिर गई। धर्म की प्रतिष्ठा गिरने का कारण यह बना कि ईसाइयत ने ऐसे दावे किये थे कि यह हो ही नहीं सकता और वह हो गया। जब हो गया, तो ईसाइयत मुश्किल में पड़ गई, लेकिन इस मामले में भारतीय धर्म अति वैज्ञानिक है।

महावीर ने ऐसा कोई दावा नहीं किया है, जो विज्ञान किसी दिन गलत कर सके। जैसे यह दावा—'जरा और मरण के तीव्र प्रवाह में कोई शरण नहीं है।'—इसे कभी भी, किसी भी स्थिति में गलत नहीं किया जा सकता; क्योंकि गहरे से गहरे जीवन के नियम का हिस्सा है।

शरण मिल सकती है उसमें, जो स्वयं परिवर्तित न होता हो। जो स्वयं ही परिवर्तित हो रहा हो, उसमें शरण कैसी!

शरण का मतलब होता है कि आप मेरे पास आये और आपने आकर कहा कि मुझे शरण दें। दुश्मन मेरे पीछे लगे हुए हैं, मुझे बचायें। मैं आपको कहता हूँ कि ठीक है। मैं आश्वासन देता हूँ कि मैं आपको बचाऊँगा, लेकिन आश्वासन का मतलब तभी हो सकता है, जब 'मैं' कल भी 'मैं' ही रहूँ। कल, जब 'मैं' ही न रहूँगा, तो दिये गये आश्वासन का कितना मूल्य है? मैं ख़ुद ही बदल रहा हूँ, तो मेरे आश्वासन का क्या अर्थ है?

किर्कगार्ड ने कहा है कि मैं कोई आश्वासन नहीं दे सकता। आई कैन नाट प्रामिस एनिथिंग। इसलिए नहीं दे सकता कि मैं किस भरोसे से आश्वासन दूं? कल सुबह मैं, मैं ही रह जाऊँगा, इसका कोई पक्का नहीं। तो जिसने आश्वासन दिया था, वही जब न रहे, तो आश्वासन का क्या अर्थ? जो खुद बदल रहा है, वह क्या आश्वासन दे सकता है? जहाँ परिवर्तन ही परिवर्तन है, वहाँ शरण कैसी?

करीब-करीब ऐसा ही है कि दोपहर है और घनी धूप है और आप एक वृक्ष की छाया में बैठ गये हैं। लेकिन आप को पता है कि वृक्ष की छाया बदल रही है। थोड़ी देर में यह हट जायेगी?

यह वृक्ष की छाया शरण नहीं बन सकती, क्योंकि यह छाया है। बदल रही है। यह परिवर्तित हो रही है। इस जगत् में जहाँ-जहाँ हम शरण खोजते हैं, वहाँ सभी कुछ परिवर्तित हो रहा है। जिसे हम पकड़ते हैं, वह खुद ही बहा जा रहा है। बहाव को हम पकड़ने की कोशिश करते हैं और उस आश्वासन में जीते हैं, जो खुद बदल रहा है। उसके साथ कैसे शरण संभव हो सकती है?

इसलिए महावीर कहते हैं कि जरा और मरण के तीव्र प्रवाह में कोई भी शरण नहीं है।

चाहे धन, चाहे यश, चाहे पद, चाहे प्रतिष्ठा, चाहे मित्र, पति-पत्नी, सम्बन्ध, पुत्र सब बहे जा रहे हैं। इस बहाव में—जहाँ हजार-हजार बहाव

हो रहे हैं, जो आदमी सोचता है कि मैं पकड़ कर रुक जाऊँ, ठहर जाऊँ, पैर जमा लूँ, वह आदमी दुख में पड़ेगा। यही दुख हमारे जीवन का नर्क है।

किसी के प्रेम को हम सोचते हैं कि शरण है—सोचते हैं कि मिल गई छाया—अब किसी का प्रेम हमें वरद-छाया की तरह घेरे रहेगा, लेकिन सब चीजें बदल रही हैं। कल छाया बदल जायेगी। सुबह छाया कहीं होगी, दोपहर कहीं होगी, साँझ कहीं होगी। फिर छाया ही नहीं बदल जायेगी। आज घना था वृक्ष, कल पतझड़ आयेगा, तो पत्ते ही गिर जायेंगे और कोई छाया नहीं बनेगी।

आज वृक्ष जवान था, कल बूढ़ा हो जायेगा। आज वृक्ष फैला था छाते की तरह आकाश में, कल सूखेगा और ये सूखना, ये सिकुड़ना, यह प्रतिपल चल रहा है, तो जो उस वृक्ष के नीचे बैठा है यह आशा बाँध कर कि मुझे छाया मिल गई, अब मैं इस एक जगह रह जाऊँ तो उसे आँख नहीं खोलनी चाहिये—पहली शर्त। अगर वह आँख खोलेगा, तो कठिनाई में पड़ेगा—उसे अंधा होना चाहिए। चाहे कितनी ही धूप पड़े, उसे सदा ही व्याख्या करनी चाहिये कि यह छाया है। फिर चाहे कितना ही उल्टा हो जाये—वृक्ष में पतझड़ आ जाये, तो उसे माने ही चलना चाहिये कि फूल खिले हैं और वसन्त की बहार है।

हम सब यही कर रहे हैं। आज जो प्रेम है, कल वह नहीं होगा, तब हम आँख बन्द करके माने चले आयेंगे कि प्रेम है। आज जो मित्रता है, कल वह नहीं होगी, तब भी हम माने चले आयेंगे कि मित्रता है। आज जो सुगन्ध थी कल वह दुर्गन्ध हो जायेगी, तब भी हम माने चले जायेंगे।

आँख बन्द करके हमें जीना पड़ता है, क्योंकि जहाँ हम शरण ले रहे हैं, वहाँ शरण लेने योग्य कुछ भी नहीं है और तब आँखें खोलने में डर लगने लगता है। तब हम अपने से ही भयभीत हो जाते हैं। हम किसी चीज को फिर बहुत साफ नहीं देख पाते, क्योंकि डर है कि जो हम मान रहे हैं, कहीं ऐसा न हो कि वह वहाँ हो ही नहीं! तो फिर हम आँख बन्द करके जीने लगते हैं।

हम सब अन्धों की तरह जीते हैं, बहरों की तरह जीते हैं। जो है, उसको हम देखते नहीं। जो था, हम माने चले आते हैं कि वही है और उसे हम मान कर व्यवहार किये चले जाते हैं।

यह जो हमारी चित्त दशा है, विक्षिप्त जैसी है। लेकिन कारण क्या है?

कारण यह नहीं कि मैंने जिसे प्रेम किया वह आदमी ईमानदार न था। नहीं, यह कारण नहीं है, मैंने जिसे प्रेम किया, वह एक प्रवाह था। ईमानदार और वेईमान का कोई भी सवाल नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि मैंने जिससे मैत्री का भरोसा किया, वह भरोसे योग्य न था ! नहीं, वह एक प्रवाह था। मैंने प्रवाह का भरोसा किया।

चलती हुई, वहती हुई हवाओं पर जो भरोसा करता है, वह कठिनाई में पड़ेगा ही। यह कठिनाई किसी की वेईमानी से पैदा नहीं होती, न किसी के धोखे से पैदा होती है। मेरा तो अनुभव ऐसा है कि इस सारे जगत् में निन्यानवे प्रतिशत कठिनाइयाँ कोई जान कर पैदा नहीं करता—प्रवाह से पैदा होती है। आदमी वदल जाते हैं और रोक नहीं सकते अपने को वदलने से।

कोई वच्चा कव तक वच्चा रहेगा, जवान तो होगा ही ! निश्चित ही वचपन में उस वच्चे ने माँ को जो आश्वासन दिये थे, वह जवान होकर नहीं दे सकता। वच्चे के जवान होने में ही यह वात छिपी है कि माँ कि तरफ पीठ हो जायेगी, जिसकी ओर पहले मुँह था। यह हो ही जायेगा। यह वच्चा माँ की तरफ ऐसे देखता था, जैसे उससे सुन्दर इस जगत् में कोई भी न हो, लेकिन एक दिन मां की तरफ पीठ हो जायेगी। कोई और सुन्दरी दिखाई पड़ना शुरू हो जायेगी और तव माँ को लगेगा कि धोखा हो गया।

सभी माँ को लगता है कि धोखा हो गया—अपना ही लड़का···। लेकिन उनको स्मरण नहीं रहता कि उनको जिस पति ने प्रेम किया था, वह भी किसी का लड़का था। अगर वह भी अपनी माँ को प्रेम करता चला जाता, तो उनका पति होनेवाला नहीं था।

लड़का जवान होगा, तो माँ से जो प्रेम था, वह वदलेगा—छाया हट जायेगी, किसी और पर पड़ेगी, किसी और को घेर लेगी-–तव धोखा नहीं हो रहा, तव हम सिर्फ प्रवाह को प्रेम कर रहे हैं। यह जाने विना कि वह प्रवाह है—हम मानते थे कि कोई थिर चीज है इसलिए अड़चन हो रही है, इसलिए कठिनाई हो रही है।

आज दस लोग आपको आदर देते हैं, तो आप वड़े आश्वस्त हैं; कल ये दस लोग आपको आदर नहीं देंगे तो आप वड़े निराश और दुखी हो जायेंगे। ऐसा नहीं है कि ये दस लोग वुरे थे—ये दस लोग प्रवाह थे।

हम एक प्रवाह हैं। एक ही आदमी को हम सदा आदर नहीं दे सकते। हम आदर देते-देते ऊव जाते हैं। आदर के लिए हमें नया आदमी खोजना

पड़ता है। हम प्रेम भी एक ही आदमी को नहीं दे सकते। हम प्रवाह हैं। हम प्रेम देते-देते भी ऊब जाते हैं। हमें प्रेम के लिए भी नये लोग खोजने पड़ते हैं।

हम एक सतत बदलाहट हैं, और हमीं बदलाहट हैं, ऐसा नहीं—हमारे चारों तरफ जो भी है, वह सब बदलाहट है। अगर हम इस जगत् को इसकी बदलाहट में देख सकें, तो हमारे दुखी होने का कोई भी कारण नहीं है।

वृक्ष की छाया बदल जायेगी, वृक्ष भी क्या कर सकता है! सूरज बदल रहा है और सूरज को क्या मतलब है इस वृक्ष की छाया से। वृक्ष क्या कर सकता है! वर्षा नहीं आई और वर्षा को क्या मतलब है इस वृक्ष से। और वृक्ष क्या कर सकता है कि भारी ताप हुई, सूर्य की आग बरसी, पत्ते सूख गये और गिर गये! क्या मतलब है धूप को इस वृक्ष से! और जो छाया में नीचे बैठा है—इस वृक्ष को क्या प्रयोजन है उस आदमी से कि वह छाया में नीचे बैठे।

यह सारा का सारा जगत् एक अनन्त प्रवाह है। इस प्रवाह में जो भी पकड़ कर शरण खोजता है, वह दुख में पड़ता है, लेकिन तब क्या कोई शरण है ही नहीं?

एक सम्भावना तो यह है कि शरण है ही नहीं, जैसा कि शॉपनहर—एक जर्मन विचारक ने कहा है कि कोई शरण नहीं है, दुख अनिवार्य है, यह एक दशा है।

अगर आदमी ठीक से सोचे, तो एक विकल्प यह है कि दुख अनिवार्य है। दुख होगा ही। यह बड़ा निराशाजनक है, लेकिन शॉपनहर कहता है कि सत्य यही है। हम कर भी क्या सकते हैं!

फ्रायड ने पूरे जीवन चिन्तन करने के बाद यह कहा कि आदमी सुखी हो नहीं सकता; क्योंकि जहाँ भी वह पकड़ता है, वहीं चीजें बदल जाती हैं, और ऐसी कोई चीज नहीं है, जो न बदले और आदमी पकड़ ले।

शॉपनहर कहता है कि सब दुख है। सुख सिर्फ आशा है। दुख वास्तविकता है। सुख का एक ही उपयोग है—सुख तो है नहीं, सिर्फ उसकी आशा का एक उपयोग है कि आदमी दुख को झेल लेता है। दुख को झेलने में राहत मिलती है—सुख की आशा से लगता है कि आज नहीं, तो कल मिलेगा। आज का दुख झेलने में आसानी हो जाती है, लेकिन सुख है नहीं; क्योंकि सभी कुछ प्रवाह

है, सभी कुछ बदला जा रहा है। आपकी आशाएँ कभी पूरी नहीं होंगी; आपकी आशाएँ ऐसे जगत् में पूरी हो सकती हैं, जहाँ चीजें बदलती न हों।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

आप जो भी आशाएँ करते हैं, वह एक ऐसे जगत् की करते हैं, जहाँ सब चीजें ठहरी हुई हैं।

मैं जिसे प्रेम करता हूँ···। प्रेम की क्या आशा है, आप जानते हैं? प्रेम की आशा है—अनन्त हो, शाश्वत हो, सदा रहे, कभी कुम्हलाएँ न, कभी मुरझाये न कभी बदले न—यह आशा एक ऐसे जगत् की है, जहाँ प्रवाह न हो, जहाँ सब चीजें थिर हों।

अगर ठीक से समझें, तो यह आशा एक बिलकुल मरे हुए जगत् की है। क्योंकि जहाँ जरा भी बदलाहट होगी, वहाँ सब अस्त-व्यस्त हो जायेगा। हम एक ऐसा जगत् चाहते हैं—बिलकुल मरा हुआ जगत्, जहाँ सब चीजें ठहरी हुई हैं। सूरज अपनी जगह, छाया अपनी जगह, प्रेम अपनी जगह—सब ठहरा हुआ है। आदर-श्रद्धा अपनी जगह, बेटा अपनी जगह, पति अपनी जगह,—सब ठहरा हुआ है—तो हम एक योग का जगत् बना लें—बिलकुल मृतक। जहाँ कोई चीज कभी नहीं बदलती, लेकिन तब भी हम सुखी न होंगे, क्योंकि तब लगेगा कि सब मर गया।

फ्रायड कहता है कि आदमी की आकांक्षाएँ असम्भव हैं। वह कभी सुखी नहीं हो सकता। अगर जगत् बदलता रहे, तो वह दुखी होता है कि जो चाहा था वह नहीं हुआ। अगर जगत् बिलकुल थिर हो जाये—जो वह चाहे, वही हो जाये, तो भी वह दुखी हो जायेगा; क्योंकि तब उसमें कोई रस नहीं रह जायेगा।

अगर गुलाब का फूल खिले और खिला ही रहे, कभी न मुरझाये, तो प्लास्टिक के फूल में और गुलाब के फूल में फर्क क्या होगा?

आप भगवान् से प्रार्थना करने लगेंगे कि कभी तो यह मुरझाये—कभी तो ऐसा हो कि यह गिरे और बिखर जाये।

यह छाती पर भारी पड़ने लगा। कहते हैं आप कि शाश्वत प्रेम! आपको पता नहीं है, शाश्वत प्रेम आपको अगर मिल जाये, तो एक ही प्रार्थना उठेगी कि इससे छुटकारा कैसे हो?

हम सब चाहते हैं—ठहरा हुआ जगत्, लेकिन चाह सकते हैं, क्योंकि वह मिलता नहीं और मिल जाये तो कठिनाई खड़ी हो जाती है। फ्रायड कहता है आदमी एक असंभव आकांक्षा है।

ज्यां पाल सार्त्र ने इस बात को अभी एक नया रुख दिया है और वह कहता है कि वासना ही मूढ़तापूर्ण है। आदमी एक वासना है जो मूढ़तापूर्ण है। कुछ भी हो जाये, आदमी दुखी होगा। दुख अनिवार्य है।

तो एक रास्ता यह है कि जो शॉपनहर या फ्रायड या सार्त्र कहते हैं लेकिन महावीर निराशावादी नहीं हैं।

महावीर कहते हैं कि यह जगत् एक प्रवाह है, लेकिन इस जगत् में छिपा हुआ एक ऐसा तत्त्व भी है, जो प्रवाह नहीं है। उसे महावीर धर्म कहते हैं। 'जरा और मरण के तेज प्रवाह में बहते हुए जीव के लिए धर्म ही एक मात्र द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और शरण होता है।'

यह जो हम देख रहे हैं चारों तरफ बहता हुआ—यही अगर सब कुछ है, तो निराशा के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। और अगर निराशा के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है, तो सिर्फ मूढ़ ही जी सकते हैं, बुद्धिमान आत्मघात कर लेंगे।

कुछ बुद्धिमान आत्मघात करते हैं तो कहते हैं कि सिर्फ मूढ़ ही जी सकते हैं। थोड़ी दूर तक इनकी बात सच भी मालूम पड़ती है कि मूढ़ ही जी सकते हैं। जीने के लिए घनी मूढ़ता चाहिये।

अब यह जो बाप कह रहा है कि 'बेटे को काम पर लगा देने को जी रहा हूँ···। ये बेटा अपने बेटे को काम पर लगा देने के लिए जी रहा है।'

बड़ी घनी मूढ़ता चाहिये, इन सब को चलाये रखने के लिए—अंधापन चाहिए कि दिखाई ही न पड़े कि हम क्या कर रहे हैं। अगर यह दिखाई पड़ जाये कि सभी कुछ निराशा है और कही कोई शरण नहीं है, किसी चीज का कोई भरोसा नहीं, कहीं पैर टिक नहीं सकते, धारा प्रतिपल बही जा रही है और भविष्य अनजान है और जीवन की हर घड़ी मौत में बदल जाती है, हर सुख, दुख में बदल जाता है और जन्म अन्ततः मृत्यु को लाता है—अगर यह साफ दिखाई पड़ जाये, तब आप तत्काल वहीं के वहीं बैठ जायेंगे। यह तो बहुत घबड़ाने वाला होगा! यह बेचैन रहेगा! यह संताप से भर देगा!

और पश्चिम में इधर सन्ताप बढ़ा है। पश्चिम में एक विचार दर्शन है—एक्जिस्टेंशियलिज्म (अस्तित्ववाद)। वे महावीर के पहले हिस्से से राजी हैं, लेकिन महावीर अद्भुत आदमी मालूम पड़ते हैं। जीवन में सब दुख देखकर भी महावीर आनन्दित हैं।

यह बड़ी असंभव घटना मालूम पड़ती है, क्योंकि महावीर और बुद्ध ने जीवन के दुख की जितनी गहरी चर्चा की है, इस जगत् में कभी किसी ने नहीं की। फिर भी महावीर से ज्यादा प्रफुल्लित, आनंदित और नाचता हुआ व्यक्तित्व खोजना मुश्किल है। महावीर से ज्यादा खिला हुआ आदमी खोजना मुश्किल है। शायद जमीन ने फिर ऐसा आदमी दुबारा नहीं देखा।

कहानियाँ हैं महावीर के बाबत, वह बड़ी प्रीतिकर हैं। कि महावीर जब रास्ते पर चलें, तो काँटा भी अगर सीधा पड़ा हो, तो तत्काल उलटा हो जाता है कि कहीं महावीर को गड़ न जाये।

कोई कांटा उल्टा हुआ नहीं होगा। आदमी इतनी चिन्ता नहीं करते, तो कांटे क्या इतनी चिन्ता करेंगे! आदमी महावीर को पत्थर मार जाते हैं, कान में खीलें ठोंक जाते हैं, तो कांटे अगर ऐसी चिन्ता करते हैं, तो कांटे तो आदमी से आगे निकल गये! लेकिन जिन्होंने कहा है, किन्हीं कारणों से कहा है।

वैज्ञानिक तथ्य नहीं है, लेकिन बहुत गहरा सत्य है। और जरूरी नहीं है कि सत्य के लिए कि वह वैज्ञानिक तथ्य भी हो। सत्य बड़ी और बात है। इस बात में सत्य है। इस बात में इतना सत्य है कि कोई उपाय ही नहीं है महावीर को कांटे गड़ने का।

कैसा भी काँटा हो महावीर के लिए उल्टा ही होगा। न भी हो, तो भी होगा और हमारे लिए कांटा कैसा भी हो, सीधा ही होगा। हम मखमल की गद्दी पर चलें, तो भी कांटे गड़नेवाले हैं। महावीर कांटे पर भी चलें, तो उन्हें नहीं गड़ते, यही मतलब है। काँटों की तरफ से नहीं है यह बात, यह बात महावीर की तरफ से है। महावीर के लिए कोई उपाय नहीं है कि उन्हें काँटा गड़ सके।

जो आदमी दुख की इतनी बात करता है कि सारा जीवन दुख है, उस आदमी को काँटा नहीं गड़ता दुख का! जरूर इसने किसी और जीवन को भी जान लिया है!

इसका अर्थ हुआ कि यही जीवन सब कुछ नहीं है। जिसे हम जीवन कहते हैं, वह जीवन की परिपूर्णता नहीं है, केवल परिधि है। जिसे हम जीवन जानते हैं, वह केवल सतह है, उसकी गहराई नहीं और इस सतह के छूटने का तब तक कोई उपाय नहीं है, जब तक सतह के साथ हमारी आशा बंधी है। इसलिए महावीर इस सतह के सारे दुख को उघाड़ कर रख देते हैं। इस सारे दुख को उघाड़ कर रख देते हैं। इसका सारा हड्डी, मांस, मज्जा खोलकर रख देते हैं कि यह दुख है।

इसलिए नहीं कि आदमी दुखी हो जाये, इसलिए नहीं कि आदमी आत्मघात कर ले। इसलिए कि आदमी रूपान्तरित हो जाये। उस नये जीवन में प्रविष्ट हो जाये, जहाँ दुख नहीं है। यह एक नई यात्रा का निमंत्रण है।

इसलिये महावीर निराशावादी नहीं हैं, दुखवादी नहीं हैं, पेसिमिस्ट नहीं हैं। महावीर आनन्दवादी हैं, लेकिन दुख की इतनी बात करते हैं कि पश्चिम में बहुत गलतफहमी पैदा हुई है।

अलबर्ट शवीत्जर ने भारत के ऊपर बड़ी से बड़ी आलोचना की है और बहुत समझदार व्यक्तियों में शवीत्जर एक है। उसने कहा कि भारत जो है, वह दुखवादी है। इनका सारा चिन्तन, इनका सारा धर्म दुख से भरा है—दुख से ओत-प्रोत है, निराशावादी है—इन्होंने जीवन की सारी की सारी जड़ों को सुखा डाला है और इन्होंने जीवन को कालिख से पोत डाला है।

शवीत्जर थोड़ी दूर तक तो ठीक कहता है। हमने ऐसा किया है, लेकिन फिर भी शवीत्जर की आलोचना गलत है। अगर महावीर के ऊपर के वचनों को देखकर कोई चलेगा, तो लगेगा कि सब जरा है, सब दुख है, सब पीड़ा है।

अगर आप महावीर को कहें कि देखते हैं, यह स्त्री कितनी सुन्दर है। तो महावीर कहेंगे कि थोड़ा और गहरा देखो, थोड़ा चमड़ी के भीतर जाओ, थोड़ा थोड़ा झाँको, तो तुम्हें असली सौन्दर्य का पता चलेगा। तब तुम्हें हड्डी, मांस, मज्जा के अतिरिक्त कुछ भी न मिलेगा।

सुना है मैंने, मुल्ला नसरुद्दीन जवान हुआ और एक लड़की के प्रेम में पड़ा। उसके पिता ने उसे समझाने के लिए कहा कि तू बिल्कुल पागल है। थोड़ा समझ-बूझ से काम ले। जरा सोच, जिस सौन्दर्य के पीछे तू दिवाना है, दैट ब्युटी इज ओनली स्किन डीप (वह सौन्दर्य केवल चमड़ी की गहराई का है) तो मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा—दैट इज इनफ फॉर मी। आइ ऐम नॉट ए कैनीबाल। मेरे लिए काफी है, चमड़ी की गहराई का सौन्दर्य भी। मैं कोई आदमखोर तो नहीं हूँ कि भीतर स्त्री को खा जाऊँ। ऊपर-ऊपर काफी है, भीतर का करना क्या है? आइ ऐम नॉट ए कैनीबाल।

हम भी यही मान के जीते हैं कि ऊपर-ऊपर काफी है। भीतर जाने की जरूरत क्या है! लेकिन यह सवाल केवल स्त्री का ही नहीं है, यह सवाल केवल पुरुष का ही नहीं है, यह सवाल हमारे पूरे जीवन को देखने का है। ऊपर ही ऊपर जो मानते हैं कि काफी है, वे प्रवाह से कभी भी छुटकारा न पा

सकेंगे। क्योंकि प्रवाह के बाहर जो जगत् है, वह ऊपर नहीं है, वह भीतर है और स्त्री के भीतर हड्डी, मांस, मज्जा ही अगर हो, तो नसरुद्दीन ठीक कहता है कि इस झंझट में क्यों पड़ना ! लेकिन स्त्री के हड्डी, मांस, मज्जा के भीतर भी जाने का उपाय है। हड्डी, मांस मज्जा के भीतर वह स्त्री की जो आत्मा है, वह प्रवाह के बाहर है।

दो-तीन बातें हम समझ लें।

एक तो सतह है, फिर सतह से नीचे छिपा हुआ जगत् है और फिर सतह के नीचे की भी गहराई में छिपा हुआ केन्द्र है। परिधि है, फिर परिधि और केन्द्र के बीच का फासला है और फिर केन्द्र है।

जब तक कोई केन्द्र तक न पहुँच जाये, तब तक न तो सत्य का कोई अनुभव है, न सौन्दर्य का कोई अनुभव है। सौन्दर्य का अनुभव तभी होता है, जब हम किसी दूसरे व्यक्ति के केन्द्र को स्पर्श करते हैं। प्रेम का भी वास्तविक अनुभव तभी होता है, जब हम किसी व्यक्ति के केन्द्र को छू लेते हैं—चाहे क्षण भर को ही सही, चाहे एक झलक ही क्यों न हो।

जीवन में जो भी गहन है, जो भी महत्त्वपूर्ण है, वह केन्द्र है। लेकिन परिधि पर हम अगर घूमते रहें, घूमते रहें, तो जन्मों-जन्मों तक घूम सकते हैं। जरूरी नहीं है कि हम कितना घूमें कि केन्द्र तक पहुँच जायें। एक आदमी एक चाक की परिधि पर बैठ जाये और घूमता रहे, घूमता रहे, जन्मों-जन्मों तक, वह कभी भी केन्द्र तक नहीं पहुँचेगा। हम ऐसे ही घूम रहे हैं। इसीलिए हमने जगत् को संसार कहा है।

संसार का अर्थ है—चक्र, जो घूम रहा है। उसमें दो उपाय हैं, होने के—संसार में दो ढंग हैं, होने के : एक ढंग है परिधि पर होना और एक ढंग है उसके केन्द्र पर होना। केन्द्र पर होना ही धर्म है।

महावीर कहते हैं कि 'धर्म स्वभाव' है। 'वत्थू स्वभावो धम्म', वह जो प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है, उसका आन्तरिक, अन्तरतम, वही धर्म है। महावीर के लिए धर्म का अर्थ रीलिजन नहीं है, ख्याल रखना—मजहब नहीं है। महावीर के लिए धर्म से मतलब : हिन्दू, जैन, ईसाई, बौद्ध, मुसलमान नहीं है।

महावीर कहते हैं कि धर्म का अर्थ है—तुम्हारा जो गहनतम स्वभाव है, वही तुम्हारी शरण है। जब तक तुम अपने उस गहनतम स्वभाव को नहीं

इसे थोड़ा देख लें।

हम दूसरे आदमी को कभी भी उसके भीतर से नहीं देख सकते, या कि आप देख सकते हैं ? आप दूसरे आदमी को सदा उसके बाहर से देख सकते हैं। आप मुस्करा रहे हैं, तो मैं आपकी मुस्कराहट देख सकता हूँ, लेकिन आपके भीतर क्या हो रहा है, यह मैं नहीं देख सकता। आप दुखी हैं, तो आपके आँसू देख सकता हूँ; आपके भीतर क्या हो रहा है, यह मैं नहीं देख सकता। अनुमान लगाता हूँ कि आँसू हैं, तो भीतर दुख होगा। मुस्कराहट है, तो भीतर खुशी होगी।

दूसरा आदमी अनुमान है, इन्फ्रेन्स है। भीतर तो केवल मैं अपने ही देख सकता हूँ। तब हो सकता है कि ऊपर आँसू हों और भीतर दुख न हो। ऊपर मुस्कराहट हो और भीतर दुख हो।

भीतर तो मैं अपने ही देख सकता हूँ। एक द्वार मेरे लिए स्वभाव में उतरने का खुला है, वह मैं स्वयं हूँ। दूसरा मेरे लिए बन्द द्वार है। उसमें मैं कभी नहीं उतर सकता।

हम सब दूसरे से उतरने की कोशिश कर रहे हैं। हमारा प्रेम, हमारी मित्रता, हमारा सम्बन्ध सब दूसरे से उतरने की कोशिश हैं। दूसरे से हम प्रवाह में ही रहेंगे।

इसलिए महावीर ने बड़ी हिम्मत की बात कही। महावीर ने ईश्वर को भी स्वीकार नहीं किया। महावीर ने कहा कि ईश्वर भी दूसरा हो जाता है— द अदर। उससे भी कुछ हल नहीं होगा। महावीर ने कहा कि मैं तो आत्मा को भी परमात्मा कहता हूँ, और किसी को परमात्मा नहीं कहता। कोई दूसरा परमात्मा नहीं है, तुम स्वयं ही परमात्मा हो। एक ही द्वार तुम्हारे अपने भीतर जाने का है, वह तुम स्वयं हो। परिधि को छोड़ो और भीतर की तरफ हटो। क्या है उपाय ? कैसे छोड़ें हम परिधि को ?

एक आखिरी सूत्र।

जो भी बदल जाता हो, समझो कि वह मैं नहीं हूँ।

शरीर प्रतिपल बदल रहा है, शरीर एक धारा है। जब आपका माँ के पेट में गर्भाधान हुआ था, उस अणु का चित्र अगर आपके सामने रख दिया जाये, तो आप पहचान भी नहीं सकेंगे कि आप यह थे; लेकिन एक दिन वही

आपका शरीर था। जिस दिन आप जन्मे थे, उस दिन की तस्वीर अगर आपके सामने रख दी जाये, तो आप पहचान न सकेंगे कि यह मैं ही हूँ; लेकिन एक दिन वही आपका शरीर था। अगर आपके पिछले जन्म की लाश आपके सामने रख दी जाये, तो आप पहचान न सकेंगे; लेकिन एक दिन आप वही थे। अगर आपके भविष्य का कोई चित्र आपके सामने रख दिया जाये, तो आप पहचान नहीं सकेंगे कि एक दिन आप वह भी हो सकते हैं। शरीर प्रतिपल बदल रहा है।

महावीर कहते हैं, जो बदल रहा है, वह मैं नहीं हूँ—इसकी धारणा करो। इसको गहन में उतारते चले जाओ। यह तुम्हारे चेतन, अचेतन के पोर-पोर में डूब जाये कि जो बदल रहा है, वह मैं नहीं हूँ।

मन भी बदल रहा है, प्रतिपल बदल रहा है। शरीर तो थोड़ा धीरे-धीरे बदलता है, लेकिन मन तो और तेजी से बदलता है, तो जो बदल रहा है, वह मैं नहीं हूँ।

मन भी मैं नहीं हूँ। प्रतिपल धारणा को गहरा करते जाओ। यही एकाग्र चिन्तन रह जाये, कि मन भी मैं नहीं हूँ। एक विचार क्षण भर भी नहीं टिकता कि दूसरा विचार, वह टिकता भी नहीं कि तीसरा विचार! मन एक धारा है—विचारों की, वह भी मैं नहीं हूँ—ऐसा डूबते जाओ भीतर जब तक कि तुम्हें कुछ भी परिवर्तनशील दिखाई पड़े, तत्काल अपने को तोड़ लो। उससे और दूर हो जाओ। एक दिन उस जगह पहुँच जाओगे, जहाँ कुछ परिवर्तनशील नहीं दिखाई पड़ेगा। जिस दिन वह घड़ी आ जाये, जहाँ कुछ भी परिवर्तन होता हुआ न दिखाई पड़े, जानना कि धर्म में प्रवेश हुआ। वही स्वभाव है।

महावीर कहते हैं कि यही स्वभाव 'द्वीप' है, यही स्वभाव 'प्रतिष्ठा' है, यही स्वभाव 'गति' है। गति का अर्थ : यही स्वभाव एक-मात्र मार्ग है और यही स्वभाव 'उत्तम शरण' है।

अगर जाना है किसी की शरण में, तो इस स्वभाव की शरण में चले जाओ। अगर किन्हीं चरणों में सिर रख ही देना है, तो इसी स्वभाव के चरणों में ही सिर रख दो। और कोई चरण काम नहीं पड़ सकते। और कोई शरण सार्थक नहीं है।

स्वभाव ही शरण है।

अगर हमने महावीर के चरणों में सिर रखा और अगर हमने कहा कि जिसने जाना है स्वयं को, उसकी शरण हम जाते हैं, तो यह केवल अपनी ही शरण जाने के लिए एक माध्यम है, इससे ज्यादा नहीं। जो महावीर की शरण में ही रुक जाये वह भटक गया।

महावीर की शरण कोई जाता है, तो सिर्फ इसलिए कि अपनी शरण आ सके। महावीर की भी शरण जाते हैं हम तो सिर्फ इसलिए कि हम नहीं पहुँच पाये अपने स्वभाव तक लेकिन कोई पहुँच गया है। जो हम हो सकते हैं कोई हो गया है। जो हमारी सम्भावना है, किसी के लिए वास्तविक हो गयी है। लेकिन वह भी वस्तुतः हम अपने ही स्वभाव की शरण जा रहे हैं। उसके अतिरिक्त कोई गति, कोई द्वीप, कोई शरण नहीं है।

आज इतना ही। पाँच मिनट बैठें, कीर्तन करें, फिर जायें।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
५ सितम्बर, १९७२

दूसरा प्रवचन

धर्म-सूत्र : २

०

जहा सागडियो जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइणो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मुच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइयो ॥

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइयो ॥

जरा जाव न पीडेई, वाही जाव न वड्ढई।
जाविन्दिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥

जिस प्रकार मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझ कर साफ-सुथरे राजमार्ग को छोड़ विषम (टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़) मार्ग पर चल पड़ता है और गाड़ी की धूरी टूट जाने पर शोक करता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य जान-बूझ कर धर्म (मार्ग) को छोड़कर अधर्म (मार्ग) को पकड़ लेता है और अन्त में मृत्यु के मुख में पहुँचने पर जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।

जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं लौटते हैं। जो मनुष्य अधर्म करता है, उसके वे रात-दिन बिलकुल निष्फल जाते हैं। लेकिन जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात-दिन सफल हो जाते हैं।

जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, तब तक व्याधियाँ नहीं बढ़तीं, जब तक इंद्रियाँ अशक्त नहीं होतीं, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए, बाद में कुछ नहीं होगा।

इस सूत्र में प्रवेश करने के पहले मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ बातें हम समझ लें।

मृत्यु अत्यन्त निजी अनुभव है। दूसरे को हम मरता हुआ देखते हैं, लेकिन मृत्यु को नहीं देखते। दूसरे को मरता हुआ देखना, मृत्यु का परिचय नहीं है। मृत्यु आन्तरिक घटना है। स्वयं मरे विना मृत्यु को देखने का कोई भी उपाय नहीं। शायद इसीलिए, जब भी हम मृत्यु के सम्बन्ध में सोचते हैं, तो ऐसा लगता है कि मृत्यु दूसरे की होगी; क्योंकि हमने दूसरों को ही मरते देखा है।

जब हम दूसरे को मरते देखते हैं, तो हम क्या देखते हैं? हम इतना ही देखते हैं कि जीवन क्षीण होता चला जाता है। शरीर से जीवन की ज्योति विदा होती चली जाती है। लेकिन उस क्षण में, जहाँ जीवन और शरीर पृथक होते हैं; हम मौजूद नहीं हो सकते। केवल वही व्यक्ति मौजूद होता है, जो मर रहा है।

तो किसी को मरते हुए देखना, मृत्यु को देखना नहीं है। मृत्यु तो स्वयं ही देखी जा सकती है। आपके लिए कोई दूसरा नहीं मर सकता, प्रॉक्सी से (दूसरे के लिए) मरने का कोई उपाय नहीं है।

मृत्यु अत्यन्त निजी घटना है। उधार—मृत्यु का अनुभव नहीं हो सकता; और हमारा सब अनुभव उधार है। हमने सदा दूसरों को मरते हुए देखा है। शायद इसीलिए, मृत्यु का जो आघात हमारे उपर पड़ना चाहिये, वह नहीं पड़ता।·उसकी गहराई हमारे ख्याल में नहीं आती।

क्या जीवन में कोई और भी ऐसा अनुभव है, जो मृत्यु जैसा हो? एक अनुभव है; लेकिन एक-बारगी ख्याल भी नहीं आये कि उसका और मृत्यु से कोई सम्बन्ध हो सकता है। वह अनुभव है प्रेम।

'प्रेम और मृत्यु' बड़े एक से अनुभव हैं। फिर तीसरा कोई भी अनुभव वैसा नहीं है। आपके लिए श्वांस भी दूसरा व्यक्ति ले सकता है। हृदय भी जरूरी नहीं कि आपका ही धड़के, दूसरे का भी आप के लिए धड़क सकता है। आपका हृदय पूरा अलग कर दिया जाये और दूसरे के हृदय से जोड़ दिया जाये, तो भी आप जीवित रह लेंगे। खून भी दूसरे का आपकी नाड़ियों में बह सकता है। श्वांस भी यन्त्र आपके लिए ले सकता है, लेकिन प्रेम आपके लिए कोई दूसरा नहीं कर सकता।

प्रेम अत्यन्त निजी अनुभव है। मृत्यु और प्रेम बड़े संयुक्त हैं; इसलिए जिन लोगों ने प्रेम के सम्बन्ध में गहराई से सोचा है, उन्हें मृत्यु के सम्बन्ध में सोचना पड़ा; और जिन्होंने मृत्यु की खोजबीन की है वे अन्ततः प्रेम के रहस्य में भी प्रविष्ट हुए हैं।

कुछ बातें हमारे अनुभव में भी हैं; जैसे––जो आदमी प्रेम से डरता है, वह मृत्यु से भी डरेगा। जो आदमी मृत्यु से डरता है, वह कभी प्रेम में नहीं पड़ेगा। जो व्यक्ति प्रेम की गहराई में उतर गया है, मृत्यु के प्रति बिल्कुल अभय हो जाता है। इसलिए प्रेमी निश्चिन्तता से मर सकता है। प्रेमी को मृत्यु में कोई भय नहीं रह जाता, लेकिन जिसने कभी प्रेम न किया हो, वह मृत्यु से बहुत डरेगा। तब एक दुष्ट चक्र निर्मित होता है, एक वीसियस सर्कल बनता है।

मृत्यु से डरता है इसलिए प्रेम में नहीं उतरता है, क्योंकि प्रेम का अनुभव भी गहरे में मृत्यु का ही अनुभव है। जब तक कोई पूरी तरह मिटता नहीं, तब तक उसमें प्रेम का जन्म भी नहीं होता।

प्रेम एक अर्थ में आध्यात्मिक मृत्यु है। प्रेम वही कर सकता है, जो अपने को मिटा लेने को राजी हो। जब तक कोई इतना नहीं मिट जाता कि बचे ही नहीं, तब तक प्रेम का फूल नहीं खिलता। इसलिए जिसने प्रेम को जान लिया हो, उसने मृत्यु को भी जान लिया; या जिसने मृत्यु को जाना हो, उसने प्रेम को भी जान लिया।

प्रेम और मृत्यु बड़ी संयुक्त घटनाएँ हैं। गहरे, आन्तरिक तल पर, वे एक ही चीज के दो रूप हैं। यह बहुत हैरानी की बात है कि मृत्यु तो जब हम मरेंगे तब होगी। दूसरे को मरते देखकर हम मृत्यु का कोई अनुभव नहीं कर सकते। खुद मरेंगे, तभी अनुभव होगा, लेकिन एक उपाय है––प्रेम, जिससे हम मृत्यु का अनुभव आज भी कर सकते हैं।

प्रेम का ही और विराट रूप है—प्रार्थना। प्रेम का ही सार अंश है—ध्यान। ये सब मृत्यु के रूप हैं। हिन्दू शास्त्रों ने तो कहा है, 'गुरु मृत्यु है।' इसी अर्थ में कहा है कि गुरु के पास तभी कोई पहुँच सकता है, जब वह इस स्थिति में अपने को छोड़ दे, जैसे कि दुख मिट गया। और अगर गुरु के पास मृत्यु घटित न हो, तो गुरु से कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता।

श्रद्धा भी मृत्यु है। वह प्रेम का ही एक रूप है। यह मृत्यु तो जीवन के अन्त में आयेगी, जिसे हम दूसरे में घटते देखते हैं, लेकिन प्रेम आज भी घट सकता है। प्रार्थना आज भी हो सकती है। ध्यान में आज भी प्रवेश हो सकता है।

जो लोग ध्यान में प्रवेश कर जाते हैं उन्हें मृत्यु का भय मिट जाता है। सिर्फ ध्यानी मृत्यु के बाहर हो जाता है, जैसे प्रेमी मृत्यु के बाहर हो जाता है। क्यों? इसलिए नहीं कि ध्यान के द्वारा मृत्यु पर विजय हो जाती है। इसलिए भी नहीं कि प्रेम के द्वारा मृत्यु पर विजय हो जाती है। बल्कि इसलिए कि जो प्रेम में मर कर देख लेता है, वह जान जाता है कि जो मर जाता है, वह मैं नहीं हूँ। ध्यान में जो मर कर देख लेता है, वह जान जाता है कि जो मरता है, वह मेरी परिधि है, मेरी देह है, मेरा आवरण है, मैं नहीं हूँ।

मृत्यु से गुजर कर जाना जाता है कि मेरे भीतर कोई अमृत भी है। इस अमृत के बोध से मृत्यु नहीं मिटती—मृत्यु तो घटेगी ही। महावीर को भी घटेगी, कृष्ण को भी घटेगी और बुद्ध को भी घटेगी—मृत्यु तो घटेगी ही, लेकिन तब यह मृत्यु केवल दूसरों के लिए होगी। दूसरे देखेंगे कि महावीर मर गये और महावीर जानते रहेंगे कि वे नहीं मर रहे हैं। भीतर कोई मृत्यु घटित नहीं होगी। मृत्यु बाहरी घटना हो जायेगी खुद के लिए भी। ऐसा अनुभव न हो पाये, तो जीवन व्यर्थ गया।

इसे हम समझ लें, तो फिर यह सूत्र समझ में आये।

एक बीज हम बोते हैं। वृक्ष बढ़ता है, बड़ा होता है तो आप कहते हैं कि वृक्ष सफल हुआ, बीज बोया सफल हुआ। जब फूल खिलते हैं, फल लगते हैं, जब फल पकते हैं तो वृक्ष जो दे सकता था, पूरा दे देता है, तब हम कहते हैं, सफल हुआ श्रम। जिस वृक्ष पर फल न लगें, बांझ रह जाये वृक्ष, उस वृक्ष को हम सफल नहीं कहेंगे। हम कहेंगे कहीं अवरोध आ गया है। कहीं रास्ता भटक गया है। कहीं वृक्ष किसी ऐसे रास्ते पर चला गया, जहाँ जीवन की निष्पत्ति नहीं होती। जहाँ जीवन में निर्णय नहीं आता। इस वृक्ष का होना व्यर्थ हो गया।

मनुष्य भी एक बीज है। मनुष्य भी एक वृक्ष है। सभी मनुष्य फल तक नहीं पहुँचते। पहुँचना चाहिये। पहुँच सकते हैं। सभी के लिए सम्भव है, लेकिन हो नहीं पाता। कुछ लोग भटक जाते हैं। कुछ लोग ऐसे मार्ग पर चले जाते हैं, जहाँ उनके जीवन में कोई फल नहीं लगते, जहाँ उनके जीवन में कोई फूल नहीं खिलते, जहाँ उनका जीवन निष्फल हो जाता है।

जीवन को हम देखें, तो जीवन की अन्तिम घटना है—मृत्यु। जीवन का जो आखिरी चरण है, शिखर है, वह मृत्यु है। जन्म तो शुरुआत है, मृत्यु अन्त है। मृत्यु में ही पता चलेगा कि व्यक्ति का जीवन सफल हुआ या असफल हुआ। अन्तिम घड़ी में ही जाँच पड़ताल हो जायेगी, निर्णय हो जायेगा।

अगर आप हँसते हुए मर सकते हैं, तो जीवन सफल हुआ, फूल खिल गया। अगर आप रोते हुए ही मरते हैं, तो जीवन व्यर्थ गया, फूल खिल नहीं पाये। जब सब खिल जाता है, तो मृत्यु एक आनन्द है; जब कुछ भी नहीं खिल पाता, तो मृत्यु एक पीड़ा है, क्योंकि मैं बिना कुछ हुए मर रहा हूँ। समय व्यर्थ गया, अवसर चूक गया, मैं कुछ नहीं हो पाया। जो हो सकता था, जो मेरे भीतर छिपा था, वह बाहर न आ पाया। जो गीत मैं गा सकता था, वह अनगाया रह गया।

हम में से अधिक रोते हुए ही मरते हैं। रोते हुए मरना इस बात की खबर है कि जीवन असफल गया। मृत्यु जब हँसती हुई होती है, मृत्यु जब फूल की तरह खिलती है, मृत्यु जब एक आनन्द होती है, तो उसका अर्थ है कि इस जीवन की गहनताओं में छिपा हुआ जो अमृत था, उसका इस व्यक्ति को पता चल गया। अब मृत्यु सिर्फ विश्राम है। अब मृत्यु अन्त नहीं है, बल्कि अब मृत्यु पूर्णता है। अब मृत्यु एक लम्बी, निष्फल जीवन की समाप्ति नहीं है; बल्कि एक फुलफिलमेंट है। एक पूर्णता है।

जैसे कोई नदी मरुस्थल में खो जाये और सागर तक न पहुँच पाये, वैसा अधिक लोगों का जीवन है। कहीं खो जाता है, पूर्ण नहीं हो पाता। जैसे कोई नदी सागर में पहुँच जाये—गीत गाती, नाचती सागर से मिल जाये, वैसा लोगों का जीवन नहीं है। मरुस्थल में भी नदी खो जाती है, सागर में भी नदी खो जाती है। मरुस्थल में नदी असफल हो जाती है, लेकिन सागर में नदी सफल हो जाती है। इसलिए मरुस्थल में खोती नदी रोती हुई खोयेगी; सागर में गिरती नदी, नाचती हुई, अहोभाव से भरी हुई खोयेगी। खोना तो दोनों में है।

मृत्यु में हम भी खोते हैं, लेकिन रोते हुए। जैसे मरुस्थल में सब अवसर व्यर्थ हो गया। महावीर भी खोते हैं, लेकिन हँसते हुए। वह जो अवसर मिला था, उससे जो भी हो सकता था, वह पूरा हो गया।

इस बात को समझ कर हम सूत्र को समझें।

'जिस प्रकार मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझ कर साफ-सुथरे राजमार्ग को छोड़, विषम (टेड़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़) मार्ग पर चल पड़ता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य भी जान-बूझ कर धर्म को छोड़, अधर्म को पकड़ लेता है और अन्त में मृत्यु के मुख में पहुँचने पर, जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।'

इसमें बहुत सी बातें हैं। महावीर ने एक बड़ी ही अद्भुत बात कही है और वह यह है कि 'मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझकर', यह बड़ी उल्टी बात है। अगर गाड़ीवान मूर्ख है, तो 'जान-बूझकर' क्या अर्थ रखता है। और अगर गाड़ीवान जान-बूझकर ही गलत रास्ते पर चलता है, तो मूर्ख कहने का क्या प्रयोजन है। लेकिन महावीर का प्रयोजन है, जब महावीर कहते हैं, 'मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझकर।'

मूर्खता, अज्ञान का नाम नहीं है। मूर्खता, उन ज्ञानियों के लिए कही जाती है, जो जान-बूझकर, बच्चों को हम मूर्ख नहीं कहते; अबोध कहते हैं। बच्चे को हम, अगर भूल करे, तो मूर्ख नहीं कहते, बच्चा ही कहते हैं; निर्दोष कहते हैं। अभी उसे पता ही नहीं। मूर्ख तो आदमी तब होता है, जब उसे पता होता है और फिर भी जान-बूझकर गलत रास्ते पर चला जाता है।

जानवरों को हम मूर्ख नहीं कह सकते, वे तो अज्ञानी हैं। बच्चों को हम मूर्ख नहीं कह सकते, वे अज्ञानी हैं। मूर्ख तो हम उनको ही कह सकते हैं, जो ज्ञानी भी हैं। तब जान-बूझकर भूल शुरू होती है। जान-बूझकर की गई भूल ही मूर्खता है। लेकिन कोई जान-बूझकर भूल क्यों करता होगा ?

सुकरात ने कहा है कि कोई जान-बूझकर भूल नहीं कर सकता। युनान में इस पर लम्बा विवाद रहा है और इस विवाद पर सारे जगत् की संस्कृतियों के अलग-अलग अनुदान हैं कि आदमी जब कोई भूल करता है, तो जान-बूझ कर करता है या कि अनजाने में करता है। सुकरात ने कहा है, कोई आदमी जान-बूझकर भूल कर ही नहीं सकता। इस बात में सच्चाई है। कभी आप जान-बूझकर आग में हाथ डाल सकते हैं ? असम्भव है। जान-बूझकर कैसे

कोई भूल करेगा ! क्योंकि भूल दुख देती है, पीड़ा देती है। भूल तो अनजाने ही हो सकती है।

महावीर कहते हैं कि जान-बूझ कर भी भूल हो सकती है। जान-बूझ कर तब हो सकती है जब आप जानते हैं कि आग में हाथ डालने से हाथ जलेगा ही। लेकिन फिर भी ऐसी परिस्थितियाँ पैदा की जा सकती हैं कि आप अहंकार-वश आग में हाथ डाल दें। अगर यह प्रतियोगिता हो रही होगी कि कौन कितनी देर तक आग में हाथ रख सकता है, तो आप जान-बूझकर भी आग में हाथ डाल सकते हैं।

अहंकार के कारण आदमी जान-बूझकर भूल कर सकता है। सिर्फ एक ही कारण है जान-बूझकर भूल करने का, अहंकार के कारण। अगर आपके अहंकार को रस मिलता है, तो आप जान-बूझकर भूल कर सकते हैं। कोई गाड़ीवान क्यों साफ-सुथरे राजमार्ग को छोड़कर, ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर चलेगा !

ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर अहंकार को तृप्ति मिलती है। राजमार्ग पर तो सभी चलते हैं, वहाँ अहंकार को कोई रस नहीं है। जब कोई उल्टे-सीधे मार्ग पर चलता है, तो उसके अहंकार को रस मिलता है।

एवरेस्ट पर चढ़ने में कौन सा रस मिलता होगा ? एवरेस्ट की चोटी पर खड़े होकर क्या उपलब्धि होती है ? जब तेनसिंह और हिलेरी पहली दफा एवरेस्ट पर खड़े हो गये होंगे, तो उन्होंने क्या पाया होगा ? एक बड़ी सूक्ष्म अहंकार की तृप्ति। जहाँ पर कोई भी नहीं पहुँच पाया, वहाँ पहुँचने वाले, वे पहले मनुष्य हैं। और तो कुछ भी एवरेस्ट पर मिलने को है नहीं। यात्रा के अन्त पर मिलता क्या है ? यात्रा के अन्त में मिलती है, अहंकार की तृप्ति।

जो आदमी ऊबड़-खाबड़ मार्ग चुनता है जीवन में, वह जान कर चुनता है। सीधे रास्ते पर तो सभी चलते हैं। राजमार्ग पर चलना भी कोई चलना है। जब आदमी ऐसे बीहड़ रास्ते पर चलता है, जहाँ चलना दुर्गम है; जहाँ एक-एक कदम उठाना मुश्किल है; जहाँ हर घड़ी कष्ट, हर घड़ी खतरा है, तो अहंकार को बड़ा रस आता है।

नीत्से ने कहा है; लिव डेंजरसली, खतरनाक ढंग से जियो। नीत्से कहता है कि जीवन में एक ही तृप्ती है; और वह तृप्ती है--पावर, शक्ती। लेकिन शक्ति का अनुभव तभी होता है, जब हम विपरीत से जूझते हैं। सरल के साथ ...क्ति का अनुभव नहीं होता। जहाँ कोई भी चल सकता है, वहाँ शक्ति का

कैसा अनुभव ? जहां बच्चे भी निरापद चल लेते हैं, जहाँ अन्धे भी चल लेते हैं; वहाँ शक्ति का क्या अनुभव ? शक्ति का अनुभव, तो वहाँ पर होता है, जहाँ कदम-कदम पर कठिनाई है; जहाँ पहुँच पाना असंभव है। इसलिए अहंकारी ऐसे रास्ते चुनता है, जो पहुँचने के लिए नहीं होते, सिर्फ अहंकार के संघर्ष के लिए होते हैं।

मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझकर उबड़-खाबड़ विषम रास्ते चुन लेता है; क्योंकि वहाँ उसके अहंकार को प्रतिष्ठा हो सकती है। तो मूर्खता का गहनतम सूत्र है, अहंकार। मूर्खता का सम्बन्ध ज्ञान से नहीं है, अज्ञान से नहीं है। मूर्खता का सम्बंध अहंकार से है; ईगो से है। जितना अहंकारी व्यक्ति होगा, उतना मूर्ख होगा।

मजा यह है कि आप अपने ज्ञान का उपयोग भी अपनी मूर्खता के लिए कर सकते हैं, क्योंकि आप अपने ज्ञान से भी अपने अहंकार को भर सकते हैं। अगर कोई व्यक्ति अपने ज्ञान से भी अपने अहंकार को ही भर रहा हो, तो यह प्रयास मूर्खता पूर्ण है।

अज्ञान में तो लोग भूल करते ही हैं; ज्ञान में भी लोग भूलें करते हैं और बड़ी से बड़ी भूल जो ज्ञान में हो सकती है, वह यह है कि हम अपने इस अहंकार को खड़ा करने के लिए गलत मार्ग चुन लेते हैं, जान-बूझ कर। आप को भी ख्याल होगा कि कई बार जीवन में विषम मार्ग चुनने में बड़ा सुख मिलता है। कठिन है जो, लम्बा है जो रास्ता, विघ्न जहाँ बहुत हैं, आपदाएँ जहाँ हैं, विपत्तियाँ जहाँ हैं, उसे चुनने में बड़ा रस आता है। रस क्या है ?

जीतने का रस है। जब रास्ते में कोई विपत्ति होती है, तब हम जीतते हैं। जब रास्ते में कोई विपत्ति नहीं होती, तो क्या खाक जीतना है ! इसलिए जो लोग इस भांति चलते हैं, उनके जीवन में हजार जटिलताएँ खड़ी हो जाती हैं। उनका सारा जीवन एक ही गणित को मानकर चलता है कि जहाँ विपत्ति हो, जहाँ बाधा हो, जहाँ अड़चन हो, जो असम्भव मालूम पड़े, उसे करने में उन्हें रस आता है।

इस जगत् में अधर्म से असम्भव कुछ भी नहीं है। अधर्म इस जगत् में सबसे असम्भव है। एवरेस्ट पर चढ़ा जा सकता है, चाँद पर उतरा जा सकता है, मंगल पर भी आदमी उतर ही जायेगा, लेकिन यह कुछ भी असम्भव नहीं है,

अधर्म सबसे असम्भव है। अधर्म का मतलब क्या? कल मैंने आप को कहा था कि धर्म का अर्थ है, स्वभाव। अधर्म का अर्थ है, स्वभाव के विपरीत। निश्चित ही, स्वभाव के विपरीत जाना सबसे असम्भव बात है। आदमी स्वभाव के विपरीत जा ही कैसे सकता है! स्वभाव का अर्थ ही है कि जिसके विपरीत आप न जा सकें। जैसे, आग ठंडी होना चाहे, तो यह स्वभाव के विपरीत हुआ। जैसे, पानी उपर चढ़ना चाहे, तो वह स्वभाव के विपरीत हुआ। ऐसे ही अधर्म का अर्थ है, जो स्वभाव के विपरीत है। वही टेढ़ा-मेढ़ा है।

धर्म तो बहुत सरल और सीधा है, लेकिन मजा यह है कि धर्म में भी हम तभी उत्सुक होते हैं, जब वह टेढ़ा-मेढ़ा हो। सीधे धर्म में हम जरा भी उत्सुक नहीं होते। कोई बताए कि इतने उपवास करो, ऐसे खड़े रहो रात भर, नंगे रहो, कि कोड़े मारो शरीर को, कि सुखाओ, जर-जर हड्डी-हड्डी हो जाओ, तब जरा रस आ आता है कि हाँ यह कोई बात हुई!

जब धर्म भी टेढ़ा-मेढ़ा हो, तब मूर्ख गाड़ीवान उत्सुक होता है; इसलिए ध्यान रखना धर्म की तरफ जो उत्सुकता दिखाई पड़ती है, उसमें निन्यानवे प्रतिशत मूर्ख गाड़ीवान होते हैं। जिसका कुल कारण यह होता है कि असम्भव करने जैसा दिखाई पड़ रहा है, तो उनको बड़ा रस आता है। अगर उनको कहो कि आराम से बैठ कर भी, छाया में भी धर्म उपलब्ध भी हो सकता है, तो उनको धर्म का सारा रस ही खो जाता है। आसान हुआ, तो रस खो गया। बुद्धिमान आदमी को आसान हो, तो रस बढ़ेगा, लेकिन अहंकारी आदमी को आसान हो, तो रस खो जायेगा।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

तपश्चर्या का अधिकतम रस टेढ़े-मेढ़ेपन के कारण है। जब आप अपने को सता रहे होते हैं, तब आप को लगता है कि हाँ कुछ कर रहे हैं। भूखे हैं, पानी नहीं पी रहे हैं। तब आपको लगता है, आप कुछ कर रहे हैं। क्यों? क्योंकि बड़ा दुर्गम है। बड़ा अस्वाभाविक है। भूख स्वाभाविक है। भूखा रह जाना अस्वाभाविक है। भूख सहज है। भूख के विपरीत लड़ना असहज है। लेकिन जितना असहज हो धारा के, विपरीत हो, उतना हमें लगता है कि हाँ, कुछ अहंकार को रस आ रहा है। इसलिए तपस्वियों से ज्यादा प्रखर अहंकार और कहीं खोजना मुश्किल है। झोपड़े में कोई रह रहा है, तो अहंकार बढ़ेगा। झाड़ के नीचे है, तो और बढ़ जायेगा। धूप में खड़ा है, तो और भी बढ़ जायेगा। अगर विश्राम करता ही नहीं, खड़ा ही रहता है तपस्वी, तो और बढ़ जायेगा।

यह सारी की सारी चेष्टा सिकन्दर और नेपोलियन की चेष्टा से भिन्न नहीं है, लेकिन हमें दिखती है भिन्न; क्योंकि हमारी समझ नहीं है। इस चेष्टा का एक ही अर्थ है; जो असम्भव है, वह हम करके दिखा रहे हैं। अगर आदमी सहज जी रहा हो, तो हमें ख्याल में भी नहीं आ सकता कि वह धार्मिक भी हो सकता है।

सहज आदमी हमारे ख्याल में नहीं आता कि धार्मिक भी हो सकता है। कबीर ने कहा है : साधो सहज समाधि भली। कारण है कहने का। सहज का अर्थ : यह जो महावीर कह रहे हैं, वह समझदार आदमी, जो सीधे-सादे, साफ-सुथरे राजमार्ग पर चलता है, इसलिए नहीं कि कहीं पहुँचना है; इसलिए नहीं कि कुछ जीतना है।

ये दोनों अलग दिशाएँ हैं। कहीं पहुँचना है, तो व्यर्थ श्रम लगाने की कोई आवश्यकता नहीं; तब बीच में बाधाएँ खड़ी करने की आवश्यकता नहीं। अगर कहीं पहुँचना नहीं है; सिर्फ अहंकार अर्जित करना है—यात्रा में, तो फिर बाधाएँ होनी चाहिए। तो आदमी अपने हाथ से भी बाधाएँ निर्मित करता है; पैदल जाता है तीर्थयात्रा को।

मुझसे तीर्थयात्री कहते हैं कि जो मजा पैदल जाकर तीर्थयात्रा करने का है, वह ट्रेन में बैठकर जाने में नहीं है। स्वभावतः कैसे हो सकता है? लेकिन जो और आगे बढ़ गये हैं, गाड़ी को टेढ़े-मेढ़े उतारने में, वे जमीन पर साष्टांग दण्डवत् करते हुए तीर्थयात्रा करते हैं। उनका वश चले तो शीर्षासन करते हुए भी वे तीर्थयात्रा करें; लेकिन तब उन्हें जो मजा आयेगा, निश्चित ही वह पैदल यात्रा करने वाले को नहीं मिल सकता। क्यों? वह मजा क्या है? वह तीर्थ पहुँचने का मजा नहीं है। वह अहंकार निर्मित करने का मजा है। जो कोई नहीं कर सकता, वह मैं कर रहा हूँ।

धर्म हो कि धन हो, कि यश हो, जो भी हम मार्ग तिरछे-तिरछे चुनते हैं—जानकर; महावीर कहते हैं : वह अधर्म है।

असल में अधर्म तिरछा ही होगा, सीधा नहीं होगा। कभी आपने ख्याल किया है? एक झूठ बोलें, तो बड़ी तिरछी यात्रा करनी पड़ती है। सीधा सच बिलकुल वैसा है, जैसे इक्युलिड की रेखा—दो बिन्दुओं के बीच सबसे कम दूरी। इक्युलिड की व्याख्या है : रेखा की दो बिन्दुओं के बीच सबसे कम दूरी। तो रेखा सीधी होती है। दो बिन्दुओं के बीच जितना लम्बा चक्कर लगाते

जायें, उतनी रेखा तिरछी होती चली जाती है। सत्य भी दो बिन्दुओं के बीच सबसे कम दूरी है।

असत्य बड़ी लम्बी यात्रा है। इसलिए एक असत्य···फिर दूसरा, फिर तीसरा। एक को सँभालने के लिए फिर लम्बी श्रृंखला है। सत्य को सम्भालने के लिए कोई श्रृंखला नहीं होती। एक सत्य अपने में काफी होता है। सत्य एटॉमिक है। एक अणु काफी है।

झूठ, श्रृंखला है; सीरीज है। एक झूठ काफी नहीं है। एक झूठ को दूसरे झूठ का सहारा चाहिए। दूसरे झूठों को और झूठों का सहारा चाहिए। झूठ हमेशा अधर में अटका रहता है, कितना ही सहारा देते जाओ, उसके पैर जमीन से नहीं लगते। क्योंकि हर झूठ जो सहारा देता है, वह खुद भी अधर में होता है। आप सिर्फ पोस्टपोन करते हैं पकड़ जाने को; बस। जब मैं एक झूठ बोलता हूं तो तत्काल मुझे दूसरा झूठ बोलना पड़ता है कि पकड़ा न जाऊँ। दूसरा बोलता हूँ तो तीसरा बोलना पड़ता है कि पकड़ा न जाऊँ। फिर यह भय कि पकड़ा न जाऊँ, तो मैं सत्य को स्थगित करता जाता हूँ। हर झूठ थोड़ी राहत देता है, फिर नये झूठ को जन्म देता है।

सत्य? सत्य, सीधा है।

यह बडी हैरानी की बात है कि सत्य को याद रखने की भी जरूरत नहीं है; सिर्फ झूठ को याद रखना पड़ता है। इसलिए जिनकी स्मृति कमजोर है, वे झूठ नहीं बोल सकते। झूठ बोलने के लिए स्मृति की कुशलता चाहिए। लम्बी याददास्त चाहिए। एक झूठ बोला है, उसकी पूरी श्रृंखला बनानी पड़ेगी। यह वर्षो तक चल सकती है। इसलिए झूठ बोलने वाले का मन बोझिल होता चला जाता है। सच बोलनेवाले का मन खाली होता है। कुछ रखना नहीं पड़ता। कुछ सम्भालना नहीं पड़ता।

धर्म भी एक सीधी यात्रा है। सरल यात्रा है। लेकिन धर्म में हमें रस नहीं, रस हमें टेढ़े-मेढ़ेपन में है; क्योंकि रस हमें अहंकार में है।

अभी स्पास्की और बाबी फिशर में शतरंज की होड़ थी। अगर स्पास्की पहले ही दिन कहते कि लो तुम जीत गये। इतनी सरल हो अगर जीत, तो जीत में कोई रस न रह जाये। जीत जितनी कठिन है, जितनी असंभव है, जितनी मुश्किल है, उतनी ही रसपूर्ण हो जाती है। और मजा यह है कि आदमी इसके लिए कैसे-कैसे उपाय करता है! शतरंज बड़ा मजेदार उपाय है।

आदमी एक नकली युद्ध करता है। नकली ! कुछ भी नहीं है वहाँ; न हाथी हैं, न घोड़े हैं, न कुछ है। नकली है सब, लेकिन रस असली है। रस वही है, जो असली हाथी-घोड़े से मिलता है। लेकिन वह मँहगा धन्धा था। पुराने लोग उस धन्धे को काफी कर चुके थे।

खेल, युद्ध का संक्षिप्त, अहिंसात्मक संस्करण है। उसमें भी हम लड़ते हैं—नकली साधनों से, लेकिन थोड़ी ही देर में नकली साधन भूल जाते हैं और असली हो जाते हैं। कोई घोड़ा, क्या होगा मैदान पर, जो शतरंज के बोर्ड पर पर होता है! आखिर क्यों ? इस नकली, लकड़ी के घोड़े में इतना रस क्यों ? यह असली कैसे हो जाता है ? जिस घोड़े पर भी अहंकार की सवारी हो जाये, वह असली हो जाता है। अहंकार चलता है, थोड़े थोड़े चलते हैं ! फिर जितनी कठिनाई हो, जितनी असम्भवता हो, और जितना सस्पेन्स हो, और जितना संदेह हो जिसमें, उतनी ही बात बढ़ती चली जाती है।

आदमी ने बहुत उपाय किये हैं, जिनसे वह जो सीधा संभव है, उसको भी वह बहुत लम्बी यात्रा करके सम्भव करता है। इसे महावीर कहते हैं : जान बूझ कर, साफ-सुथरे राजमार्ग को छोड़कर।

'मूर्ख गाड़ीवान पछताता है।' कब पछताता है मूर्ख गाड़ीवान ? जब धुरी टूट जाती है। जब गाड़ी उल्टे-सीधे रास्ते पर, पत्थरों पर, कंकड़ों पर, मरुस्थल में उलझ जाती है। गाड़ी की धुरी कहीं टूट जाती है। जब एक चाक बहुत ऊपर और एक चाक बहुत नीचे हो जाता है, तब धुरी टूटती है।

धुरी टूटने का मतलब है—जब दोनों चाक समान नहीं होते; असंतुलित हो जाते हैं, वहां दोनों को सम्भालने वाली धुरी टूट जाती है। तब पछताता है, तब दुखी होता है, लेकिन तब कुछ भी नहीं किया जा सकता। कुछ भी करना मुश्किल हो जाता है।

जीवन में हम भी धुरी को तोड़ कर ही पछताते हैं। जो पहले समझ लेता है, वह कुछ कर सकता है। जो तोड़ कर ही पछताने का आदी है, तो जीवन में ऐसी घटना नहीं है कि तोड़ कर पछताने का कोई उपाय हो। जो मृत्यु के बाद ही पछताते हैं, उनके लिए पीछे लौटने का कोई उपाय नहीं है। हम भी पछताते हैं, जब धुरी टूट जाती है। धुरी हमारी भी तब टूटती है, जब असंतुलन बड़ा हो जाता है। जब एक चाक बहुत ऊपर और एक चाक नीचे हो जाता है।

यह होगा ही तिरछे रास्तों पर।

'अधर्म को पकड़ लेता है और अन्त में मृत्यु के मुख में पहुँचने पर जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।'

अधर्म को हम पकड़ते ही इसलिए हैं कि अहंकार की वहाँ पर तृप्ति है और धर्म को इसलिए नहीं पकड़ते कि वहाँ पर अहंकार से छुटकारा है। धर्म की पहली शर्त है—अहंकार छोड़ो, वही अड़चन है। अधर्म का निमंत्रण है—आओ, अहंकार की तृप्ति होगी। वही चुनौती है, वही रस है। अधर्म के द्वार पर लिखा है—बढ़ाओ अहंकार को, बड़ा करो। धर्म के द्वार पर लिखा है—छोड़ दो बाहर अहंकार को, भीतर आ जाओ।

तो जिनको भी इस बात में रस है कि 'मैं कुछ हूं', उन्हें धर्म की तरफ जाने में बड़ी कठिनाई होगी। जो इस बात को समझने की तैयारी में हैं कि 'मैं ना-कुछ हूँ', उनके लिए धर्म का द्वार सदा ही खुला हुआ है। जिनको जरा भी ख्याल है कि 'मैं कुछ हूँ' वे अधर्म में खींच लिये जायेंगे—चाहे वे मन्दिर जायें, चाहे मस्जिद जायें, गुरुद्वारा जायें, कहीं भी जायें—जिनको ये रस है कि 'मैं कुछ हूँ'। जो मन्दिर में प्रार्थना करते वक्त भी देख रहे हैं कि कितने लोगों ने मुझे प्रार्थना करते देखा है। यह देख रहे हैं कि कितने लोग मुझे तपस्वी मानते हैं, उपासक मानते हैं; कितने लोग मुझे साधु मानते हैं! जो अभी भी अहंकार में रस ले रहे हैं, वे कहीं से भी यात्रा करें, उनकी यात्रा ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर, अधर्म के रास्ते पर हो जायेगी।

इसका मतलब यह हुआ कि जो आदमी स्वयं में कम उत्सुक है और स्वयं को दिखाने में ज्यादा उत्सुक है, वह अधर्म के रास्ते पर चला जाता है। जिस आदमी को इसमें कम रस है कि 'मैं क्या हूँ' और इसमें ज्यादा रस है कि लोग मेरे बारे में क्या सोचते हैं, वह अधर्म के रास्ते पर चला जाता है। जो लोगों की आँखों में एक प्रतिबिम्ब बनना चाहता है, एक इमेज, वह अधर्म के रास्ते पर चला जाता है।

धर्म के रास्ते पर तो केवल वे ही जा सकते हैं, जो स्वयं में उत्सुक हैं। स्वयं की वास्तविकता में, स्वयं के आवरण में, आभूषण में, स्वयं की साज-सज्जा, स्वयं के श्रृंगार। दूसरों की आँखों में बनी स्वयं की प्रतिमा में जिनकी उत्सुकता नहीं है, केवल वे ही धर्म के रास्ते पर जा सकते हैं। क्योंकि दूसरे तो तभी आदर देते हैं जब आप कुछ असम्भव करके दिखायें। दूसरे तो तभी

आपको मानते हैं जब आप कोई चमत्कार करके दिखायें। दूसरे तो आपको तभी मानते हैं, जब आप कुछ ऐसा करें, जो वे नहीं कर सकते—तब।

जब आप किसी को आदर देते हैं, तो आपने कभी ख्याल किया है, आपके आदर देने का कारण क्या होता है?

सदा कारण यही होता है कि जो आप नहीं कर सकते, वह यह आदमी कर रहा है। अगर आप भी कर सकते हैं; तो आप आदर न दे सकेंगे।

आप जाते हैं—कोई सत्य साईं-बाबा एक ताबीज हाथ से निकाल कर दे देते हैं, तो आप आदर करते हैं। एक मदारी आदर न कर सकेगा। ताबीज तो कुछ भी नहीं, वह कबूतर निकाल देता है। वह जानता है कि इसमें आदर जैसा कुछ भी नहीं, यह साधारण मदारीगिरी है। वह आदर न कर सकेगा। आप आदर दे सकेंगे; क्योंकि आप नहीं कर सकते। जो आप नहीं कर सकते, वह चमत्कार है। फिर यह ताबीजों से ही सम्बन्धित होता, तो बहुत हर्जा न था; क्योंकि ताबीजों में बच्चों के सिवा और कोई उत्सुक नहीं होता, न कबूतरों में कोई बच्चों के सिवा उत्सुक होता है, लेकिन यह और तरह से भी सम्बन्धित हैं।

आप एक दिन भूखे नहीं रह सकते। और एक आदमी तीस दिन का उपवास कर लेता है, तो आपका सिर उसके चरणों में लग जाता है—यह भी वही है, इसमें भी कुछ मामला नहीं है। आप ब्रह्मचर्य नहीं साध सकते और एक आदमी बाल-ब्रह्मचारी रह जाता है, तो आपका सिर उसके चरणों में लग जाता है—यह भी वही है, कोई फर्क नहीं है।

कारण सदा एक ही है भीतर हर चीज के कि जो आप नहीं कर सकते। इसका यह मतलब हुआ कि अगर आपको भी अहंकार की तृप्ति करनी हो, तो आपको कुछ ऐसा करना पड़े जो लोग नहीं कर सकते या कम से कम दिखाना पड़े कि आप कर सकते हैं, जो लोग नहीं कर सकते।

तो जो व्यक्ति अहंकार में उत्सुक है, वह सदा तिरछे रास्तों में उत्सुक होगा। ताबीज पेटी से निकाल कर आपको हाथ में दे देना बिल्कुल सीधा काम है, लेकिन पहले ताबीज को छिपाना और फिर इस तरकीब से निकालना कि दिखाई न पड़े कि कहाँ से निकल रहा है, तिरछा काम है। तिरछा है, इसलिए तो आकर्षक है। आपको भी पता चल जाये कि ताबीज कैसे पेटी से कपड़े की बांह के भीतर गया! फिर बाँह से कैसे हाथ तक आया! एक दफा आप को पता चल जाये, तो चमत्कार तिरोहित हो जाये। फिर दुबारा आप को इसमें कोई श्रद्धा न मालूम होगी।

आपको पता चल जाये कि भूखा रहने की तरकीब क्या है? तो फिर उपवास में भी आप की श्रद्धा न रह जायेगी। आपको पता चल जाये कि ब्रह्मचारी रहने की तरकीव क्या है? फिर आपको उसमें भी रस न रह जायेगा।

यह बड़े मजे की बात है कि किसी आदमी की अपने में श्रद्धा नहीं है। जो भी आप कर सकते हैं, उसमें आपकी कभी श्रद्धा नहीं होगी। जो दूसरा कर सकता है और आप नहीं कर सकते हैं, तो श्रद्धा होती है। जो भी आदमी अहंकार खोज रहा है; अहंकार का मतलब—दूसरों की श्रद्धा खोज रहा है, सम्मान खोज रहा है, वह आदमी तिरछे रास्ते चुन लेगा।

मूर्ख गाड़ीवान ऐसे ही मूर्ख नहीं है। बहुत समझदारी से मूर्ख है। उस मूर्खता में एक विधि है।

महावीर कहते हैं—जीवन के रास्ते पर भी यही होता है। मनुष्य जान-बूझकर धर्म के रास्ते को छोड़ कर, अधर्म को चुन लेता है।

आपको साफ-साफ पता है कि यह सरल और सीधा रास्ता है, लेकिन उसमें अहंकार की तृप्ति नहीं होती, तो आप तिरछा रास्ता चुन लेते हैं। यह जान-बूझकर चुनते हैं; इसको समझ लेना जरूरी है, क्योंकि अगर आप बिना जाने-बूझे चुनते हैं, तो फिर बदलने का कोई उपाय ही नहीं, लेकिन महावीर का जोर है कि आप जान-बूझ कर चुनते हैं। अगर आप बिना जाने-बूझे चुनते हैं, तब तो फिर बदलने का कोई उपाय ही नहीं। अगर जान-बूझ कर चुनते हैं, तो बदलाहट हो सकती है।

बदलाहट का अर्थ ही यह है कि आप ही मालिक हैं चुनाव के। आपने ही चाहा था। इसलिए तिरछे-रास्ते पर गये थे। आप चाहेंगे तो, सीधे रास्ते पर आ सकते हैं। यह आपकी चाह ही है, जो आपको भटकाती है। इसमें कोई दूसरा पीछे से काम नहीं कर रहा है। धर्म और अधर्म के बीच यही विकल्प है।

फ्रायड कहता है—आदमी जान-बूझ कर कुछ भी नहीं करता—सब अनकांशस होता है, सब अचेतन होता है—जान कर आदमी कुछ भी नहीं करता। फ्रायड ने यह बात पिछले पचास-सालों में जोर से पश्चिम के सामने सिद्ध कर दी।

वह आदमी अद्भुत था। उसकी खोज में कई सत्य थे लेकिन अधूरे सत्य थे और अधूरे सत्य असत्यों से भी खतरनाक सिद्ध होते हैं; क्योंकि अधूरा सत्य, सत्य भी मालूम पड़ता है और सत्य होता भी नहीं; और कोई भी

आदमी अधूरे सत्य को नहीं पकड़ता, जब अधूरे सत्य को पकड़ता है, तो पूरा सत्य मान कर पकड़ता है, तब उपद्रव शुरू हो जाता है।

फ्रायड ने पश्चिम को समझा दिया कि आदमी जो भी कर रहा है, वह सब अचेतन है। अगर यह बात सच है, तो फिर आदमी के हाथ में परिवर्तन का कोई भी उपाय नहीं रहा। इसलिए शराबी ने सोचा कि अब मैं कर भी क्या सकता हूँ! व्यभिचारी ने सोचा कि अब उपाय भी क्या है! यह सब अचेतन है, यह सब हो रहा है, तो मैं कुछ भी नहीं कर सकता।

इस सदी ने बिना जाने जगत् के इतिहास का सबसे बड़ा भाग्यवाद जन्माया। भाग्यवादी कहते थे, परमात्मा कह रहा है, फ्रायड कहता है, अचेतन कर रहा है, लेकिन एक बात में दोनों राजी हैं कि हम नहीं कर रहे हैं। हमारे हाथ में नहीं है। परमात्मा कर रहा है। विधि ने लिख दिया खोपड़ी पर और वह हो रहा है। पीछे से अचेतन चल रहा है और हम चल रहे हैं। जैसे कोई गुड़ियों को नचा रहा है। हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है। पहले परमात्मा नचाता था गुड़ियों को; अब अनकांसस, अचेतन नचा रहा है। शब्द बदल गये हैं।

महावीर परमात्मा के भी खिलाफ हैं और अचेतन के भी। महावीर कहते हैं कि तुम जो भी कर रहे हो, ठीक से जानना कि तुम ही कर रहे हो। आदमी को इतना ज्यादा उत्तरदायी किसी दूसरे ने कभी नहीं माना, जितना महावीर ने माना। महावीर ने कहा कि अंततः तुम ही निर्णायक हो, इसलिए कभी भूल कर मत कहना कि भाग्य ने, विधि ने, परमात्मा ने, किसी ने करवा दिया। जो तुमने किया है, तुमने किया है। इसमें जोर देने का कारण है और वह कारण यह है कि जितना यह स्पष्ट होगा कि मैं कर रहा हूँ, उतनी ही बदलाहट आसान है; क्योंकि अगर मैं अपने चुनाव के उल्टे रास्ते पर नहीं गया हूँ, भेजा गया हूँ, तो जब मैं सीधे रास्ते पर भेजा जाऊँगा, तो चला जाऊँगा। जब मैं भेजा गया हूँ, उल्टे रास्ते पर तो मैं कैसे लौट सकता हूँ? जब भेजेगी प्रकृति, भेजेगी नियति, भेजेगा परमात्मा, तो मैं लौट जाऊँगा। न मैं गया और न मैं लौट सकता हूँ। मैं पानी में बहता हुआ एक तिनका हूँ। मेरी अपनी कोई गति नहीं, मेरा अपना कोई संकल्प नहीं।

कोई क्रांति सम्भव नहीं है। इसलिए महावीर ने बड़े साहस से ईश्वर को बिलकुल इन्कार ही कर दिया; क्योंकि ईश्वर के रहते महावीर को लगा कि आदमी को सदा एक सहारा होता है 'कि उसकी बिना आज्ञा के तो पत्ता भी नहीं हिलता, तो हम कैसे हिलेंगे ?' वह पत्ता तो बहाना है। असली में हम हिलना नहीं चाहते, तो हम कहते हैं कि 'उसकी आज्ञा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता।' अब हम व्यभिचारी हैं, अब हम कैसे व्यभिचार से हिल जायें ? जब वह हिलायेगा—'उसकी मर्जी।'

आदमी बेईमान है। अपने परमात्माओं के साथ भी आदमी बड़ा कुशल है और परमात्मा कुछ कर नहीं सकता। आदमी को जो उससे बुलवाना है, बुलवाता है। जो उससे करवाना है, करवाता है। मजा यह है कि परमात्मा की आज्ञा के बिना परमात्मा हिलता है या नहीं हिलता, ये तो पता नहीं, पर आपकी बिना आज्ञा के परमात्मा नहीं हिल सकता, यह पक्का है। वह आप ही उसे हिलाते रहते हैं—'जैसी मर्जी'—आप ही अन्ततः निर्णायक हैं।

इसलिए महावीर कहते हैं—'जान-बूझकर।' लेकिन कितना ही जान-बूझकर गलत रास्ते पर जायें; रास्ता तो गलत होगा ही और गलत रास्ते पर धुरी टूटेगी ही। रास्ते का गलत होने का मतलब ही इतना है कि जहाँ धुरी टूट सकती है। और तो कोई मतलब नहीं हो सकता। इसलिए अधर्म में गया आदमी रोज टूटता चला जाता है। निर्मित नहीं होता, बिखरता है।

चोरी करके देखें। झूठ बोलकर देखें। बेईमानी करके देखें। धोखा करके देखें। किसी की हत्या करें। होगा क्या ? आपकी आत्मा की धुरी टूटती चली जायेगी। आप भीतर टूटने लगते हैं। भीतर इन्टिग्रेशन, अखण्डता नहीं रह जाती। खण्ड-खण्ड हो जाता है। कभी कुछ, जिसको धर्म कहा है, वह करके देखें तो भीतर अखण्डता आती है।

इसको ऐसा सोचें कि जब आप झूठ बोलते हैं, तो आपके भीतर टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, एक आत्मा नहीं होती। एक हिस्सा तो भीतर कहता ही रहता है कि मत करो, गलत है। एक हिस्सा तो जानता रहता है कि ये सच नहीं है। आप सारी दुनिया को झूठ बोल सकते हैं, लेकिन अपने से कैसे बोलियेगा ? भीतर तो पता चलता ही रहता है कि यह झूठ है। इसलिए सतह पर भर आप झूठ के लेबल चिपका सकते हैं; आपकी अन्तरात्मा तो जानती है कि यह झूठ है। इसलिए आप अखण्ड नहीं हो सकते।

आपकी परिधि और केन्द्र में विरोध बना रहेगा। भीतर कोई कहता ही रहेगा कि यह झूठ है। यह ठीक नहीं है। यह नहीं बोलना था। जो बोला था वह ठीक नहीं था। यह भीतर-भीतर खण्ड कर जायेगा।

जो आदमी हजार झूठ बोल रहा है, उसके भीतर हजार खण्ड हो जाते हैं। जो आदमी सच बोल रहा है, उसके भीतर कोई खण्ड नहीं होता। सच के विपरीत कोई कारण नहीं होता और अगर कभी विपरीत हो भी जाये जैसे सच बोलते समय परिधि कभी कहती है कि मत बोलो, नुकसान होगा, लेकिन तब भी भीतर से सच आता है।

सच आता है भीतर से और झूठ आता बाहर से, लेकिन भीतर हमेशा मजबूत होता है इसलिए परिधि ज्यादा देर टिक नहीं पाती, टूट जाती है। लेकिन जब आप झूठ बोलते हैं परिधि की मान कर, तो कभी भी कितना ही बोलते चले जायें टिक नहीं सकता, रोज सँभालें फिर भी नहीं सँभलता; क्योंकि भीतर गहरे में आप जानते हैं कि यह झूठ है।

आप जानते हैं क्या, हम सब अपनी 'इन्टिमेसीज' रखते हैं, आन्तरिकताएँ रखते हैं? जहाँ हम सब बता देते हैं। बता देने से मन हल्का हो जाता है। नहीं बता पाते दुनिया को कोई फिक्र नहीं, लेकिन अपनी पत्नी को तो बता देते हैं, इससे राहत मिलती है। वह जो सच है भीतर, धक्के देता है कि प्रकट करो। नहीं है हिम्मत कि सारी दुनिया को प्रकट कर दें, तो किसी को तो बता पाते हैं।

इस दुनिया में उस आदमी से अकेला कोई भी नहीं, जिसके कोई भी इतना निकट नहीं हो कि जिससे वह कम से कम बता सके कि जो-जो मैं गलत कर रहा हूँ, वह यह है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि प्रेम का लक्षण ही यह है कि जिसके सामने तुम पूरे सच्चे प्रकट हो जाओ। अगर एक ही आदमी ऐसा नहीं जगत् में, जिसके सामने आप पूरा नग्न हो सकें अंतःकरण से, तो आप समझना आप को प्रेम का कोई अनुभव नहीं हुआ। जो आदमी सारे जगत् के सामने अंतः-करण से नग्न हो सकता है, उसको प्रार्थना का अनुभव होता है। एक व्यक्ति के सामने आप पूरे सच हो जाते हैं, तो क्षण भर को राहत मिलती है और जो सुगन्ध आती है, जो ताजी हवाएँ दौड़ जाती हैं प्राणों की ओर, वह भी काफी है। लेकिन जब कोई व्यक्ति समस्त जगत् के सामने सच हो जाता है,

जैसा है वैसा ही हो जाता है, तब उसके जीवन में दुर्गन्ध का कोई उपाय ही नहीं रहता।

महावीर स्वभाव की सत्यता को धर्म कहते हैं—जैसा है भीतर, वैसा ही। कोई टेढ़ा-मेढ़ा नहीं। ठीक वैसा ही नग्न, जैसे दर्पण के सामने कोई खड़ा हो। ऐसा—जो सहज है भीतर, वह जगत् के सामने प्रकट हो जाये। इस अभिव्यक्ति का, सहज अभिव्यक्ति का जो अंतिम फल है, वह है—'मृत्यु' मोक्ष बन जाती है। और हमारे समस्त झूठों के संग्रह का जो अंतिम फल है, वह है—'पूरा जीवन' एक असत्य, अप्रमाणिक, इनऑथेन्टिक यात्रा हो जाती है। चलते बहुत हैं, पहुँचते कहीं भी नहीं। दौड़ते बहुत हैं, मंजिल हाथ नहीं आती। सिर्फ मरते हैं। जीवन कहीं पहुँचाता नहीं, सिर्फ भटकाता है। जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं लौटते। जो मनुष्य अधर्म करता है, उसके वे रात-दिन बिलकुल निष्फल हो जाते हैं; लेकिन जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात-दिन सफल हो जाते हैं।

महावीर के लिए सफलता का क्या अर्थ है ?—बैंक-बैलेन्स ? कि कितने लोग आपको जानते हैं ? कि कितने अखबार आपकी तस्वीर छापते हैं ? कि कितने नोबल प्राइज आपको मिल जाते हैं ! नहीं, महावीर इसको सफलता नहीं कहते। थोड़ा सा उनकी जिन्दगी देखें, जिनको नोबल प्राइज मिलते हैं, उनमें से अधिक आत्म-हत्या कर लेते हैं। जो आत्म-हत्या नहीं करते, वे मरे-मरे जीते हैं।

अर्नेस्ट हेमिंग्वे का नाम सुना होगा। कौन उतनी सफलता पाता है ! नोबल प्राइज है, धन है, प्रतिष्ठा है, सारे जगत् में नाम है, उससे बड़ा कोई लेखक नहीं था—उसके समय में, लेकिन अर्नेस्ट हेमिंग्वे अंत में आत्म-हत्या कर लेता है। बड़ी अद्भुत सफलता है ! बाहर इतनी सफलता है और भीतर इतनी पीड़ा है कि आत्म-हत्या कर लेनी पड़ती है। अपने को सहना मुश्किल हो जाता है। तभी तो कोई आत्म-हत्या करता है, जब अपने को बरदास्त करना आसान नहीं रह जाता। जब एक-एक पल, एक-एक घड़ी आदमी को भारी पड़ने लगती है, तो वह अपने को मिटाता है।

तो जिनकी इतनी सफलता है चारों तरफ—इतना यश, इतना गौरव वह भी भीतर इतनी दिक्कत में पड़ा है। भीतर की धुरी टूट गयी है। सारी दुनिया तारीफ कर रही है चक्कों की। धुरी तो दुनिया को दिखायी नहीं पड़ती। वह तो भीतर है। स्वयं को दिखायी पड़ती है। सारी दुनिया चाँदी के, सोने के वर्क़

लगा रही है चाकों पर। और सारी दुनिया कह रही है, क्या अद्भुत चाकें हैं ? कितनी-कितनी ऊबड़-खाबड़ यात्रायें की। और धुरी ही टूट गयी, वह तो गाड़ी ही जानती है। अब क्या होना है ? इन चक्कों पर लगे सितारे काम नहीं पड़ेंगे। अन्त में तो धुरी काम पड़ेगी।

समय तो बीत जाता है। उस समय में हम दो काम कर सकते हैं—या तो समय में हम अपनी आत्मा को इकट्ठा कर सकते हैं या उस समय में हम अपनी आत्मा को बिखेर सकते हैं; तोड़ सकते हैं; टुकड़े-टुकड़े कर सकते हैं। समय तो बीत जाता है फिर लौट कर नहीं आता, लेकिन उस समय में हमने जो किया है, वह हमारे साथ रह जाता है। वह कभी नहीं खोता।

इस बात को ठीक से समझ लें।

समय तो कभी नहीं लौटता, लेकिन समय में जो घटता है, वह कभी नहीं जाता, वह साथ रह जाता है। तो मैंने जो किया है समय में, उससे मेरी आत्मा निर्मित होती है। महावीर ने आत्मा को 'समय' का नाम ही दे दिया। महावीर ने तो कहा है—'आत्मा' यानि 'समय'। ऐसा दुनिया में किसी ने नहीं कहा है। महावीर ने कहा है कि समय तो दुनिया में खो जायेगा, लेकिन समय के भीतर तुमने क्या किया है, वही तुम्हारी आत्मा बन जायेगी, वही तुम्हारा सृजन है।

हम समय के साथ विध्वंसक हो सकते हैं, सृजनात्मक हो सकते हैं। विध्वंसक का अर्थ है कि हम जो भी कर रहे हैं उससे हमारी आत्मा निर्मित नहीं हो रही है। झूठ बोलने से आदमी की आत्मा निर्मित नहीं होती। चोरी करने से आदमी की आत्मा निर्मित नहीं होती। धन मिल सकता है झूठ बोलने से। यश मिल सकता है। सच तो यह है कि बिना झूठ बोले यश पाना बड़ा मुश्किल है। बिना चोरी किये धन पाना बहुत मुश्किल है। जब धन मिलता है, तो निन्यानवे प्रतिशत चोरी के कारण मिलता है, एक प्रतिशत शायद बिना चोरी के मिलता हो। जब प्रतिष्ठा मिलती है, तो निन्यानवे प्रतिशत झूठे प्रचार से मिलती है, एक प्रतिशत शायद बिना झूठ के मिलती हो। उसका कोई निश्चय नहीं है।

एक बात सच है कि अधर्म से जो मिलता है, उससे आपकी आत्मा निर्मित नहीं होती। अधर्म से जो भी मिलता है, वह आत्मा की कीमत पर मिलता है। बाहर कुछ मिलता है, तो भीतर कुछ खोना पड़ता है। हम हमेशा मूल्य चुकाते हैं।

जब आप झूठ बोलते हैं, तो ··· इसलिए नहीं कहता कि झूठ मत बोलें, किसी दूसरे को नुकसान होगा। दूसरे को नुकसान होगा या नहीं होगा, यह पक्का नहीं है। आपको निश्चित हो रहा है, यह पक्का है। दूसरा अगर समझदार हुआ, तो आपके झूठ से नुकसान नहीं होनेवाला है और अगर दूसरा नासमझ है, तो आपके सत्य से भी नुकसान हो सकता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण आप हैं अन्ततः। जब आप कुछ भी गलत कर रहे हैं, तो आप भीतर आत्मा के मूल्य में चुका रहे हैं। व्यर्थ का कंकड़ इकट्ठा कर रहे हैं और भीतर आत्मा को खो रहे हैं। महावीर इसको असफलता कहते हैं। एक आदमी जीवन में सब कुछ इकट्ठा कर ले और आखिर में पाये कि खुद की धुरी टूट गयी, सब पा ले और आखिर में पाये कि खुद को खो कर पाया, तब मृत्यु के क्षण में भी पछतावा होता है, लेकिन तब समय वापस नहीं आ सकता।

पुनर्जन्म की सारी भारतीय धारणायें इसीलिए हैं कि गया समय वापस नहीं आ सकता। नया समय आपको दुबारा मिलेगा। पुराने समय को लौटने का कोई भी उपाय नहीं। एक नया जन्म मिलेगा। फिर से नया समय मिलेगा लेकिन जिन्होंने पुराने समय में मजबूत आदतें निर्मित कर ली हैं, संस्कार भारी कर लिये हैं, वे नये समय का भी फिर वैसा ही उपयोग करेंगे।

थोड़ा सोचें, अगर कोई आपसे कहे कि आपको हम फिर से जन्म दे देते हैं, तो आपका क्या करने का इरादा है ?—तो आप क्या करेंगे ? सोचें थोड़ा, तो आप पायेंगे कि जो आपने किया है, वही फिर करेंगे—थोड़ा-बहुत मोडीफाइड, थोड़ा-बहुत इधर-उधर, थोड़ा-बहुत हेर-फेर, पत्नी थोड़ी और अच्छी नाक वाली चुन लेंगे, ये मकान थोड़ा और नये डिजाइन का बना लेंगे।

मरते हुए मुल्ला नसरुद्दीन से किसी ने पूछा था कि फिर जन्म मिले, तो क्या करोगे ? तो उसने कहा, जो पाप मैंने बहुत देर से शुरू किये हैं, वह मैं जल्दी शुरू कर दूँगा; क्योंकि जो पाप मैंने किये हैं, उनके लिए मुझे कोई पछतावा नहीं होता, जो पाप मैं नहीं कर पाया हूँ, उनका मुझे हमेशा पछतावा रहता है।

आप भी ख्याल करना कि पाप का पछतावा बहुत कम लोगों को होता है। जो पाप आप नहीं कर पाये, उनका पछतावा सदा बना रहता है। और करके पछताना उतना बुरा नहीं होता जितना न करके पछताना।

कभी आपने ख्याल किया है कि जो-जो आप नहीं कर पाये हैं—जो चोरी नहीं कर पाये, उसके लिए भी पछतावा—जो झूठ नहीं बोल पाये उसके लिए भी पछतावा। बेईमानी अधिक कर लेते हैं—कहीं के गवर्नर (राज्यपाल) होते या कहीं के चीफ मिनिस्टर (मुख्य मन्त्री) होते, लेकिन नहीं हो पाये। नाहक जेल गये और आये। जरा-सी तरकीब लगा लेते, तो···मन पीड़ा झेलता चला जाता है।

अगर आपको नया समय मिले, तो आप पुनरुक्ति ही करेंगे; क्योंकि आपको मूल ख्याल में नहीं है कि आपने जो किया, वह क्यों किया? वह, अहंकार के कारण आपने गलत रास्ता चुना। अगर अहंकार मौजूद है, तो आप फिर गलत रास्ता चुन लेंगे।

अहंकार प्रवृत्ति है—गलत रास्ते चुनने की। अगर अहंकार खो जाये तो आप समय का उपयोग कर सकते हैं। इसलिए महावीर ने अन्तिम सूत्र में यह बात कही कि जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, जब तक व्याधियाँ नहीं सताती, जब तक इन्द्रियाँ अशक्त नहीं होती तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिये। बाद में कुछ भी नहीं होगा।

यहाँ हिन्दू और जैन विचार में एक बहुत ही मौलिक भेद है। हिन्दू विचार सदा से मानता रहा है कि संन्यास, धर्म, ध्यान, योग सब बुढ़ापे के लिए हैं। अगर महावीर ने इस विचार में कोई बड़ी से बड़ी क्रान्ति पैदा की है, तो वह इस सूत्र में है कि यह बुढ़ापे के लिए नहीं है।

बड़े मजे की बात है कि अधर्म जवानी के लिए और धर्म बुढ़ापे के लिए। भोग जवानी के लिए और योग बुढ़ापे के लिए। क्यों? क्या योग के लिए किसी शक्ति की जरूरत नहीं है? जब भोग तक के लिए शक्ति की जरूरत है, तो क्या योग के लिए शक्ति की जरूरत नहीं होगी? लेकिन उसका कारण है। और वह कारण यह है कि हम भली भाँति जानते हैं कि भोग तो बुढ़ापे में किया नहीं जा सकता, योग?···देखेंगे! हो गया तो ठीक, न हुआ तो क्या हर्ज है। भोग छोड़ा नहीं जा सकता, योग छोड़ा जा सकता है। तो भोग तो अभी कर लें, योग को स्थगित रखें। जब भोग करने योग्य नहीं रह जायेंगे तब योग कर लेंगे।

लेकिन ध्यान रखना कि वही शक्ति भोग करती है, वही शक्ति योग करती है। दूसरी कोई शक्ति आप के पास है नहीं। आदमी के पास शक्ति तो एक ही

है, उसी से वह भोग करता है और उसी से वह योग करता है। इसलिए महावीर की दृष्टि बड़ी वैज्ञानिक है।

महावीर कहते हैं जिस शक्ति से भोग किया जाता है, उसी से तो योग किया जाता है। वह जो वीर्य, वह जो ऊर्जा, सम्भोग बनती है, वही वीर्य, वही ऊर्जा तो समाधि बनती है। जो मन भोग का चिन्तन करता है, वही मन तो ध्यान करता है। जो शक्ति क्रोध में निकलती है, वही शक्ति क्षमा में खिलती है। उसमें फर्क नहीं है। शक्ति वही है। शक्ति हमेशा तटस्थ है, नेचरल है। आप क्या करते हैं, इस पर निर्भर करता है।

एक आदमी अगर ऐसा कहे कि धन मेरे पास है, इसका उपयोग मैं भोग के लिए करूँगा और जब धन पास नहीं होगा, तब जो बचेगा उसका उपयोग दान के लिए करूँगा, तो··· ।

मुल्ला नसरुद्दीन मरा तो उसने अपनी वसीयत की। वसीयत में उसने लिखवाया अपने वकील को कि मेरी आधी सम्पत्ति मेरी पत्नी के लिए नियमानुसार और शेष आधी सम्पत्ति मेरे पाँच पुत्रों में बांट दी जाये। और बाद में जो कुछ बचे, वह गरीबों में दान कर दी जाये। वकील ने पूछा कि कुल सम्पत्ति है कितनी? मुल्ला ने कहा : यह तो कानूनी बात है। सम्पत्ति तो बिलकुल नहीं है। सम्पत्ति तो मैं खतम कर चुका हूँ, लेकिन वसीयत रहे, तो मन को कुछ शान्ति रहती है। कि कुछ करके आया, कुछ छोड़ कर आया।

करीब-करीब जीवन ऊर्जा के साथ हमारा भी यही व्यवहार है।

महावीर कहते हैं—भोग के जब क्षण हैं, तभी योग के भी क्षण हैं। भोग जब पकड़ रहा है, तभी योग भी पकड़ सकते हैं। महावीर कहते हैं—जब बुढ़ापा सताने लगे, जब व्याधियाँ बढ़ जायें, इन्द्रियाँ जब अशक्त हो जायें, तब धर्म का आचरण नहीं हो सकता। तब धर्म सिर्फ एक आशा हो जाता है, आचरण नहीं।

आचरण शक्ति मांगता है। इसलिए जिस विचार-धारा में, बुढ़ापे को धर्म के आचरण की बात मान ली जाये, उस विचार-धारा में, बुढ़ापे में सिवाय भगवान् से प्रार्थना करने के फिर कुछ और उपाय बचता नहीं। इसलिए लोग फिर राम-नाम लेते हैं। और तो कुछ कर नहीं सकते। कुछ और हो नहीं सकता। जब हो सकता था, तब सारी शक्ति गँवा दी। जिससे हो सकता था, वह सारा समय खो दिया। जब शक्ति प्रवाह में थी और ऊर्जा जब शिखर पर

थी; तब हम कूड़ा-कचरा बीनते रहे और जब पास की सारी शक्ति खो गयी, तब हम आकाश के तारे छूने की सोचते हैं। तब हम सिर्फ आंखें बन्द करके राम-नाम ले सकते हैं।

राम-नाम अधिकतर धोखा है। धोखे का मतलब—राम-नाम में धोखा है, ऐसा नहीं। राम-नाम लेने वाले में धोखा है। धोखा इसलिए है कि अब कुछ नहीं कर सकते। अब तो राम-नाम ही सहारा है। साधु संन्यासी भी यही समझाते रहते हैं कि 'यह कलयुग' है। अब कुछ कर तो सकते नहीं। अब तो बस 'राम-नाम ही सहारा है।' लेकिन यह मतलब ? मतलब यही होता है : जैसे आम-तौर से होता है कि किसी बात को आप नहीं जानते, तो आप कहते हैं—'भगवान् ही जानता है।'—इसका मतलब कोई नहीं जानता—'राम-नाम ही सहारा है।' इसका ठीक मतलब—'अब कोई सहारा नहीं।'

महावीर कहते हैं कि इसके पहले कि शक्तियाँ खो जायें, उन्हें रूपान्तरित कर लेना। और बड़े मजे की बात है कि जो उन्हें रूपान्तरित कर लेता है खोने के पहले, उसे बुढ़ापा कभी नहीं सताता। क्योंकि बुढ़ापा वस्तुत: शारिरिक घटना कम और मानसिक घटना ज्यादा है। महावीर भी शरीर से तो बूढ़े हो जाते हैं, लेकिन मन से उनकी जवानी कभी नहीं खोती।

इसलिए हमने महावीर का कोई चित्र बुढ़ापे का नहीं बनाया। न कोई मूर्ति बुढ़ापे की बनाई है; क्योंकि वह बनाना गलत है। महावीर बूढ़े हुए होंगे। और उनके शरीर पर झुर्रियाँ पड़ी होंगी; क्योंकि शरीर किसी को क्षमा नहीं करता।

शरीर के नियम हैं। शरीर महावीर की भी फिकर नहीं करता, किसी की भी फिकर नहीं करता। उनकी आँखें भी कमजोर हो गई होंगी। उनके पैर भी डगमगाने लगे होंगे। शायद उन्हें भी लकड़ी का सहारा लेना पड़ा हो लेकिन हमने उनकी बुढ़ापे की कोई मूर्ति नहीं बनाई; क्योंकि वह असत्य है। तथ्य तो हो सकती है, फैक्ट तो हो सकती है, लेकिन वह असत्य होगी। महावीर के बाबत सच्ची खबर उसमें नहीं मिलेगी। वह भीतर से सदा जवान बने रहे; क्योंकि बुढ़ापा वासनाओं में खोई गयी शक्तियों का भीतरी परिणाम है।

बाहर तो शरीर पर बुढ़ापा आयेगा ही। वह समय की धारा में अपने-आप घटित हो जायेगा, लेकिन भीतर जब शरीर की शक्तियां वासना में गँवाई जाती हैं, अधर्म में, टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर, धुरी जब टूट जाती है, तब भीतर भी एक बुढ़ापा आता है।

वासना में बिताये हुए आदमी का जीवन बुढ़ापे में सबसे ज्यादा दुखद हो जाता है और कुरूप हो जाता है; क्योंकि धुरी टूट चुकी होती है और हाथ में सिवाय राख के कुछ भी नहीं होता। सिर्फ पापों की थोड़ी सी स्मृतियाँ होती हैं और वह भी सालती हैं। समय व्यर्थ गया, इसकी भी पीड़ा कचोटती है।

इसलिए बुढ़ापा हमें सबसे ज्यादा कुरूप मालूम पड़ता है। होना नहीं चाहिये; क्योंकि बुढ़ापा तो शिखर है जीवन का--आखिरी। सर्वाधिक सुन्दर होना चाहिए उसे। इसलिए जब कभी बूढ़ा आदमी गलत रास्ते पर न चलकर, जिन्दगी में सीधे-सरल रास्तों पर चला होता है, तो बुढ़ापा बच्चों जैसा निर्दोष, पुनः हो जाता है।

बच्चे इतने निर्दोष नहीं हो सकते (क्योंकि वे अज्ञानी होते हैं)। बुढ़ापा निर्दोष हो सकता है। क्योंकि बुढ़ापा एक अनुभव से निखरता और गुजरता है। सफेद बालों के सिर पर छा जाने के साथ ही भीतर जीवन में भी उतनी शुभ्रता आती चली गई हो, तो उस सौन्दर्य की कोई उपमा नहीं है।

बूढ़ा होने पर अगर आदमी सुन्दर न हो, तो जानना कि जीवन व्यर्थ गया। बुढ़ापा सौन्दर्य नहीं बन पाये अगर, लेकिन बुढ़ापा कब सौन्दर्य बनता है? जब शरीर तो बूढ़ा हो जाता है, लेकिन भीतर जवानी की ऊर्जा अक्षुण्य रह जाती है। जब इस बुढ़ापे की झुर्रियों के भीतर से वह जवानी की जो अक्षुण्य ऊर्जा है, जो वीर्य है, जो शक्ति है, जो बच गयी है, जो रूपान्तरित हो गयी है, जब उसकी किरणें बुढ़ापे की इन झुर्रियों से बाहर निकलती हैं, तब एक अनूठे सौंदर्य का जन्म होता है।

इसलिए हमने महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण किसी का भी बुढ़ापे का कोई चित्र नहीं बनाया। अच्छा किया हमने। हमें तथ्यों की बहुत चिन्ता नहीं है। हमें सत्यों की फिकर है, जो तथ्यों के भीतर छिपे होते हैं, गहरे में छिपे होते हैं। इसलिए हमने उनको जवान ही चित्रित किया है।

महावीर कहते हैं--जब है शक्ति, तब उसे बदल डालो, पीछे पछताने का कोई भी अर्थ नहीं है।

आज इतना ही। पाँच मिनट रुकें, कीर्तन करें, फिर जायें।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
६ सितम्बर, १९७२

तीसरा प्रवचन

सत्य-सूत्र

०

निच्चकालऽप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चा उत्तेण दुक्करं ॥

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवधायणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥

सदा अप्रमादी व सावधान रहते हुए असत्य को त्यागकर हितकारी सत्य-वचन ही बोलना चाहिए। इस प्रकार का सत्य बोलना सदा बड़ा कठिन होता है।

श्रेष्ठ साधु पापमय, निश्चयात्मक और दूसरों को दुख देनेवाली वाणी न बोलें। इसी प्रकार श्रेष्ठ मानव को क्रोध, लोभ, भय और हँसी-मजाक से भी पाप-वचन नहीं बोलना चाहिए।

सूत्र के पहले एक-दो प्रश्न ।

मैंने परसों कहा कि हिन्दू-विचार संन्यास को जीवन की अन्तिम अवस्था की बात मानता है। किन्हीं मित्र को इसे सुनकर अड़चन हुई होगी। मैं निकलता था बाहर, तो उन्होंने कहा कि हिन्दू-शास्त्रों में तो जगह-जगह ऐसे वचन भरे पड़े हैं कि जब शक्ति हो, तभी साधना कर लेनी चाहिए !

चलते हुए, रास्ते में उनसे ज्यादा नहीं कहा जा सकता था। मैंने उनसे इतना ही कहा कि ऐसे वचन अगर आपको पता हों, तो उनका आचरण शुरू कर देना चाहिए।

लेकिन, हमारा मन बड़ा अनुदार है—सभी का। हम सभी सोचते हैं कि मेरे धर्म में सब कुछ है—यह अनुदार वृत्ति है।

इस पृथ्वी पर कोई भी धर्म पूरा नहीं है, हो भी नहीं सकता। जैसे ही सत्य अभिव्यक्ति बनता है, अधूरा हो जाता है और जब यह अधूरा सत्य संगठित होता है, तो और भी अधूरा हो जाता है। और जब हजारों-लाखों साल तक यह संगठन एक पकड़ बनता चला जाता है, तो और भी क्षीण होता चला जाता है।

सभी संगठन, अधूरे-सत्यों के संगठन होते हैं इसलिए जगत् के सारे धर्म मिलकर एक पूरे धर्म की सम्भावना पैदा करते हैं। कोई अकेला धर्म, पूरे धर्म की सम्भावना पैदा नहीं करता। क्योंकि सभी धर्म सत्यों को अलग-अलग पहलुओं से देखी गयी चेष्टाएँ हैं।

हिन्दू-विचार अत्यन्त व्यवस्थित है। इसलिए हिन्दू-विचार ने जीवन को चार हिस्सों में बांट दिया है। ब्रह्मचर्य आश्रम है, ग्रार्हस्थ्य आश्रम है, वानप्रस्थ आश्रम और फिर संन्यास आश्रम है। यह बड़ी गणित की व्यवस्था है। इसके अपने उपयोग हैं, अपनी कीमत है।

लेकिन, जीवन कभी भी व्यवस्था में बँधता नहीं है। जीवन सब व्यवस्था को तोड़कर बहता है। इस व्यवस्था को हमने दो नाम दिये हैं—वर्ण और आश्रम। हमने समाज को भी चार हिस्सों में बाँट दिया, और हमने जीवन को भी चार हिस्सों में बाँट दिया। यह बँटाव उपयोगी है।

हिन्दू-मन को यह कभी स्वीकार नहीं रहा कि कोई जवान आदमी संन्यासी हो जाये, कि कोई बच्चा संन्यासी हो जाये। संन्यास आना चाहिए, लेकिन वह जीवन की अन्तिम बात है; क्योंकि हिन्दू ऐसा मानता रहा है कि संन्यास इतनी बड़ी घटना है कि सारे जीवन के अनुभव के बाद ही खिल सकती है। इसका अपना उपयोग है, इसका अपना अर्थ है।

लेकिन, महावीर और बुद्ध ने एक क्रांति खड़ी की इस व्यवस्था में; और वह क्रांति यह थी कि संन्यास का फूल कभी भी खिल सकता है, वृद्धावस्था तक रुकने की जरूरत नहीं है। न केवल इतना, बल्कि महावीर ने कहा है कि जब युवा है चित्त और जब शक्ति से भरा है शरीर, तभी जो भोग में बहती है ऊर्जा, वह अगर योग की तरफ बहे, तो संन्यास का फूल खिल सकता है।

यह एक दूसरे पहलू से देखने की चेष्टा है, इसका भी अपना मूल्य है, इसमें बहुत फर्क है, और कारण हैं फर्कों के।

इसे थोड़ा समझ लें।

हिन्दू-विचार ब्राह्मण की व्यवस्था है। ब्राह्मणत्व का अर्थ होता है : गणित, तर्क, योजना, नियम, व्यवस्था। जैन और बौद्ध-विचार क्षत्रियों के मस्तिष्क की उपज है—वह एक क्रांति, शक्ति और अराजकता है।

जैनियों के चौबीसों तीर्थंकर क्षत्रिय हैं। बुद्ध क्षत्रिय हैं। बुद्ध के पिछले सारे जन्मों की जो और भी कथाएँ हैं, वह भी क्षत्रिय की हैं। बुद्ध ने जिन और बुद्धों की बात की है, वह भी क्षत्रिय हैं।

क्षत्रियों के सोचने का ढंग ऊर्जा पर, शक्ति पर निर्भर होता है। ब्राह्मण के सोचने का ढंग अनुभव पर, गणित पर, विचार पर, मन पर निर्भर होता है। ब्राह्मण एक व्यवस्था देता है और क्षत्रिय अराजक होता है। शक्ति सदा अराजक होती है। इसलिए जवान अराजक होते हैं, बूढ़े अराजक नहीं होते।

जवान क्रांतिकारी होते हैं, बूढ़े क्रांतिकारी नहीं होते। अनुभव उनकी सारी क्रांति की नोकों को झाड़ देता है। जवान गैर अनुभवी होता है, शक्ति से भरा होता है। उसके सोचने का ढंग अलग होता है।

भारत की यह जो वर्ण-व्यवस्था थी, उसमें ब्राह्मण सबसे ऊपर था, उसके बाद क्षत्रिय था, वैश्य था, फिर शूद्र था। जब बगावत होती है, किसी विचार, किसी तंत्र के प्रति, तो जो निकटतम होता है, नम्बर दो पर होता है, वही बगावत करता है। नम्बर तीन और चार के लोग बगावत नहीं करते। इतना फासला होता है कि बगावत का कोई कारण भी नहीं होता।

इसलिए ब्राह्मणों के खिलाफ जो पहली बगावत हो सकती थी, वह क्षत्रियों से ही हो सकती थी। वे बिलकुल निकट थे। दूसरी सीढ़ी पर खड़े थे। उनको आशा बनती थी कि वे धक्का देकर पहली सीढ़ी पर हो सकते थे, शूद्र बगावत नहीं कर सकता था। वह बहुत दूर था। उसे बहुत सीमा पार करनी थी। वैश्य भी बगावत नहीं कर सकता था।

एक मजे की बात है मनुष्य के ऐतिहासिक उत्क्रम में कि ब्राह्मणों के प्रति पहली बगावत क्षत्रियों से आई। ब्राह्मणों को सत्ता से उतार दिया क्षत्रियों ने। लेकिन, क्या आपको पता है कि क्षत्रियों को फिर वैश्यों ने सत्ता से उतार दिया और अब वैश्यों को शूद्र सत्ता से उतार रहे हैं!

हमेशा निकटतम के द्वारा होती है क्रांति। जो नीचे था, वह आशान्वित हो जाता है कि अब मैं निकट हूँ सत्ता के, अब धक्का दिया जा सकता है।

जैन और बुद्ध क्षत्रिय मस्तिष्क की उपज हैं। क्षत्रिय जवानी पर, शक्ति पर भरोसा करता है। शक्ति ही उनके लिए सब कुछ है। शक्ति के सब आयामों में उन्होंने प्रयोग किये। महावीर ने इसका ही प्रयोग साधना में किया।

महावीर ने कहा कि जब ऊर्जा अपने शिखर पर है, तभी उसका रूपान्तरण कर लेना उचित है। क्योंकि रूपान्तरण करने के लिए भी शक्ति की जरूरत है। और जब शक्ति क्षीण हो जायेगी, तो कई दफा धोखा भी पैदा होता है, जैसे कि बूढ़ा आदमी सोच सकता है कि मैं ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो गया।

असमर्थता ब्रह्मचर्य नहीं है। अगर ब्रह्मचर्य को कोई उपलब्ध होता है, तो युवा होकर ही हो सकता है; क्योंकि तभी कसौटी है, तभी परीक्षा है। वृद्ध होकर ब्रह्मचारी होना मजबूरी हो जाती है। साधन खो जाते हैं। जब साधन खो जाते हैं, तो साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जब साधन होते हैं, उत्तेजना होती है, 'कम्पिटीशन' होता है, जब ऊर्जा दौड़ती हुई होती है, किसी प्रवाह में, तब उसके रुख को बदल लेना साधना है।

इसलिए महावीर का सारा बल युवा-शक्ति पर है।

दूसरी बात, महावीर और बुद्ध दोनों की क्रांति, वर्ण और आश्रम के खिलाफ है। न तो वे समाज में वर्ण को मानते हैं कि कोई आदमी बँटा हुआ है, खण्ड-खण्ड में—न वे व्यक्ति के जीवन में बँटाव मानते हैं कि व्यक्ति बँटा हुआ है, खण्ड-खण्ड में।

वे कहते हैं, जीवन एक तरलता है। और किसी को वृद्धावस्था में अगर संन्यास का फूल खिला है, तो उसे समाज का नियम बनाने की कोई जरूरत नहीं। किसी को जवानी में भी खिल सकता है। किसी को बचपन में भी खिल सकता है। इसे नियम बनाने की कोई भी जरूरत नहीं; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति बेजोड़ है।

इसे थोड़ा समझ लें।

हिन्दू चिन्तन मानकर चलता है कि सभी व्यक्ति एक जैसे हैं, इसलिए बाँटा जा सकता है। जैन और बौद्ध चिन्तन मानता है कि व्यक्ति बेजोड़ है; बाँटा नहीं जा सकता। हर आदमी, बस अपने जैसा ही है, इसलिए कोई नियम लागू नहीं हो सकता। उस आदमी को अपना नियम खुद ही खोजना पड़ेगा। इसलिए कोई व्यवस्था ऊपर से नहीं बिठाई जा सकती।

महावीर कहते हैं कि हम नहीं बाँट सकते हैं कि कौन शूद्र है, और कौन ब्राह्मण है। महावीर जगह-जगह कहते हैं कि मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ, जो ब्रह्म को पा ले। उसको ब्राह्मण नहीं कहता, जो ब्राह्मण घर में पैदा हो जाये। मैं उसे शूद्र कहता हूँ, जो शरीर की सेवा में ही लगा रहे। उसे शूद्र नहीं कहता, जो शूद्र के घर में पैदा हो जाये। जो शरीर की सेवा, और शृंगार में लगा रहता है चौबीस घंटे, वह शूद्र है।

बड़े मजे की बात है; इसका अर्थ हुआ कि एक अर्थ में हम सभी शूद्र की भाँति पैदा होते हैं। जरूरी नहीं है कि हम सभी ब्राह्मण की भाँति मर सकें। मर सकें, तो सौभाग्य है।

महावीर कहते हैं कि एक-एक व्यक्ति अलग है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति हजारों-हजारों जन्मों की यात्रा के बाद आया है। बच्चे को बच्चा कहने का क्या अर्थ है? उसके पीछे भी हजारों जीवन का अनुभव है। दो बच्चे एक जैसे नहीं होते। एक बच्चा बचपन से ही बूढ़ा हो सकता है। अगर उसे अपने अनुभव का थोड़ा सा भी स्मरण हो, तो बचपन में ही संन्यास घटित हो जायेगा। और एक बूढ़ा भी बिलकुल बचकाना हो सकता है। अगर उसे इसी

जीवन की कोई समझ पैदा न हुई हो, तो बुढ़ापे में भी बच्चे जैसा व्यवहार कर सकता है।

तो, महावीर कहते हैं यात्रा है लम्बी, सभी हैं बूढ़े—एक अर्थ में सभी को अनुभव है। इसलिए जब ऊर्जा ज्यादा हो, तब इस अनन्त-अनन्त जीवन के अनुभव का उपयोग करके जीवन को रूपान्तरित कर लेना चाहिये।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हिन्दू परिवारों में युवा-संन्यासी नहीं हुए। लेकिन वे अपवाद हैं। और जो महत्वपूर्ण संन्यासी हिन्दू परम्परा में हुए, जैसे शंकर जैसे लोग, बुद्ध और महावीर के बाद हुए।

संन्यास की जो धारा शंकर ने हिन्दू-विचार में चलाई, उस पर महावीर और बुद्ध का अनिवार्य प्रभाव है; क्योंकि यह बात हिन्दू विचार से मेल नहीं खाती कि एक जवान आदमी संन्यास ले लें। इसलिए शंकर के जो विरोधी हैं, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, वे सब कहते हैं कि शंकर जो हैं, वे प्रच्छन्न बौद्ध हैं, छिपे हुए बौद्ध हैं, वह असली हिन्दू नहीं हैं। ठीक हिन्दू नहीं हैं; क्योंकि सारी गड़बड़ कर डाली है। बड़ी गड़बड़ तो यह कर दी कि आश्रम की व्यवस्था तोड़ डाली। शंकर तो बच्चे ही थे, जब उन्होंने संन्यास लिया। तैंतीस साल में तो उनकी मृत्यु ही हो गई।

किसी विचार पर, किसी की कोई बपौती भी नहीं होती, कि विचार जैन का है, कि बौद्ध का है। विचार तो जैसे ही मुक्त-आकाश में फैल जाता है, सब का हो जाता है। फिर भी स्रोत का अनुग्रह सदा स्वीकार होना चाहिए। और इतनी उदारता होनी चाहिए कि हम स्वीकार करें कि कौन सी बात किस ने दान दी है।

युवक संन्यासी हो, जीवन जब प्रखर ऊर्जा के शिखर पर है—इस दिशा में जो दान है, वह जैन और बौद्धों का है। इसके खतरे भी हैं। हर सुविधा के साथ खतरा जुड़ा होता है। हर उपयोगी बात के साथ गड्ढा भी जुड़ा होता है खतरे का।

निश्चित ही जब युवा व्यक्ति संन्यास लेंगे, तो संन्यास में खतरे बढ़ जायेंगे। जब बूढ़ा आदमी संन्यास लेगा, तो संन्यास में खतरे नहीं होंगे। इसलिए महावीर को अतिशय नियम निर्मित करने पड़े। क्योंकि जब युवा संन्यासी होंगे, तो खतरे नित्य ही बढ़ जानेवाले हैं। युवक और युवतियाँ जब संन्यासी होंगे और उनकी वासना प्रबल वेग में होगी, तब खतरे बहुत बढ़

जानेवाले हैं। इसलिए एक पूरी की पूरी आयोजना करनी पड़ी नियमों की, कि ये खतरे काटे जा सकें।

इसलिए जैन-विचार कई दफा बहुत 'सप्रेसिव', बहुत दमनकारी मालूम होता है। वह है नहीं। दमनकारी इसलिए मालूम होता है कि एक-एक चीज पर अंकुश लगाना पड़ा। क्योंकि इतनी बढ़ती हुई उद्दाम-वासना है, अगर इस पर चारों तरफ से व्यवस्था न हुई, तो सम्भावना इसकी कम है कि योग की तरफ बहे, सम्भावना यह है कि यह भोग की तरफ बह जाये।

इसलिए हिन्दू-विचार आज के युग को ज्यादा अपील करेगा, क्योंकि उसमें इतना नियम का जोर नहीं है। वृद्ध अगर संन्यासी होगा, तो उसका वृद्ध होना ही, उसकी समझ ही नियम बन जायेगी। उस पर बहुत, अतिशय, चारों तरफ बाढ़ लगाने की जरूरत नहीं है। उसे छोड़ा जा सकता है, उसकी समझ पर। उसे कहने की जरूरत नहीं है कि ऐसा मत करना, ऐसा मत करना, ऐसा मत करना। हजार नियम बनाने की जरूरत नहीं है।

बुद्ध से आनन्द पूछता है कि स्त्रियों की तरफ देखना कि नहीं! बुद्ध कहते : 'कभी नहीं देखना।' आनन्द पूछता है—'और अगर मजबूरी में, अनायास, आकस्मिक स्त्री दिखायी ही पड़ जाये, तो?' तो बुद्ध कहते हैं, 'बोलना मत।' आनन्द कहता है—'ऐसी हालत हो कि स्त्री बीमार हो, या कोई ऐसी स्थिति बन जाये कि बोलना ही पड़े?' तो बुद्ध कहते हैं—'होश रखना किससे बोल रहे हो।'

ऐसा विचार हिन्दू-चिन्तन में कहीं भी खोजे न मिलेगा। इसका कारण है: यह युवकों को दिया गया संदेश है। हिन्दू-चिन्तन ने तो क्रमबद्ध व्यवस्था की है ब्रह्मचर्य की। यह ब्रह्मचर्य, बुद्ध और महावीर के ब्रह्मचर्य से भिन्न है। कभी-कभी शब्द बड़ी दिक्कत देते हैं।

ब्रह्मचर्य, पहला आश्रम है हिन्दू-विचार में। यह ब्रह्मचर्य ग्राहंस्थ्य के विपरीत नहीं है। बुद्ध और महावीर का ब्रह्मचर्य ग्राहंस्थ्य के विपरीत है। हिन्दू-ब्रह्मचर्य ग्राहंस्थ्य की तैयारी है। युवक को ब्रह्मचारी होना चाहिए, इसलिए नहीं कि वह योग में चला जाये बल्कि इसलिए कि शक्ति संग्रहीत हो, तो भोग की पूरी गहराई में उतर जाये, यह बड़ा अलग मामला है। इसलिए ब्रह्मचर्य पहले। पच्चीस वर्ष तक युवक ब्रह्मचारी हो इसलिए नहीं कि योग में चला जाये। अभी योग बहुत दूर है। बल्कि इसलिए कि ठीक से भोग में चला

जाये। क्योंकि हिन्दू यह मानता है कि अगर ठीक से कोई भोग में चला जाए, तो भोग से छुटकारा हो जाये।

जिस चीज को हम ठीक से जान लेते हैं, वह व्यर्थ हो जाती है। अगर ठीक से न जान पाएँ तो वह पीछा करती है। अगर बुढ़ापे में भी कामवासना आपका पीछा करती है, तो इसका मतलव ही यह है कि आप कामवासना को जान न पाये। आप पूरी ऊर्जा न लगा पाये कि अनुभव पूरा हो जाता, कि आप उसके वाहर निकल आते। जव अनुभव पूरा होता है, तव हम उसके वाहर हो जाते हैं; जव अनुभव अधूरा होता है, तव हम अटके ही रह जाते हैं।

तो, ब्रह्मचर्य इसलिए है कि शक्ति पूरी इकट्ठी हो जाये, और प्रवल वेग से आदमी ग्रार्हस्थ्य में प्रवेश कर सके, वासना में प्रवेश कर सके। पच्चीस वर्ष से पचास वर्ष तक वह वासना के जीवन में पूरी तरह डूवा रहे—पूरी तरह, समग्रता से। यही उसे वाहर निकालने का कारण वनने लगेगा।

और तव पच्चीस वर्ष तक वह जंगल की तरफ मुँह कर ले, वानप्रस्थ हो जाये। रहे घर में, अभी जंगल न जाये; क्योंकि एकदम जंगल जाने में हिन्दू-विचार को लगता है कि छलांग हो जायेगी, क्रमिक न होगा। और जो आदमी एकदम घर से जंगल में चला गया, वह घर को जंगल में ले जायेगा। उसके मस्तिष्क में घर ही होगा, जंगल में भी।

हिन्दू-विचार कहता है कि पच्चीस साल तक वह घर पर ही रहे। जंगल की तरफ मुँह रखे, ध्यान जंगल का रखे, रहे घर पर। अगर जल्दी चला जायेगा, तो रहेगा जंगल में, ध्यान होगा घर पर। पच्चीस साल तक सिर्फ ध्यान को जंगल में ले जाये। जव पूरा ध्यान जंगल में पहुँच जाये, तव वह भी जंगल चला जाये, तव वह पचहत्तर वर्ष की उम्र में संन्यासी हो।

इसके अपने उपयोग हैं। कुछ लोगों के लिए शायद यही प्रीतिकर होगा। लेकिन, हम हैं वेईमान। हम हर सत्य से अपने हिसाव की वातें निकाल लेते हैं। हम सोचेंगे कि यह ठीक है। हमारे लिए विलकुल उपयोगी है, जँचता है।

...सिर्फ इसलिए उपयोगी है कि इसमें 'पोस्टपोन', स्थगित करने की सुविधा है। न वचेंगे हम पचहत्तर साल के वाद और न यह झंझट होगी, घर में ही रहेंगे। रहा वानप्रस्थ, वन की तरफ मुँह रखने की वात, तो वह भीतरी वात है, किसी को उसका पता चलेगा ही नहीं!

अपने को धोखा हम किसी भी चीज से दे सकते हैं।

...महावीर की सारी जो साधना-प्रक्रिया है, वह हिन्दू-साधना-प्रक्रिया से अलग है। इसलिए महावीर की साधना-प्रक्रिया का ही उपयोग करना पड़ेगा—अगर जवान संन्यासी हो, तो। क्योंकि तब ऊर्जा के प्रबल वेग को रूपांतरित करने की क्रियाओं का उपयोग करना पड़ेगा।

बूढ़ा सौम्यता से संन्यास में प्रवेश करता है। जवान तूफान-आँधी की तरह संन्यास में प्रवेश करता है। इन सब की प्रक्रियाएँ अलग हैं। लेकिन एक बात तय है कि महावीर और बुद्ध ने युवा जीवन-ऊर्जा को संन्यास में बदलने की जो कीमिया है, पहले उसके सूत्र निर्मित किए। वह हिन्दू-विचार की देन नहीं है। और अगर हिन्दुओं ने पीछे युवा-अवस्था में संन्यास भी लिये, अगर युवा-संन्यास के आन्दोलन भी चलाये शंकराचार्य ने, तो उन पर अनिवार्य रूप से महावीर और बुद्ध की छाप है।

...इतना अनुदार नहीं होना चाहिए कि सभी कुछ हमसे ही निकले। परमात्मा सब तरफ है और परमात्मा हजार आवाजों में बोला है और सब आवाजें परिपूरक हैं। किसी न किसी दिन हम उस सार-भूत धर्म को खोज लेंगे, जो सब धर्मों में अलग-अलग पहलुओं में छिपा है। उस दिन ऐसा कहने की जरूरत न होगी कि हिन्दू-धर्म, जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म। ऐसा ही कहने की बात रह जायेगी—धर्म की तरफ जानेवाला जैन-रास्ता, धर्म की तरफ जानेवाला बौद्ध-रास्ता, धर्म की तरफ जानेवाला हिन्दू-रास्ता।

ये सब रास्ते हैं और धर्म की तरफ जाते हैं। इसलिए हम अपने मुल्क में इनको सम्प्रदाय कहते थे—धर्म नहीं। कहना भी नहीं चाहिये। धर्म तो एक ही हो सकता है, सम्प्रदाय अनेक हो सकते हैं।

सम्प्रदाय का अर्थ है—मार्ग। धर्म का अर्थ है—मंजिल।

एक और मित्र ने पूछा है कि क्रोध से दूर रहने का, अस्तित्व जैसा है वैसा स्वीकार करने का, साधना करने का मैं भी यथा-शक्ति प्रयत्न करता हूँ। इन कार्यों में आनन्द भी मिलता है। हो सकता है, इसमें अहंकार की पुष्टि भी होती हो।

अहंकार को विलीन करने की प्रक्रिया में भिन्न प्रकार का अहंकार भी समर्थित हो जाता है। सामान्य मनुष्य अहंकार के सिवाय और है क्या ?

क्या यह सम्भव है कि अहंकार का ही किसी इष्ट दिशा में संशोधन होते-होते आखिर में कुछ प्राप्त करने योग्य तत्त्व बचा रह जाये ?

दो रास्ते हैं :

एक रास्ता है : अहंकार को हम शुद्ध करते चले जायें; क्योंकि जब अहंकार शुद्ध हो जाता है, तो बचता ही नहीं। शुद्ध होते-होते ही विलीन हो जाता है। इसके मार्ग हैं कि हम अहंकार को कैसे शुद्ध करें। इसके खतरे भी हैं; अहंकार शुद्ध हो रहा है या परिपुष्ट हो रहा है—इसकी परख रखनी बड़ी कठिन है।

दूसरा रास्ता है : अहंकार को हम छोडते चले जायें; शुद्ध करने की कोशिश ही न करें, सिर्फ छोड़ने की कोशिश करें। जहाँ-जहाँ अहंकार दिखाई पड़े, वहाँ-वहाँ उसको त्याग करते चले जायें। इसके भी खतरे हैं। खतरा यह है कि हमारे भीतर एक दूसरा अहंकार जन्म सकता है कि मैंने अहंकार का त्याग कर दिया, कि मैं ऐसा हूँ जिसके पास अहंकार बिलकुल नहीं है।

साधना निश्चित ही खतरनाक होती है। जब भी आदमी किसी दिशा में बढ़ता है, तो भटकने के डर भी निश्चित होते हैं। और कोई रास्ता ऐसा नहीं होता कि सुनिश्चित हो—आप चलें और मंजिल पर पहुँच ही जायें। आपके चलने से ही रास्ता निर्मित होता है। रास्ते पहले से निर्मित हों, तब तो आसानी हो जाये। यह कोई रेल की पटरियों जैसा मामला हो कि डिब्बों को भटकने का उपाय ही नहीं, पटरी पर दौड़ते चले जायें, तब तो ठीक है।

यह रेल की पटरियों जैसा मामला नहीं है, यहां रास्ता लोह-पथ निर्मित नहीं है कि आप एक दफे पटरी पर चढ़ गए, तो फिर उतरने का उपाय ही नहीं, चलते ही चले जायेंगे और मंजिल पर पहुँचेंगे ही।

मंजिल पर पहुँचने की नियति स्पष्ट नहीं है। और अच्छा है कि नहीं है। इसलिए जीवन में इतना रस, रहस्य और आनन्द है। अगर रेल की पटरियों की तरह आप परमात्मा तक पहुँच जाते हों, तो परमात्मा भी एक व्यर्थता हो जायेगी।

सत्य की खोज, परमात्मा की खोज मूलतः पथ की ही खोज है। और पथ भी अगर निर्मित हों बहुत से, तो भी आसान हो जाये कि हम अ को चुनें, कि ब को चुनें, कि स को चुनें। एक दफा तय कर लें और चल पड़ें।

पथ की खोज, पथ का निर्माण ही है। आदमी चलता है और चल कर ही रास्ता बनाता है, इसलिए खतरे हैं। इसलिए भटकने के सदा उपाय हैं। पर अगर सचेतना हो, तो सभी विधियों से जाया जा सकता है। अगर अप्रमाद हो, अगर होश हो, जागरूकता हो, तो किसी भी विधि का उपयोग किया जा

सकता है। और अगर होश न हो, तो सभी विधियाँ खतरे में ले जायेंगी, इसलिए एक तत्त्व अनिवार्य है—रास्ता कोई हो, मार्ग कोई हो, विधि कोई हो; होश, 'अवेयरनेस' अनिवार्य है।

आप अहंकार को शुद्ध करने में लगे हैं, लेकिन अहंकार को शुद्ध करने का क्या अर्थ है?

मुझसे बड़ा डाकू कोई भी नहीं—यह अहंकार है—यह डाकू का अहंकार है। मुझसे बड़ा साधु कोई भी नहीं—यह भी एक अहंकार है—यह साधु का अहंकार है। डाकू का अहंकार काला अहंकार है और साधु का अहंकार शुभ्र अहंकार है।

लेकिन, अगर साधु को होश न हो (डाकू को तो होगी ही नहीं होश, नहीं तो डाकू होना मुश्किल है।) और यह बात उसके मन को ऐसा ही रस देने लगे कि मुझसे बड़ा साधु कोई भी नहीं, (जैसा कि डाकू को यह बात रस देती है कि मुझसे बड़ा डाकू कोई भी नहीं) तो यह भी काला अहंकार हो गया।

'मुझसे बड़ा साधु कोई नहीं'—इसमें अगर 'साधुता' पर जोर हो और होश रखा जाये, तो अहंकार शुद्ध होगा। इसमें अगर 'मुझसे बड़ा' पर जोर रखा जाये, तो अहंकार अशुद्ध होगा।

मुझसे बड़ा साधु कोई नहीं—इस भाव में 'साधुता' ही महत्त्वपूर्ण हो और मुझे यह भी पता चलता रहे कि जब तक मुझे यह लग रहा है कि मुझसे बड़ा कोई नहीं, तब तक मेरी साधुता में थोड़ी कमजोरी है। क्योंकि, साधु को यह भी पता चलना कि मैं बड़ा हूँ, असाधु होने का लक्षण है।

कोई मुझसे छोटा है, तो यह हिंसा है। इसको धीरे-धीरे छोड़ते जाना है। एक दिन साधु ही रह जाये, मुझसे बड़ा, मुझसे छोटा कोई भी न रह जाये। 'मैं साधु हूँ,' इतना ही भाव रह जाये, तो अहंकार और शुद्ध हुआ।

लेकिन, अभी मैं साधु हूँ, तो असाधु से मेरा फासला बना हुआ है। अभी असाधु के प्रति मैं सदय नहीं हूँ। अभी असाधु मुझे अस्वीकार है। अभी कहीं असाधु के प्रति निन्दा है, 'कण्डेमनेशन' है। इसे भी चला जाना चाहिए, अन्यथा मैं साधु पूरा नहीं हूँ।

फिर जिस दिन मुझे यह भी पता न चले कि 'मैं साधु हूँ' कि 'असाधु हूँ', इतना ही पता रह जाये कि 'मैं हूँ' साधु-असाधु का फासला गिर जाये, तो अहंकार और भी शुद्ध हुआ।

लेकिन, 'मैं हूँ' इसमें भी अभी दो वातें रह गयी हैं। 'मैं' और 'होना'। यह 'मैं' भी वाधा है। यह भी वजन है। यह होने को जमीन से वांध रखता है। अभी पंख पूरे नहीं खुल सकते। अभी आकाश में पूरा नहीं उड़ा जा सकता।

इस 'मैं' को भी आहिस्ता-आहिस्ता विलीन कर देना है। सिर्फ 'हूँ' ही रह जाये। होना मात्र रह जाये—'जस्ट वीईंग', इतना भर ख्याल रह जाये कि 'हूँ' तो यह अहंकार की शुद्धतम अवस्था है।

लेकिन, यह भी अहंकार की अवस्था है। जव यह भी खो जाती है, जव मात्र अस्तित्व रह जाता है, तव अहंकार से हम आत्मा में छलांग लगा जाते हैं।

यह शुद्ध करने की वात हुई। लेकिन, शुद्ध करने में भी छोड़ते तो जाना ही होगा। और एक होश सदा रखना होगा कि जो भी मेरा भाव है, उस भाव में आधा हिस्सा गलत होगा, आधा हिस्सा सही होगा। तो पचास प्रतिशत जो गलत है, उसे मैं पच्चास प्रतिशत सही के लिए कुर्वान करता चला जाऊँ, जव तक कि एक ही न वच जाये।

लेकिन, एक जव वचता है, तव भी अहंकार की एक रेखा वच जाती है। जव एक भी न वचे, जव अद्वैत भी न वचे, जव अद्वैत भी खो जाये। जव हम ऐसे हो जायें जैसे फूल हैं, पत्थर हैं, आकाश है—लेकिन, इसका कोई पता नहीं कि हैं—इतनी सरलता हो जाये भीतर कि दूसरे का सारा वोध खो जाये, तो छलांग आत्मा में लग गयी।

तो यह, शुद्ध करने का एक उपाय है। लेकिन इसके खतरे हैं। क्योंकि जोर हमने अगर गलत पर दिया, तो अहंकार शुद्ध होने के वजाये अशुद्ध होता चला जायेगा। और, जव अशुद्धि शुद्धता के रूप में आती है, तो वड़ी प्रीतिकर होती है। जंजीरें अगर आभूषण वन कर आयें, तो वड़ी प्रीतिकर होती हैं। और कारागृह भी अगर स्वर्ण का वना हो, हीरे मोतियों से सजा हो, तो मंदिर मालूम होने लगता है।

दूसरा उपाय है कि हम प्रतिपल जहाँ भी 'मैं' का भाव उठे, तो उसे उसी क्षण छोड़ दें। भाव उठे—'मेरा मकान', तो हम सिर्फ मकान पर ध्यान रखें, और 'मेरा' को उसी क्षण छोड़ दें। कोई मकान मेरा नहीं है, हो भी नहीं सकता। मैं नहीं था, तव भी मकान था। मैं नहीं रहूँगा, तव भी मकान होगा। मैं केवल एक यात्री हूँ—एक विश्रामालय में थोड़े क्षण को, और विदा हो जाने को।

यह 'मैं' जहाँ भी जुड़े, तत्काल उसे वहीं तोड़ देना। मेरी पत्नी, मेरा पुत्र मेरा धन, मेरा नाम, मेरा वंश—जहाँ भी यह 'मेरा' जुड़े, उसे तत्काल तोड़ देना। उसे जुड़ने ही न देना। शुद्ध करने की कोशिश ही नहीं करना, छोड़ते ही चले जाना।

मेरा धर्म, मेरा मन्दिर, मेरा शास्त्र—जहाँ भी 'मेरा' जुड़े, उसे तोड़ते जाना। फिर मेरा शरीर, मेरा मन, मेरी आत्मा—जहाँ भी 'मेरा' जुड़े, उसे तोड़ते चले जाना। अगर यह 'मेरा' टूट जाये सब जगह से और एक दिन आपको लगे कि मेरा कुछ भी नहीं है, 'मैं' भी मेरा नहीं है, तो उस दिन छलाँग हो जायेगी।

लेकिन, रास्ता अपना-अपना चुन लेना पड़ता है कि क्या आपको प्रीतिकर लगेगा! प्रतिपल तोड़ते जाना प्रीतिकर लगेगा या प्रतिपल शुद्ध करते जाना प्रीतिकर लगेगा! 'मेरे' को श्रेष्ठत्तर बनाना उचित होगा कि 'मेरे' को जड़ से ही तोड़ देना उचित होगा—इसकी जाँच भी अत्यन्त कठिन है। इसीलिए साधना में गुरु का इतना मूल्य हो गया।

इसकी जाँच अति कठिन है कि आपके लिए क्या ठीक होगा। अक्सर तो यही होता है कि जो आपके लिए गलत होगा, वही आपको ठीक लगेगा; क्योंकि आप गलत हैं, इसलिए गलत आपको आकर्षित करेगा, तत्काल—यह कठिनाई है।

जो आपको आकर्षित करे, जरूरी मत समझ लेना कि वह आपके लिए ठीक ही है, होश-पूर्वक प्रयोग करना पड़ेगा। सौ में से निन्यानवे मौकों पर तो आपका चुनाव गलत ही होगा; क्योंकि आपके आकर्षण अभी गलत होंगे। इसीलिये गुरु की जरूरत पड़ी, ताकि शिष्य गलत चुनाव से बच सके।

कई बार तो बहुत मजे की बात होती है—शिष्य गुरु को जा कर बताते हैं कि उसके लिए क्या उचित है। जाकर कहते हैं कि आप मुझसे करवाइये, यह मेरे लिए उचित है।

···शिष्य अज्ञान में है, इसलिए वह जो भी चुनेगा, वह अनुचित होगा, उचित नहीं हो सकता। और जो उचित है वह उसे विपरीत मालूम पड़ेगा, वह कहेगा कि यह मुझसे न हो सकेगा। इसलिए गुरु की जरूरत पड़ी कि वह सोच सके, निदान कर सके, खोज सके कि क्या ठीक होगा—निष्पक्ष दूर खड़ा होकर पहचान सके।

आप खुद ही उलझे हुए हैं, आप पहचान न सकेंगे। आप खुद ही बीमार हैं, तो अपनी बीमारी का निदान करना जरा मुश्किल होगा। क्योंकि मन बीमारी की वजह से बेचैन होता है। मन जल्दी ठीक होने के लिए अधैर्य से भरा होता है। किसी भी तरह बीमारी इसी वक्त समाप्त हो जाये, इसमें मन ज्यादा उत्सुक होता है। बीमारी क्या है, कैसे इसकी शांति से परीक्षा की जाये, इसमें मन उत्सुक नहीं होता। इसलिए बीमार अपना निदान नहीं कर पाता।

लेकिन, बिना गुरु के भी चला जा सकता है। तब एक ही रास्ता है—'ट्रायल एण्ड एरर,' (भूल करें और सुधार करें।) जो आपको ठीक लगे, उस पर प्रयोग करें। तय कर लें कि एक वर्ष तक इस पर प्रयोग करता ही रहूँगा। और, फिर इसके परिणाम देखें। वे दुखद हैं, अप्रीतिकर हैं, अहंकार को घना करते हैं, तो छोड़ दें उसे और दूसरा प्रयोग करें।

एक उपाय है—खुद करें और भूल-चूक से गुजरें। दूसरा उपाय है—जो भूल-चूक से गुजरा हो, अनुभव तक पहुँचा हो, उससे पूछें।

दोनों रास्तों की अपनी-अपनी सुविधाएँ हैं, और दोनों के अपने-अपने खतरे हैं।

अब सूत्र।

'सदा अप्रमादी व सावधान रहते हुए। असत्य को त्याग कर हितकारी सत्य-वचन ही बोलना चाहिये। इस प्रकार का सत्य बोलना सदा बड़ा कठिन होता है।'

बड़ी शर्तें महावीर ने सत्य बोलने में लगाई हैं। 'सत्य बोलना चाहिये'—इतना महावीर कह सकते थे। लेकिन, इतना नहीं कहा। महावीर पर्त-पर्त चीजों को उघाड़ने में अति-कुशल हैं। इतना कहना काफी था कि सत्य वचन बोलना चाहिये। और अधिक शर्तें जोड़ने की क्या जरूरत थी! लेकिन, महावीर आदमी को भली भाँति जानते हैं कि आदमी इतना उपद्रवी है कि 'सत्य बोलना चाहिए'—इसका दुरुपयोग कर सकता है। इसलिए शर्तें लगाईं उन्होंने।

'सदा अप्रमाद में, होश-पूर्वक सत्य बोलना चाहिये।'

असत्य ही बुरा होता है, ऐसा नहीं—सत्य भी बुरा होता है—बुरे आदमी के हाथ में। सिर्फ दूसरे को चोट पहुँचाने के लिए, कई बार आप सत्य बोलते

हैं—उससे हिंसा करने में आसानी होती है। आप अन्धे आदमी को कह देते हैं, 'अन्धा'।—सत्य है बिलकुल। चोर को कह देते हैं, 'चोर', पापी को कह देते हैं, 'पापी'—सत्य है बिलकुल। लेकिन, महावीर कहेंगे : ऐसे बोलना नहीं था।

जब आप किसी को चोर कह रहे हैं, तो वस्तुत : आप उसकी चोरी की तरफ इंगित करना चाहते हैं या चोर कह कर उसे अपमानित करना चाहते हैं ? वस्तुत : आपको सत्य बोलने से प्रयोजन है या एक आदमी को अपमानित करने से ? वस्तुत : जब आप किसी को चोर कहते हैं, तो क्या आपको पक्का है कि वह चोर है या आपको मजा आ रहा है किसी को चोर कहने में ?

जब भी हम किसी को चोर कहते हैं, तो भीतर लगता है कि हम चोर नहीं हैं। इसमें जो रस मिल रहा है, वह सत्य बोलने का रस नहीं है।

इसलिए महावीर कहते हैं—'सदा अप्रमाद में पहली शर्त लगाते हैं, सदा होश-पूर्वक सत्य बोलना। क्योंकि बेहोशी में बोला गया सत्य, असत्य से भी बदतर हो सकता है। इसलिए सावधान रहते हुए, एक-एक चीज को देखते हुए, सोचते हुए, सावधानी पूर्वक—ऐसे मत बोल देना तत्काल, बोलने के पहले क्षण भर चेतना को सजग कर लेना, रुक जाना, ठहर जाना, सब पहलुओं से देख लेना—ऊपर उठकर अपने से, परिस्थिति से—फिर सत्य बोलना।

सावधानी का अर्थ है : क्या होगा परिणाम ? क्या है हेतु, जब आप बोल रहें हैं, सत्य ? क्यों बोल रहे हैं ? किस परिणाम की इच्छा है ? क्योंकि सत्य बोल कर आप किसी को फँसा भी दे सकते हैं। इसलिए आपके भीतर हेतु क्या है, 'मोटिव' क्या है ?

महावीर का सारा जोर इस बात पर है कि पाप और पुण्य कृत्य में नहीं होते, हेतु में होते हैं, 'मोटिव' में होते हैं— 'एक्ट' में नहीं होते।

एक माँ अपने बेटे को चाँटा मार रही है, तो उस चाँटा मारने में और एक दुश्मन, एक दुश्मन को चाँटा मार रहा है, इस चाँटा मारने में 'फिजिऑलॉजिकली,' शरीर के अर्थ में कोई भेद नहीं है। और, अगर एक वैज्ञानिक मशीन पर दोनों के चांटे को तौला जाये, तो मशीन बता नहीं सकेगी कि हेतु क्या था—चांटे का वजन बता देगी—कितनी जोर से पड़ा, कितनी चोट पड़ी, कितनी शक्ति थी चोट में, कितनी विद्युत् थी—सब बता देगी, लेकिन यह नहीं बता पायेगी कि हेतु क्या था।

माँ के द्वारा मारा गया चाँटा और दुश्मन के द्वारा मारा गया चाँटा—दोनों, एक से कृत्य हैं, लेकिन एक से हेतु नहीं हैं।

जरूरी नहीं है कि माँ का चाँटा, हर बार माँ का ही चाँटा हो। कभी-कभी माँ का चाँटा भी दुश्मन का चाँटा होता है। माँ भी दो बार चाँटा मारे, तो जरूरी नहीं है कि हेतु एक ही हो। इसलिए माताएँ ऐसा न समझें कि हर वक्त चाँटा मार रही हैं, तो हेतु 'मां' का है। सौ में निन्यानवे मौके पर हेतु 'दुश्मन' का होता है। माँ भी इसलिए चाँटा नहीं मारती कि लड़का शैतानी कर रहा है। माँ भी इसलिए चाँटा मारती है कि लड़का 'मेरी' नहीं मान रहा।

शैतानी बड़ा सवाल नहीं है। सवाल 'मेरी आज्ञा' है, सवाल 'मेरा अधिकार' है, सवाल मेरा अहंकार' है।

...माँ का चाँटा भी सदा माँ का चाँटा नहीं होता। महावीर मानते हैं कि 'मोटिव' क्या है! भीतर क्या है? किस कारण?

इस फर्क को समझ लें।

एक बच्चा शैतानी कर रहा है और माँ ने चाँटा मारा। तो आप कहेंगे, कारण साफ है कि बच्चा शैतानी कर रहा है। लेकिन, यह हेतु नहीं है—यह कारण है कि बच्चा शैतान है—शैतानी कर रहा है।—हेतु आप के भीतर होगा।

कल भी यह बच्चा इसी वक्त शैतानी कर रहा था, लेकिन आपने कल चाँटा नहीं मारा था, आज मारा। कल भी परिस्थिति यही थी, परसों भी यह बच्चा शैतानी कर रहा था, लेकिन तब आपने पड़ोसी से इसकी प्रशंसा की थी कि मेरा बच्चा बड़ा शैतान है। कल मारा नहीं था, सिर्फ देख लिया था, आज मारा है, क्या बात है, कारण तो तीनों में एक है।

...आज आपके भीतर हेतु बदल गया है। कल जब आपने पड़ोसी से कहा कि मेरा बच्चा बड़ा शैतान है, तब आपके अहंकार को तृप्ति मिल रही थी। इस बच्चे की शैतानी आपको रसपूर्ण लगी थी। कल बच्चा शैतानी कर रहा था, आप अपने भीतर खोये थे। आप अपने में लीन थे। इस बच्चे की शैतानी ने आपको कोई चोट नहीं पहुँचाई। आज सुबह पति से कलह हो गयी है, क्रोध उबल रहा है, आप अपने भीतर नहीं जा पाते और यह बच्चा शैतानी कर रहा है, चाँटा पड़ जाता है।

...यह चाँटा आपके भीतर के क्रोध के हेतु से उपजता है।

यह बच्चे का कारण सिर्फ बहाना है, सिर्फ खूँटी है, कोट (क्रोध) आपके भीतर से आकर टँगता है। तो महावीर कहते हैं: 'सावधानी पूर्वक'—इसका अर्थ है हेतु को देखते हुए।

'सावधान रहते हुए असत्य को त्याग कर हितकारी सत्य-वचन बोलना ही चाहिए।'

सावधान रहें और जो भी असत्य मालूम पड़े, उसे त्याग दें—कोई भी मूल्य हो। साधक के लिए एक ही मूल्य है—उसकी आत्मा का निर्माण, सृजन। महावीर और कोई मूल्य नहीं मानते। कोई भी कीमत हो, अप्रमाद से, सावधानी पूर्वक, हेतु की परीक्षा करके—जो भी असत्य है, उसे तत्काल छोड़ दें।

यह 'निगेटिव,' नकारात्मक बात हुई—असत्य को छोड़ दें। और, उसके बाद वे कहते हैं : 'हितकारी सत्य वचन ही बोलें।' अभी, सत्य वचन में फिर एक शर्त है। वह यह कि वह दूसरे के हित में हो।

आप के भीतर कोई हेतु न हो बुरा, यह भी काफी नहीं है। महावीर कहते हैं: जो दूसरे का अहित करे, वैसा सत्य भी नहीं। बड़ी शर्तें हो गयीं! असत्य का त्याग सीधी बात न रही! 'असत्य का त्याग'—असावधानी का त्याग हो गया, प्रमाद का त्याग हो गया, और साथ ही दूसरे के अहित का भी त्याग हो गया।

···'वही बोलें, जो दूसरे के हित में हो'—तब तो आप मौन हो जायेंगे! बोलने को कुछ बचेगा ही नहीं! महावीर बारह वर्ष तक मौन रहे, इस साधना में। हम कहेंगे कि हद हो गयी! अगर सत्य भी बोलना है, तो भी बोलने को बहुत बातें हैं। आप गलती में हैं। अगर महावीर जैसी निकस्, कसौटी आपके पास हो, तो मौन हो ही जाना पड़ेगा।

असत्य बहुत प्रकार के हैं। ऐसे असत्य हैं, जिनको आप सत्य माने हुए बैठे हैं—जो सत्य हैं नहीं। और आपको पता ही नहीं चलता कि ये असत्य हैं।

आप कहते हैं कि ईश्वर है। आपको पता है? महावीर नहीं बोलेंगे। वे कहेंगे—मुझे पता नहीं है, मेरे लिए असत्य है। असत्य, इसलिए नहीं है कि ईश्वर नहीं है, असत्य इसलिए कि बिना जाने इसे मानना असत्य है। लेकिन जिस समाज में आप पैदा हुए हैं, वह मानता है कि ईश्वर है, इसलिए आप भी मानते हैं कि ईश्वर है। आपने फिर कभी लौट कर सोचा ही नहीं कि है भी!

जब मैं मन्दिर के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हूँ, तो यह हाथ जोड़ना तब तक असत्य है, जब तक मुझे ईश्वर का कोई पता नहीं है। महावीर मन्दिर के सामने हाथ नहीं जोड़ेंगे।

फिर महावीर कहते हैं कि सामूहिक असत्य हैं—'कलेक्टिव अनट्रुथ्स'। जब पूरा समूह बोलता है, तो आपको पता ही नहीं चलता। बल्कि पता ही तब चलता है, जब समूह में कोई बगावती पैदा हो जाता है। जब वह पूछता है—कहाँ है ईश्वर ? तब आपको क्रोध आता है। अगर आपके पास सत्य है, तो उसे दिखा देना चाहिये। क्रोध का कोई कारण नहीं है ! लेकिन, जब कोई पूछता है कि कहाँ है ईश्वर, तब आप दिखाने को उत्सुक नहीं होते, उसको मारने को उत्सुक होते हैं।

क्रोध सदा असत्य से पैदा होता है—सत्य से पैदा नहीं होता। अगर ईश्वर है, तो दिखा दो, इस गरीब ने कुछ गलत नहीं पूछा है, एक जिज्ञासा थी इसकी। लेकिन, नास्तिक को हम सदा मारने को उत्सुक होते हैं। इसका मतलब है कि हमारी आस्तिकता झूठी है—'होकस-फोकस'। उसमें कुछ जान नहीं है। ऊपरी ढाँचा है। जरा सा कोई खरोंच देता है, तो भीतर खलबली मच जाती है।

आप मानते हैं कि आपके भीतर आत्मा है। क्या आपको पता है ? कभी मुलाकात हुई आत्मा से। छोड़ो ईश्वर ! ईश्वर बड़ा दूर है। भीतर आत्मा बिलकुल पास है। कहते हैं कि हृदय से भी करीब है। मुहम्मद कहते हैं कि गले की फड़कती नस से भी करीब है ! आत्मा का आपको पता है ? कि यह भी किताब में पढ़ा है। बड़ा मजेदार है।

रामकृष्ण के पास एक दिन एक आदमी आया। रामकृष्ण ने कहा कि सुना है पड़ोस में तुम्हारा मकान गिर गया है। उसने कहा : 'मैंने सुबह का अखबार अभी देखा नहीं ! जाकर देखता हूँ।'

मकान गिरे, तो भी अखबार में पता चलता है ! मगर यह भी ठीक है; क्योंकि पड़ोस कोई छोटी बात नहीं, बड़ी बात है—नहीं पता चला होगा। लेकिन, आपको अपनी आत्मा का पता भी अखबार में पढ़ने से चलता है कि 'है,' कि 'नहीं है।'

अखबार में एक लेख निकल जाये कि आत्मा नहीं है, तो आपको भी शक आ जाता है कि किताब में पढ़ लें कि आत्मा है, तो आपको भरोसा आ जाता है। लोग पूछते फिरते हैं कि आत्मा है ? बड़े मजे की बात है ! और सब चीजें पूछी जा सकती हैं, दूसरे से। क्या यह भी दूसरे से पूछने की बात है कि 'मैं हूँ !'—कोई मुझे बता दे कि 'मैं हूँ।'

महावीर कहते हैं : यह भी असत्य है। मत कहो कि 'मैं हूँ,' जब तक तुम्हें पता न चल जाये। मत कहो कि भीतर आत्मा है, जब तक तुम्हें पता न चल जाये। कौन जाने सिर्फ हड्डी माँस का जोड़ हो ! कौन जाने यह बोलना और चलना सिर्फ 'बाइ-प्रोडक्ट' हो—जैसा कि चार्वाक ने कहा है।

पान में हम पाँच चीजें मिला लेते हैं, फिर होठों पर लाली आ जाती है। यह लाली 'बाइ-प्रोडक्ट' है। क्योंकि पाँच चीजों को अलग-अलग मुँह में ले जायें, तो लाली नहीं आती। पाँचों को मिला दें, तो पांचो के मिलने से लाली पैदा हो जाती है। लेकिन लाली कोई अलग चीज नहीं है। पाँचो का दान है। पाँचो को अलग कर लें, तो लाली खो जाती है। पाँचों को आप अलग करके यह नहीं कह सकते कि लाली अब कहीं है।

चार्वाक ने कहा है कि यह शरीर भी सिर्फ पाँच तत्त्वों का जोड़ है। इसमें जो आत्मा दिखायी पड़ती है, वह 'बाइ-प्रोडक्ट' है, (उप-उत्पत्ति है।) वह कोई तत्त्व नहीं है। तत्त्व तो पाँच हैं; उनके जोड़ से, उनके संयोग से आत्मा दिखाई पड़ती है। पाँचों तत्त्वों को अलग कर लें, तो आत्मा बचती ही नहीं, खो जाती है, समाप्त हो जाती है।

तो, महावीर कहते हैं : कौन जाने चार्वाक सही हो। झूठ मत बोलो कि मैं आत्मा हूँ, कि मैं अमर हूँ। मत कहें कि पुनर्जन्म है, जब तक जान न लें। मत कहें कि पुण्य का फल सदा ठीक होता है। मत कहें कि पाप सदा दुख में ले जाता है, जब तक जान न लें।

....सामूहिक असत्य हैं। फिर, रोजमर्रा के काम चलाऊ असत्य भी हैं, जिनको कभी हम सोचते नहीं कि असत्य हैं।

रास्ते में एक आदमी आपसे पूछता है—कैसे हैं ? आप कहते हैं, 'बड़े मजे में हूँ।' कभी नहीं सोचते कि क्या कहा !

'....बड़े मजे में हूँ !'—एक दफा फिर से सोचें—'बड़े मजे में हूँ ?'

कहीं कोई भीतर समर्थन न मिलेगा। लेकिन, जब कोई पूछता है रास्ते पर कि कैसे हैं, तो आप कहते हैं कि बड़े मजे में हूँ ! और जब कहते हैं कि बड़े मजे में हूँ, तो पैर की चाल बदल जाती है। टाई वगैरह ठीक करके चलने लगते हैं। ऐसा लगने भी लगता है कि बड़े मजे में हूँ।

चार लोग पूछ लें, तो दिल खुश हो जाता है। कोई न पूछे, तो दिल उदास हो जाता है। जब कोई आदमी कहता है—'हेलो'...तो भीतर गुदगुदी

हो जाती है। लगता भी है उस क्षण में कि जिन्दगी बड़े मजे में जा रही है।

ये कामचलाऊ असत्य हैं, ये उपयोगी हैं। एक दूसरे को हम ऐसे ही सहारा देते रहते हैं।

महावीर कहते हैं—कामचलाऊ असत्य भी नहीं। कुछ भी हम बोलते रहते हैं!

फिर आदतन असत्य भी हैं—कोई कारण नहीं होता, कोई हेतु नहीं होता—हम आदतन बोलते रहते हैं।

मेरे एक प्रोफेसर थे। किसी भी किताब का नाम लो, वे सदा कहते, 'हाँ मैंने पढ़ी थी—पंद्रह-बीस साल हो गये'—यह आदतन था; क्योंकि 'पंद्रह-बीस साल', सदा वे कहते थे। सारी किताबें उन्होंने पंद्रह-बीस साल पहले नहीं पढ़ी होंगी। कोई साल पहले पढ़ी होगी, कोई दस साल पहले पढ़ी होगी, कोई पचास साल पहले पढ़ी होगी।

बूढ़े आदमी थे। लेकिन वे सदा कहते—पंद्रह-बीस साल पहले मैंने यह किताब पढ़ी थी। यह उनका तकिया-कलाम था।

मैंने उनके समक्ष ऐसी-ऐसी किताबों के नाम लिये, जो कि हैं ही नहीं; पर वे उनके लिए भी कहते: 'हाँ मैंने पढ़ी थी—पंद्रह-बीस साल पहले।' तब मुझे पता चला कि वे झूठ नहीं बोलते, आदतन झूठ बोलते हैं। उनकी आंख से भी पता नहीं चलता था कि वे झूठ बोल रहे हैं। और झूठ बोलने का कोई कारण भी नहीं था। कोई उन किताबों को पढ़ा हो, न पढ़ा हो, इससे उनकी प्रतिष्ठा में कोई फर्क नहीं पड़ता था। वे काफी प्रतिष्ठित थे।

एक दिन मैंने उनको जाकर कहा कि यह किताब तो है ही नहीं, जिसको आपने पन्द्रह-बीस साल पहले पढ़ा—न तो यह कोई लेखक है, न यह कोई किताब है, तो उन्हें होश आया। उन्होंने कहा: 'यह मेरी आदत हो गई है।'

यह आदत क्यों हो गई? इस आदत के पीछे कहीं गहरा कोई हेतु है! 'ऐसी कोई किताब हो कैसे सकती है—यह नीचे बहुत गहरा दब गया। बरसों पहले—लेकिन, अब यह आदतन है।

आप बहुत सी बातों को आदतन बोल रहे हैं—जो असत्य हैं।

फिर ऐसे सत्य हैं, जो अनिश्चित भी हैं।

जब आप कह देते हैं कि फलां आदमी पापी है, तो आप गलत बात कह देते हैं। क्योंकि आपको खबर है, वह पुरानी पड़ चुकी है। सम्भव है पापी

इस बीच पुण्यात्मा हो गया हो ! कोई भी पापी, कोई ठहरी हुई बात नहीं है जो आज सुबह पापी था, वह साँझ साधु हो सकता है। और जो आज सुबह परम-साधु था, वह साँझ पापी हो सकता है।

जिन्दगी तरल है और शब्द ठोस होते हैं। आप कहते हैं : फलां आदमी पापी है, महावीर नहीं कहेंगे। वे कहेंगे आदमी एक प्रवाह है। महावीर कहेंगे, 'स्यात्', शायद पापी हो, शायद पुण्यात्मा हो।

फिर जो आदमी पापी है, वह पाप करने में भी पूरा पापी नहीं होता। उसके पाप में भी पुण्य का हिस्सा हो सकता है। और जो आदमी पुण्य कर रहा है, उसके पुण्य में भी पाप का हिस्सा हो सकता है।

आदमी बड़ी घटना है, कृत्य बड़ी छोटी बात है। चोर भी आपस में सत्य बोलते हैं और ईमानदार होते हैं। और जिनको हम साधु बोलते हैं, उनसे ज्यादा सत्य बोलते हैं। आपस में और ज्यादा ईमानदार होते हैं। दस साधुओं को पास बिठाना मुश्किल है, लेकिन दस चोर गले मिल जाते हैं। दस साधुओं को इकट्ठा करना मुश्किल है। उनमें इस पर झगड़ा हो जाता है कि कौन कहाँ बैठे। कौन नीचे बैठे और कौन ऊपर बैठे। किसी चोर में कभी झगड़ा नहीं हुआ, इस बात पर।

साधु के भीतर भी चोर छिपा है और चोर के भीतर भी साधु छिपा है। चोर की चोरी बाहर है, पीछे साधु छिपा है। चोरी जब करनी हो तो वचन मानना पड़ता है, नियम मानने पड़ते हैं, सचाई रखनी पड़ती है, ईमानदारी रखनी पड़ती है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन पर चोरी का एक मुकदमा चला। वह सात बार एक रात एक ही दुकान में घुसा और सातवीं बार पकड़ लिया गया। मेजिस्ट्रेट ने उससे पूछा कि नसरुद्दीन, चोरी भी हमने बहुत देखी, मुकदमें भी बहुत देखे, लेकिन एक ही रात में सात बार घुसना—एक ही दुकान में—मामला क्या है ! अगर ज्यादा ही सामान ढोना था, तो संगी-साथी क्यों नहीं कर लिया—अकेले ही सात दफा !

नसरुद्दीन ने कहा, 'बड़ा मुश्किल है। लोग इतने बेईमान हो गये हैं कि किसी को संगी-साथी बनाना चोरी तक में मुश्किल हो गया है। और दुकान थी कपड़े की, जो भी चुराकर ले गया, पत्नी ने ना-पसन्द कर दिया। रात भर कपड़े ढोता रहा—उसमें फँसा।'

नसरुद्दीन कहता है : और लोग इतने बेईमान हो गये हैं कि अकेले ही चोरी करनी पड़ती है, किसी का भरोसा नहीं किया जा सकता—चोरी तक में। साधुओं में तो कभी भरोसा आपस में रहा नहीं, लेकिन चोरों में सदा रहा है।

चोर कभी चोर को धोखा नहीं देता। चोरी का भी कोड है। जैसे हिन्दू-कोड है, वैसे चोरों का कोड है। उनका अपना नियम है, वे कभी धोखा नहीं देते।

महावीर कहते हैं : जब हम किसी को चोर कहते हैं, तो पूरा ही चोर कह देते हैं, जो कि गलत है। जब हम किसी को साधु कहते हैं, तो पूरा ही साधु कह देते हैं, जो कि गलत है। जीवन मिश्रण है। सभी चीजें मिली-जुली हैं। पूर्ण सत्य बोलना बड़ा मुश्किल है, फिर क्या बोलियेगा !

एक आदमी कहता है : सुबह सूरज निकला है, बड़ा सुन्दर है। मुश्किल है कहना कि यह पूर्ण सत्य है। क्योंकि प्रत्येक कहा गया सत्य निजी सत्य है, और हो सकता है कि एक का निजी सत्य, दूसरे का निजी सत्य न हो। जिसका बच्चा आज सुबह मर गया है, सूरज आज उसे सुन्दर नहीं मालूम पड़ेगा। तो 'सूरज सुन्दर है'—यह निजी सत्य है। यह 'एब्सोल्यूट' सत्य नहीं है। जिसका बच्चा मर गया है, वह रो रहा है। वह चाहता है कि अब कभी सूरज उगे ही न—अब दिन कभी हो ही न, अब अँधेरा ही छा जाये, अब रात ही हो जाये। अब सूरज उसे दुश्मन की तरह मालूम होगा, जब सुबह उगेगा। अब वह सुन्दर नहीं हो सकता।

सूरज कब सुन्दर होता है? जब आपके भीतर सूरज को सुन्दर बनाने की कोई घटना घटती है। सूरज असुन्दर हो जाता है, जब आपके भीतर सूरज को अँधेरा करने की कोई घटना घट जाती है।

आप अपने को ही फैला कर जगत् में देखते रहते हैं। तो, जो आप देखते हैं, वह निजी सत्य है—'प्राइवेट ट्रुथ।' और सत्य कभी निजी नहीं होता। असत्य निजी होते हैं। सत्य तो सार्वजनीय 'युनिवर्सल' होता है, सार्वभौम होता है।

इसलिए महावीर कहेंगे शायद सूरज सुन्दर है, कभी भी ऐसा नहीं कहेंगे कि सूरज सुन्दर है। कहेंगे—'शायद,' 'परहैप्स'। महावीर एक वचन में कभी भी ऐसा नहीं कहेंगे कि 'ऐसा है'। वे ऐसा कहेंगे कि 'हो सकता है'। वे ये भी कहेंगे कि इसके 'विपरीत भी हो सकता है।'

यह सूरज हजारों-लाखों ने देखा है। कोई दुखी होगा, तो सूरज उसे असुन्दर होगा। कोई सुखी होगा, तो सूरज उसे सुन्दर होगा। कोई चिन्तित होगा, तो सूरज उसे दिखाई ही नहीं पड़ेगा। कोई कविता से भरा होगा, तो सूरज उसे पूरा जीवन और आत्मा बन जायेगा। कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि यह निजी सत्य है।

महावीर बारह वर्ष तक चुप रहे, क्योंकि सत्य बोलना बहुत कठिन है। इसलिए महावीर कहते हैं: 'इस प्रकार का सत्य बोलना सदा बड़ा कठिन है।' ऐसा सत्य जो बोलना चाहता हो, उसे लम्बे मौन से गुजरना पड़ेगा, गहरे परिश्रम से गुजरना पड़ेगा।

अगर जैन यह कहते हैं कि महावीर जैसी वाणी कभी नहीं बोली गई, तो इसका कारण है : महावीर जैसा मौन भी कभी नहीं साधा गया। इसलिए महावीर जैसी वाणी भी फिर नहीं बोली गई। इतने मौन से, इतने परिक्षण से, इतनी कठिनाइयों से, इतनी कसौटियों से गुजर कर जो आदमी बोलने को राजी हुआ, तो उसने जो बोला है, वह बहुत गहरा और मूल्य का होगा ही।

'श्रेष्ठ साधु पापमय, निश्चयात्मक और दूसरों को दुख देनेवाली वाणी न बोलें।'

श्रेष्ठ साधु पापमय, निश्चयात्मक, 'सेटॅल' बातें न बोलें। ऐसा न कह दें कि वह आदमी चोर है। इतना निश्चयात्मक होना असत्य की तरफ ले जाता है।

यह बड़ी अद्‌भुत बात है। यह थोड़ा सोच लेने जैसी बात है। हम तो कहेंगे कि सत्य निश्चित होता है। लेकिन, महावीर कहते हैं—सत्य इतना बड़ा है कि हमारे किसी निश्चित वाक्य में समाहित नहीं होता। जब हम कहते हैं : फलाँ आदमी पैदा हुआ, तब यह अधूरा सत्य है क्योंकि जैसे ही पैदा हुआ, वैसे ही उस आदमी ने मरना शुरू कर दिया।

सन्त अगस्तीन ने एक संस्मरण लिखा है : उसका बाप मर रहा है, मरण-शैय्या पर पड़ा है और डाक्टर इलाज कर रहे हैं। आखिर इलाज काम नहीं आया...।

एक दिन तो ऐसा आता है कि डॉक्टर काम नहीं पड़ता। कभी न कभी डॉक्टर हारता है और मौत जीतती है। डॉक्टर बीच-बीच में कितना ही जीतता रहे, आखिर में तो हारेगा ही। इस लड़ाई में अंतिम जीत डॉक्टर के हाथ में नहीं है, सदा मौत के हाथ में है।

जिन्दा है। इसमें सात का क्या सवाल है! लेकिन, महावीर जवाब देते हैं: शायद मर गया। शायद जिन्दा है। शायद दोनों हैं। शायद दोनों नहीं हैं। ऐसा वे सात भंगियों में उत्तर देते हैं और आपको कुछ भी समझ में नहीं पड़ता। लेकिन महावीर ने सत्य बोलने की अथक चेष्टा की है। ऐसी चेष्टा किसी आदमी ने पृथ्वी पर कभी नहीं की।

सत्य बोलने की चेष्टा अति जटिल मामला है। जब कहते हैं आप कि एक आदमी मर गया, तो जरूरी नहीं है कि वह मर गया हो। क्योंकि अभी उसकी छाती पर 'मसाज' (मालिश) की जा सकती है, अभी उसे 'ऑक्सीजन' दी जा सकती है, अभी खून दौड़ाया जा सकता है और यह हो सकता है आदमी जिन्दा हो जाये। तो, आपका यह कहना कि यह मर गया है, गलत है।

रूस में, पिछले महायुद्ध में कोई बीस लोगों पर प्रयोग किये गये, उनमें से छः जिन्दा हो गये। वे अभी भी जिन्दा हैं। डॉक्टर ने लिख दिया था कि वे मर गये हैं।

मृत्यु भी कई हिस्सों में घटित होती है, शरीर में। मृत्यु कोई इकहरी घटना नहीं है। जब आप मरते हैं, तो पहले आप के जो बहुत जरूरी हिस्से हैं, वे टूटते हैं। शरीर से जुड़े वे ऊपरी हिस्से टूट जाते हैं, जो आपको परिधि पर सँभाले हुए हैं। लेकिन इतने से आप मर नहीं जाते, अभी आप जिलाये जा सकते हैं। अभी अगर हृदय दूसरा लगाया जा सके, तो आप फिर जी उठेंगे। धड़कन फिर शुरू हो जायेगी। लेकिन यह हो जाना चाहिये छः सेकण्ड के भीतर। अगर छः सेकण्ड पार हो गये, तो जो लोग हृदय के बन्द हो जाने से मरते हैं, 'हार्ट-फेल' से मरते हैं, छः सेकेण्ड के भीतर उनमें से बहुत से लोग पुनः जीवित हो सकते हैं।

इस सदी के अन्त तक, छः सेकण्ड के भीतर हृदय बदल दिया जाये, उपाय हो सकेगा। इसका एक ही उपाय वैज्ञानिक सोचते हैं (जो कि जल्दी कारगर हो जायेगा) कि एक 'एक्स्ट्रा', 'स्पेअर' (अतिरिक्त) हृदय पहले से लगा रखना चाहिए और यह 'आटोमैटिक चेन्ज' (स्व-नियंत्रित परिवर्तन) होना चाहिये। जैसे ही पहला हृदय बन्द हो दूसरा धड़कना शुरू हो जाना चाहिये, तो ही यह छः सेकण्ड के भीतर हो पायेगा।

अगर छः सेकण्ड से ज्यादा हो जायें, तो मस्तिष्क के गहरे तन्तु टूट जाते हैं, फिर उनको स्थापित करना मुश्किल होता है। और एक दफे तन्तु टूट

जायें, तो फिर हृदय भी नहीं धड़क सकता, क्योंकि वह भी मस्तिष्क की आज्ञा से ही धड़कता है—चाहे आपको आज्ञा का पता हो या न हो।

अगर कोई आदमी पूरे मन से भाव कर ले मरने का, तो इसी वक्त मर सकता है। या कोई जीवन की बिलकुल आशा छोड़ दे, इसी वक्त—मस्तिष्क अगर आशा छोड़ दे पूरी, तो हृदय धड़कना बन्द कर देगा, क्योंकि आज्ञा मिलनी बन्द हो जायेगी। इसलिए आशावान लोग ज्यादा जी लेते हैं और निराश लोग जल्दी मर जाते हैं।

ध्यान रखना, दुनिया में सहज मृत्यु बहुत कम होती है, स्वाभाविक मृत्यु बड़ी मुश्किल घटना है। अधिक लोग आत्महत्या से मरते हैं। जब कोई छूरा मारता है, तो हमें दिखाई पड़ता है। जब कोई भीतर की निराशा से मरता है; तो हमें दिखाई नहीं पड़ता। जब कोई जहर पी लेता है, तो हमें दिखाई पड़ता है कि उसने आत्मघात कर लिया लेकिन आप भी आत्मघात से ही मरेंगे, पर वह दिखाई नहीं पड़ता। सौ में निन्यानबे मौके पर आदमी आत्मघात से ही मरता है।

पशु मरते हैं, स्वाभाविक मृत्यु—आदमी नहीं मरते। मर नहीं सकता आदमी, क्योंकि उसके जीवन पर पूरे वक्त प्रभाव डाल रहा है—आशा-निराशा, जीना नहीं जीना—यह सब भीतर से प्रभावित कर रहा है। और जिस दिन मन पूरा राजी हो जाता है कि जीना नहीं, उसी दिन हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है।

अगर मस्तिष्क के तन्तु टूट गये, तो फिर मुश्किल है। अभी मुश्किल है, पर सौ, दो सौ साल में मुश्किल नहीं होगा। क्योंकि मस्तिष्क तन्तु भी किसी न किसी दिन 'रिप्लेस' किये जा सकेंगे। कोई अड़चन नहीं है कि तब आदमी जिन्दा हो जाये।

तो कब कहें कि आदमी मरा हुआ है?

जब तक शरीर और आत्मा का सम्बन्ध नहीं टूट जाता, तब तक आदमी मरा हुआ नहीं है। और यह सम्बन्ध कब टूटता है, अभी तक तय नहीं हुआ। कहीं टूटता है, लेकिन कब टूटता है, अभी तक तय नहीं हुआ। किसी गहरे क्षण में जा कर टूट जाता है, फिर कुछ भी नहीं किया जा सकता। फिर मस्तिष्क बदल डालो, हृदय बदल डालो, सारा खून बदल डालो, पूरा शरीर बदल डालो, तो भी वह लाश ही होगी।

जब शरीर और आत्मा का सम्बन्ध टूट जाये, तब हमें कहना चाहिए कि आदमी मर गया। लेकिन तब भी यह बात अधूरी है, क्योंकि मरता कोई भी नहीं। शरीर सदा से मरा हुआ था, वह अब भी मरा हुआ है। और आत्मा सदा से अमर थी, वह अब भी अमर है। मरा कोई भी नहीं, तो कैसे हम कहें कि आदमी मर गया !

यह मैंने एक उदाहरण के लिए कहा।

महावीर कहेंगे—'स्यात्'। निश्चयात्मक कुछ मत बोलना, 'एब्सोल्यूटिस्टिक' कुछ मत बोलना।

इसलिए महावीर शंकर को पसन्द न पड़े, बुद्ध को भी पसन्द न पड़े, हिन्दुस्तान में बहुत कम विचारकों को पसन्द पड़े। क्योंकि विचारक का यह मजा होता है कि कुछ निश्चित बात का पता चल जाये, नहीं तो उसका मजा ही खो जाता है।

शंकर कहते हैं—'ब्रह्म है'। महावीर कहेंगे—'स्यात्'। शंकर कहेंगे—'माया है'। महावीर कहेंगें—'स्यात्'।

चार्वाक कहता है—'आत्मा नहीं है'। महावीर कहते हैं—'स्यात्'। यदि कोई कहे कि 'ईश्वर नहीं है',—तो महावीर उससे भी कहेंगे–'स्यात्'। वे कहते यह हैं कि हम जो भी बोल सकते हैं, जो भी कहा जा सकता है, वह सदा ही अंश होगा। और उस अंश को पूर्ण मान लेना, असत्य है।

इसलिए महावीर कहते हैं। सभी दृष्टियाँ असत्य होती हैं, सभी देखने के ढंग अधूरे होते हैं, इसलिए असत्य होते हैं। और पूर्ण को देखने का कोई ढंग नहीं है, क्योंकि सभी ढंग अधूरे होते हैं।

मैं आपको कहीं से भी देखूं, वह अधूरा होगा। कैसे भी देखूं, वह अधूरा होगा। पूर्ण को तो वही देख सकता है, जो सब दृष्टियों से मुक्त हो गया हो।

महावीर के दर्शन का, सम्यक् दर्शन का अर्थ है—सब दृष्टियों से मुक्त हो जाना। एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाना, जहाँ कोई दृष्टि शेष नहीं रह जाती, देखने का कोई ढंग शेष नहीं रह जाता। तब आदमी पूर्ण-सत्य को जानता है। लेकिन सिर्फ जान सकता है, और जब कहेगा तो फिर दृष्टि का उपयोग करना पड़ेगा, तब वह फिर अधूरा हो जायेगा। इसलिए महावीर की यह बात समझ लेने जैसी है।

सत्य पूरा जाना जा सकता है, लेकिन कहा कभी नहीं जा सकता। जब भी सत्य कहा जायेगा, वह असत्य हो ही जायेगा। इसलिए सावधानी बरतना और निश्चयात्मक रूप से कुछ भी मत कहना।

हम तो असत्य को भी इतने निश्चय से कहते हैं कि जिसका हिसाब नहीं। और महावीर कहते हैं कि सत्य को भी निश्चय से मत कहना। हम तो असत्य को भी बिलकुल दावे की तरह कहते हैं। सच तो यह है कि जितना बड़ा असत्य होता है, उतना जोर से हम 'टेबल' पीटते हैं; क्योंकि सहारा लेना पड़ता है। जितना असत्य बोलना हो, उतना जोर से बोलना चाहिए। धीमे बोलो, तो लोग समझेंगे कि कुछ गड़बड़ है। इसलिए जोर से बोलो, टेबल को पीट कर बोलो, तो···!

सागर युनिवर्सिटी के 'वाइस चान्सलर' (उप कुलपति) थे डॉ. गौड़। वे बड़े वकील थे। उन्होंने मुझसे कहा कि मेरे गुरु ने मुझे कहा था कि जब तुम्हारे पास कानूनी प्रमाण हो, तो अदालत में धीरे बोलने से भी चल जायेगा। जब तुम्हारे पास प्रमाण हो कानूनी, तो किताबें ले जाने की और कानूनों का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। पर जब तुम्हारे पास कानूनी प्रमाण न हों, तो अदालत में बड़े-बड़े ग्रन्थ लेकर पहुँचना। और जब तुम्हें पक्का हो कि इसके विपरीत प्रमाण हैं, तब टेबल को जितने जोर से पीट सको जज के सामने, पीटना।

जितना बड़ा असत्य हो, उतने निश्चय से बोलना पड़ता है, अन्यथा आपके असत्य को कोई मानेगा कैसे? इसलिए असत्य बोलने के लिए भोली शक्ल हो, निश्चय वाला मन हो, आवाज तेज हो, तो कुशल हो सकते हैं, अन्यथा मुश्किल में पड़ेंगे। साधु होने के लिए उतनी भोली-शक्ल आवश्यक नहीं है, जितनी अपराधी होने के लिए। इसलिए भोली-शक्ल के साधु खोजना अक्सर मुश्किल है, लेकिन भोली-शक्ल के अपराधी निरन्तर मिल जायेंगे; क्योंकि अपराध के लिए भोली-शक्ल बहुत जरूरी है—झूठ बोलने के लिए और तरह के प्रमाण चाहिये।

महावीर कहते हैं कि सत्य को भी निश्चय से मत बोलना। इसलिए महावीर का बहुत प्रभाव नहीं पड़ा। हैरानी की बात है कि महावीर जैसी ज्वलंत-प्रतिमा के व्यक्ति का प्रभाव न के बराबर पड़ा। जीसस को मानने वाली आधी दुनिया है। बुद्ध को मानने वालों में करोड़ों-करोड़ों लोग हैं। मोहम्मद को मानने वाले करोड़ों-करोड़ों लोग हैं। महावीर को मानने वाले कितने लोग हैं? कोई भी नहीं। वह जो पच्चीस लाख लोग दिखाई पड़ते हैं, इनको मानते हुए, वह भी मजबूरन हैं। कोई मानने वाला नहीं है।

महावीर को मानना कठिन है; क्योंकि मानने पर आदमी गुरु के पास जाता है इसलिये, कि हम अनिश्चित हैं, आप निश्चय से कुछ कहें, तो भरोसा मिले। और महावीर निश्चय से कुछ बोलते नहीं। वे कहते हैं, एक ही बात निश्चित है कि निश्चित रूप से सत्य बोला नहीं जा सकता।

जो आदमी आश्वासन खोजने आया है, (और सभी लोग आश्वासन खोजने आते हैं, गुरु के पास) वह ऐसे गुरु का कैसे जान पायेगा? महावीर को मानने के लिए तो बड़ी गहन-जिज्ञासा चाहिये, बड़ी गहन-जिज्ञासा—आश्वासन की तलाश नहीं, सान्त्वना नहीं—खोज।

बहुत थोड़े से लोग महावीर को मान पाये। ज्यादा लोग कभी भी मान सकेंगे, इसमें शक मालूम पड़ता है। लेकिन किसी न किसी दिन जैसे-जैसे मनुष्य का मन विस्तीर्ण होगा और सत्य के अनन्त पहलू हमें दिखाई पड़ने शुरू होंगे, वैसे-वैसे निश्चय का जोर गिर जायेगा।

निश्चय कमजोरी है। अनिश्चय बड़ी प्रज्ञा है।

आइन्स्टीन अनिश्चित है, विज्ञान के जगत् में। महावीर अनिश्चित हैं, दर्शन के जगत् में। यह दो शिखर हैं, अद्भुत्। महावीर ने दर्शन को जितना दिया, उतना ही आइन्स्टीन ने विज्ञान को दिया। महावीर ने स्यात्वाद दी और आइन्स्टीन ने 'रिलेटिविटि'। पर दोनों अनिश्चित हैं।

आइन्स्टीन कहता है : कोई भी सत्य निरपेक्ष नहीं है, सापेक्ष है, किसी की तुलना में है—सीधा पूर्ण-सत्य कुछ भी नहीं है।

विज्ञान को हम बहुत निश्चित बात सोचते थे लेकिन नया-विज्ञान एकदम अनिश्चित होता चला जाता है। मेरी अपनी समझ यह है कि जहाँ भी सत्य के निकट पहुँचता है मनुष्य, वहीं अनिश्चित हो जाता है।

जब हम दर्शन में सत्य के निकट पहुँचे, तो महावीर के साथ अनिश्चय हो गया—'स्यात्,' 'रिलेटिव,' निरपेक्ष नहीं सापेक्ष। कहो, लेकिन यह जानकर कि जो कहा जा रहा है, वह अधूरा है, अंश है, पूरा नहीं है, इसके विपरीत भी सही हो सकता है।

विज्ञान में आइन्स्टीन के साथ हम फिर दूसरी दिशा से सत्य के निकट पहुँचे। सब अनिश्चित हो गया। आइन्स्टीन ने कहा कि कहो, लेकिन ध्यान रखना कि सब तुलनात्मक है। कोई चीज पूर्ण नहीं है। सब अधूरा है।

अनिश्चित ज्ञान का अनिवार्य अंग है। वक्तव्य तो अनिश्चित ही होंगे, अनुभव निश्चित हो सकता है।

सत्य के लिए इतनी कठिन शर्तें—'क्रोध, लोभ, भय, हँसी-मजाक में भी असत्य नहीं बोलना चाहिये।'

हँसी-मजाक में भी हम ऐसे ही नहीं बोलते असत्य, उसमें भी हेतू होता है। अक्सर तो जब आप मजाक करते हैं किसी का, तो चोट पहुँचाने के लिए ही करते हैं। इसलिए बुद्धिमान आदमी दूसरे का मजाक न करके अपना ही मजाक करते हैं, क्योंकि दूसरे पर की गई मजाक में हिंसा हो सकती है।

यह जो मुल्ला नसरुद्दीन की इतनी कहानियाँ आपको कहता हूँ। यह कहानियाँ खुद के उपर किये गये मजाक हैं। हर कहानी में मुल्ला खुद ही फंसता है, खुद ही मूढ़ सिद्ध होता है। वह अपने पर ही हंसता रहा है।

नसरुद्दीन ने कहा है कि जो दूसरों पर हँसता है, वह ना-समझ है और जो अपने पर हँस सकता है, वह समझदार है।

हम मजाक भी करते हैं, तो उसमें भी चोट है, आघात है किसी के लिए।

फ्रायड ने मजाक पर बड़ी खोज की है। वह महावीर से राजी होता अगर उसे पता चलता कि महावीर ने कहा है कि मजाक में भी असत्य मत बोलना। फ्रायड ने कहा है कि तुम्हारी सब मजाकें तरकीबें हैं। तुम जो हिम्मत से सीधा नहीं बोल पाते, वह तुम मजाक से बोलते हो।

कभी ख्याल किया आपने कि जितने 'जोक्स' आपने सुने हैं, उनमें निन्यानवे प्रतिशत 'सेक्स' से सम्बन्धित क्यों होते हैं? जिस मजाक में काम-वासना न आ जाये उसमें कुछ मजाक जैसा मालूम नहीं पड़ता। क्यों? क्योंकि 'सेक्स' के सम्बन्ध में हम सीधा नहीं बोल सकते, इसलिए मजाक से बोलते हैं। वह झूठ है, हमारा छिपाया हुआ। जो हम सीधा नहीं बोल सकते, उसे हम गोल-मोल करके घुमा-घुमा के बोलते हैं।

कभी आपने ख्याल किया कि मजाक में आप किसको अपमानित करते हैं!

समझ लें कि एक रास्ते पर एक राजनैतिक नेता एक केले के छिलके पर फिसल कर गिर पड़े, तो आपको ज्यादा मजा आयेगा, बजाय एक मजदूर के गिर पड़ने के। क्यों? क्योंकि राजनैतिक नेता को आप नीचे गिरा कर देखने की बहुत दिन से इच्छा किये बैठे हैं। एक मजदूर गिर पड़े, तो दया भी

जायेगी। एक राज-नेता गिर पड़े तो दिल खुश हो जायेगा। केले का छिलका वही है, गिरने की घटना वही है, लेकिन राजनैतिक नेता गिरता है, तो इतना मजा क्यों आता है? बहुत दिन से चाहा था कि गिरे। जो हम न कर पाये, वह केले के छिलके ने कर दिखाया, इसलिए दिल खुश हो जाता है।

हमारी मजाक में भी हमारे हेतु हैं। हम जब हँसते हैं, तब भी हमारे हेतु हैं। हम न तो अकारण हँस सकते हैं और न अकारण रो सकते हैं। सब जगह हेतु है।

महावीर कहते हैं। वहाँ भी खोजते रहना, सावधान रहना, मजाक में भी असत्य नहीं बोलना।

आज इतना ही, रुकें पाँच मिनट, कीर्तन करें।

द्वितीय पर्युपण व्याख्यानमाला, वम्बई
७ सितम्बर, १९७२

चौथा प्रवचन

ब्रह्मचर्य-सूत्र : १

०

विरई अबंभचेरस्स, काम-भोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयन्ति णं ॥

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥

जो मनुष्य काम और भोगों के रस को जानता है, उनका अनुभवी है, उसके लिए अब्रह्मचर्य त्यागकर ब्रह्मचर्य के महाव्रत को धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।

निर्ग्रन्थ मुनि अब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन-संसर्ग का त्याग करते हैं, क्योंकि यह अधर्म का मूल ही नहीं, अपितु बड़े-से-बड़े दोषों का भी स्थान है।

जो मनुष्य अपना चित्त शुद्ध करने, स्वरूप की खोज करने के लिए तत्पर है, उसके लिए देह का श्रृंगार, स्त्रियों का संसर्ग और स्वादिष्ट तथा पौष्टिक भोजन (दूध, मलाई, घी, मक्खन, विविध मिठाइयाँ आदि) का सेवन विष जैसा है।

काम-ऊर्जा, 'सेक्स-एनर्जी' मनुष्य के पास एक-मात्र ऊर्जा है।

एक ही शक्ति है मनुष्य के पास, उस शक्ति को हम कोई भी नाम दे सकते हैं। वह शक्ति दो दिशाओं में गतिमान हो सकती है।

काम-ऊर्जा किसी दूसरे के प्रति गतिमान हो, तो यौन बन जाती है और काम-ऊर्जा यदि स्वयं के प्रति गतिमान हो, तो योग बन जाती है। ऊर्जा एक है, लेकिन दिशाओं के भेद से सारा जीवन भिन्न हो जाता है।

पानी हम गर्म करें सौ डिग्री तक, तो पानी भाप बन जाता है, हल्का हो जाता है, आकाश की तरफ उड़ने में सक्षम हो जाता है। पानी को हम ठंडा करें, तो शून्य डिग्री के नीचे पानी जमकर बर्फ हो जाता है, भारी हो जाता है, जमीन की गुरुत्वाकर्षण की शक्ति उस पर वजनी हो जाती है।

भाप भी पानी है और बर्फ भी पानी है, लेकिन भाप आकाश की तरफ उड़ती है और बर्फ जमीन की तरफ गिर जाती है।

ऊर्जा एक है, दिशाएं दो हैं।

जिसे हम यौन कहते हैं, 'सेक्स' कहते हैं, वह उसी 'एक्स,' अज्ञात ऊर्जा का नीचे की तरफ प्रवाह है। शून्य डिग्री के नीचे बर्फ बन जाता है। जमीन का गुरुत्वाकर्षण उस पर सघन हो जाता है। वही ऊर्जा, वही 'एक्स', अज्ञात शक्ति अगर ऊपर को उठनी शुरू हो जाये, तो सौ डिग्री के पार परमात्मा की तरफ, भाप की तरह उठनी शुरू हो जाती है। जमीन का नीचे का खिंचाव समाप्त हो जाता है। शक्ति एक है, दिशाएँ अलग हैं।

तो पहली बात यह समझ लेनी जरूरी है कि शक्ति एक है और उसके उपयोग पर निर्भर करेगा कि वह आपको कहां ले जाये।

दूसरी बात यह समझ लेनी जरूरी है कि शक्ति तटस्थ है। शक्ति स्वयं आपसे नहीं कहती कि क्या करें। शक्ति आपको हेतु नहीं देती, गति नहीं देती।

शक्ति तटस्थ आपके भीतर मौजूद है। आप ही जो करना चाहें, उस शक्ति का उपयोग करते हैं। शक्ति आपसे कुछ भी नहीं करवाती। आप नीचे की ओर बहाना चाहें, तो ऊर्जा नीचे की ओर बहेगी; ऊपर की ओर बहाना चाहें, तो ऊपर की ओर बहेगी। निर्णायक आप हैं, शक्ति नहीं। शक्ति आपके हाथ में है। अगर नीचे ले जायेंगे, तो नीचे के जो सुख-दुख हैं, वे मिलेंगे। अगर ऊपर ले जायेंगे, तो ऊपर के जो अनुभव हैं, वे मिलेंगे।

तीसरी बात समझ लेनी जरूरी है कि इस शक्ति के रूपान्तरण के दो उपाय हैं : एक उपाय का नाम है योग और दूसरे उपाय का नाम है तंत्र। दोनों विपरीत हैं। दोनों उपाय जितने विपरीत हो सकते हैं, उतने विपरीत हैं, लेकिन दोनों का लक्ष्य एक है।

विपरीत मार्ग भी एक लक्ष्य पर पहुँचा सकते हैं—इस सम्बन्ध में थोड़ी बात समझ लें, तो फिर यह सूत्र समझना आसान होगा।

तन्त्र की मान्यता है कि काम-ऊर्जा का पूरा अनुभव जब तक न हो, तब तक काम-ऊर्जा को रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। काम-ऊर्जा का जितना गहन अनुभव हो सके, उतना ही काम के रस से मुक्ति हो जाती है—यह महावीर से बिलकुल उलटा सूत्र है।

इसे थोड़ा समझ लें, तो फिर महावीर का जो बिलकुल विपरीत दृष्टिकोण है, वह समझना आसान हो जायेगा। 'कन्ट्रास्ट' में एक दूसरे को सामने रख कर देखना आसान हो जायेगा।

तन्त्र मानता है कि हम केवल उसी से मुक्त हो सकते हैं, जिसका हमें अनुभव हो, लेकिन क्यों? हम उसी से क्यों मुक्त हो सकते हैं, जिसका हमें अनुभव हो? तब तो इसका अर्थ यह होगा कि जिस दिन हमें मोक्ष का अनुभव होगा, हम मोक्ष से मुक्त हो जायेंगे! तब तो इसका अर्थ यह होगा कि जिस दिन हमें आनन्द का अनुभव होगा, हम आनन्द से मुक्त हो जायेंगे! तब तो इसका अर्थ होगा कि जिस दिन हम आत्मा का अनुभव कर लेंगे, उस दिन आत्मा व्यर्थ हो जायेगी!

नहीं, तन्त्र का कहना यह है कि जिस अनुभव की पूरी प्रक्रिया से गुजर कर अगर मुक्ति न हों, तो समझना कि वह अनुभव स्वभाव है। और जिस अनुभव से गुजर कर मुक्ति हो जाये तो समझना कि वह अनुभव प्रभाव है।

…उस अनुभव से मुक्ति हो जाती है, जिसमें पहले सुख मालूम पड़ता था। उस अनुभव से मुक्ति हो जाती है, जिसके ऊपर तो लिखा था अमृत, लेकिन

खोल फाड़ने पर जिसमें जहर मिलता है। उस अनुभव से मुक्ति हो जाती है; जो व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

इसलिए तन्त्र कहता है कि काम पूरा आवश्यक है, ताकि काम का रस विलीन हो जाये; क्योंकि काम का रस भ्रांत है। रस है नहीं, लेकिन प्रतीत होता है। जो प्रतीत होता है अगर उसमें पूरे अनुभव से गुजर जाये, तो वह विलीन हो जायेगा।

रात को अँधेरे में मुझे एक रस्सी साँप मालूम पड़ती है। उससे मैं कितना ही भागूँ, वह रस्सी मेरे लिए रस्सी न हो पायेगी, साँप ही बनी रहेगी।

तन्त्र कहता है कि निकट जाऊँ, प्रकाश को जला लूँ, देख लूँ, जान लूँ, अनुभव में आ जाए कि रस्सी है, साँप नहीं, तो भय विलीन हो जायेगा।

कामवासना मालूम होती है कि स्वर्ग है—मालूम होता है कि काम-वासना में गहरा आनन्द है। अगर वस्तुतः आनन्द है, जो तन्त्र कहता है : छोड़ना पागलपन है। अगर वस्तुतः आनन्द नहीं है, तो अनुभव से गुजर कर जान लेना जरूरी है कि रस्सी, रस्सी है—साँप नहीं। और जिस दिन दिखाई पड़ जायेगा कि अनुभव आनन्दहीन है—न केवल आनन्दहीन है, बल्कि दुख से परिपूरित भी है—उस दिन उसे कौन पकड़ना चाहेगा ?

यह तन्त्र की दृष्टि है। यह एक उपाय है। दूसरा एक उपाय है, जो महावीर की दृष्टि है—जो योग की दृष्टि है और ये दोनों बिलकुल विपरीत हैं, 'पोलर ऑपोजिट।'

महावीर कहते हैं कि जिसका अनुभव हो जाये, उससे छुटकारा मुश्किल है। महावीर कहते हैं कि—जिसका हम अनुभव करते हैं, अनुभव की प्रक्रिया में उसकी आदत निर्मित होती है। जितना अनुभव करते हैं, उतनी आदत निर्मित होती है, और आदत एक दुष्ट चक्र है। आदमी धीरे-धीरे यान्त्रिक हो जाता है। एक अनुभव किया, दूसरा अनुभव किया, फिर यह अनुभव हमारे शरीर के रोएँ-रोएँ की माँग बन जाता है। फिर इस अनुभव के बिना अच्छा नहीं लगता और अनुभव से भी अच्छा नहीं लगता। अनुभव करते हैं तो लगता है, कुछ भी न मिला, अनुभव नहीं करते तो लगता है, कुछ खो रहा है, खाली जगह मालूम होने लगती है।

महावीर कहते हैं कि अनुभव कर लिया जाये, तो अनुभव आदत का निर्माता हो जाता है और आदमी जीता है आदत से।

आप चौबीस घण्टे जो करते हैं, वह सिर्फ आदत है। जरूरी नहीं है कि करने के लिए कोई अन्तःप्रेरणा रही हो।

ठीक वक्त पर आप रोज भोजन करते हैं। उस वक्त शरीर कहता है भूख लगी है। जरूरी नहीं है कि भूख लगी हो।

आप एक बजे रोज भोजन लेते हों, घड़ी अगर बदल कर रख दी जाये और आपको पता न हो कि घड़ी बदल कर रख दी गयी है। अभी ग्यारह ही बजे हों और घड़ी में एक बजा दिया गया हो, तो आपको पेट खबर देना शुरू कर देगा कि भूख लग गई है। मन को खबर हुई कि एक बज गया, तो आदत दोहरनी शुरू हो जायेगी।

आप जिस वक्त सोते हैं अगर उसी वक्त न सो जाएँ, तो नींद तिरोहित हो जाती है। अगर नींद वास्तविक थी और आप रोज बारह बजे सोते थे, तो एक बजे रात तक नींद और भी तीव्रता से आनी चाहिए, लेकिन अगर बारह बजे नहीं सोये और एक बज गया, तो नींद आती ही नहीं। वह जो बारह बजे की नींद थी, आदतन थी, हैबीचुअल थी, वास्तविक नींद नहीं थी।

अगर आपको एक बजे भूख लगती है और अब तीन बज गए, तो आप हैरान होंगे कि भूख मर जाती है, हालाँकि बढ़नी चाहिए। अगर वास्तविक भूख है, तो एक बजे वाली भूख तीन बजे और गहरी हो जानी चाहिए, लेकिन तीन बजे भूख मर जाती है, क्योंकि भूख आदतन थी।

सभ्य आदमी जितना सभ्य होता है, उतना आदत से जीता है। न असली भूख रह जाती है, न असली नींद रह जाती है। आदमी का काम, 'सैक्स' का अनुभव भी आदत हो जाती है। जरूरी नहीं कि भीतर कोई अन्तःप्रेरणा हो। पति-पत्नि भी आदत हो जाते हैं और आदत दोहरती चली जाती है।

एक बहुत बड़े विचारक डी० एच० लॉरेन्स ने लिखा है कि विवाह अनुभव कम और आदत ज्यादा है। वही कमरा। वही बिस्तर, वही रंग-रौनक, वही समय।···डी० एच० लॉरेन्स ने लिखा है कि एक बात इतनी कष्टकर है, जितनी और कोई नहीं। वह है : 'रोज उसी बिस्तर पर सोना!' उसने लिखा है कि मैं कहीं भी मरना पसन्द करूँगा, लेकिन बिस्तर पर नहीं। ऐसे आमतौर से निन्यानवे प्रतिशत लोग बिस्तर पर मरते हैं, लेकिन यह आदमी बड़ा मजेदार है!

अगर आप हवाई जहाज में बैठें, तो लोग कहते हैं कि मत बैठो··· । (कभी कभी लाख में एकाध आदमी हवाई जहाज में मरता है !) घोड़े पर सवारी करें, तो लोग कहते हैं कि मत करो···। (कभी-कभी हजार में एक आदमी घोड़े से गिर कर मर जाता है !) लेकिन, कोई आपसे नहीं कहता कि विस्तर पर मत सोओ, क्योंकि निन्यानवे प्रतिशत आदमी विस्तर पर मरते हैं। अधिकतम दुर्घटनाएँ विस्तर पर घटती हैं।

ठीक समय पर भूख लगती है, ठीक समय पर नींद आती है, ठीक समय पर काम की वृत्ति पैदा हो जाती है और लोग आदतें दोहराते रहते हैं।

महावीर कहते हैं, अनुभव आदत का निर्माण करता है और आदमी आदत से जीता है, होश से नहीं जीता। अगर होश से जियें, तो तन्त्र की वात ठीक हो सकती है, लेकिन आदमी जीता है आदत से, होश से नहीं, इसलिए महावीर की वात में भी अर्थ है।

महावीर कहते हैं, एक वार आदत वननी शुरू हो जाये, तो फिर वनती ही चली जाती है। वीज को जमीन में नहीं डालो, तो अंकुर नहीं निकलता, लेकिन एक वार डाल दो, तो अंकुर निकलता ही चला जाता है और वृक्ष वन जाता है। और वृक्ष में हजार-करोड़ वीज लग जाते हैं, लेकिन वीज को जमीन में नहीं डालो और रखा ही रहने दो, तो अंकुर नहीं निकलता। एक दफा अनुभव से गुजरो कि वीज जमीन पकड़ लेता है और फिर आदत का अंकुर वढ़ना शुरू हो जाता है। फिर वह वढ़ता चला जाता है। फिर वह वड़ा होता चला जाता है।

इसलिए महावीर ने वच्चों को भी दीक्षा का मार्ग खोला है। वल्कि महावीर के हिसाव से तो वच्चे को ही दीक्षा देनी चाहिए। अव तो मनो-वैज्ञानिक भी कहते हैं कि सात साल की उम्र के वाद आदमी में वदलाहट मुश्किल हो जाती है। अगर प्राथमिक सात वर्ष एक ढंग के निर्मित कर दिये जाएँ, तो आदमी फिर उन्हीं ढंगों में जीता चला जाता है। इसलिए पहले सात वर्ष पूरे सत्तर वर्ष की संक्षिप्त कथा है। फिर वही दोहराता चला जाता है।

यह वड़ी मजे की वात है ! इस पर थोड़ा सोचना वहुत जरूरी है कि आदत कितनी अद्‌भुत है। आप अपनी माँ से प्रेम करते हैं। सभी करते हैं, लेकिन कभी आपने ख्याल नहीं किया होगा कि माँ का प्रेम भी वैज्ञानिक अर्थों में सिर्फ आदत है। इस पर लोरेन्जो ने वहुत काम किया है।

लोरेन्जो ने 'सब्स्टिट्यूट मदर' परिपूरक माताओं के ऊपर प्रयोग किये। जैसे एक बतख का बच्चा पैदा होता है, तो मादा बतख ही उसे सबसे पहले मिलती है। मुर्गी का बच्चा पैदा होता है, तो मुर्गी ही उसे सबसे पहले मिलती है। स्वभावतः आदमी का बच्चा पैदा होता है, तो उसे पहला दर्शन, पहला अनुभव माँ का होता है।

लोरेन्जो ने ऐसे प्रयोग किये कि मुर्गी का बच्चा पैदा हो, तो मुर्गी का उसे अनुभव न होने पाये, मुर्गी छिपा ली जाये। मुर्गी की जगह रबर का फुग्गा फुला कर रख दिया जाये। जो पहला दर्शन हुआ बच्चे को, जो पहला अनुभव हुआ, वह गहन अनुभव है, फिर सब कुछ उसके ऊपर निर्मित होगा।

उस बच्चे ने रबर का फुग्गा देखा, वह रबर के फुग्गे के प्रति वैसा ही आसक्त हो गया, जैसा कि माँ के प्रति हो। इसके बाद रबर का फुग्गा हवा में उड़ाया जाये, तो बच्चा उसके पीछे दौड़े, लेकिन जब माँ पास हो, तो उसकी तरफ ध्यान भी न दे। माँ व्यर्थ हो गयी, क्योंकि वह आदत न बन पाई। यह रबर का फुग्गा सार्थक हो गया, क्योंकि यह माँ बन गया।

लोरेन्जो कहता है कि माँ का कोई अर्थ नहीं है, वह पहली आदत है। लेकिन और बड़े अनुभव हुए। यह जो मुर्गी का बच्चा रबर के गुब्बारे के पास बड़ा हुआ इसको खाना-पीना सब यांत्रिक विधि से दिया गया, इसका माँ से कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया। एक बड़ी हैरानी की बात हुई कि इस बच्चे के मन में मादाओं के प्रति कोई रस पैदा नहीं हुआ। वह मुर्गियों में उत्सुक नहीं रहा। उसके जीवन में 'सेक्स' सूख गया।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, जिस बच्चे का पहला सम्पर्क माँ से न हो, जीवन में स्त्री से उसके गहरे सम्बन्ध न हो पायेंगे। माँ पहली आदत है। इसलिए हर आदमी अपनी पत्नी में माँ को खोजता रहता है—जाने-अनजाने, चेतन-अचेतन माँ को खोजता रहता है और बड़ी कठिनाई यह है कि माँ मिल नहीं सकती पत्नी में, इसलिए पत्नी से कभी चैन और शान्ति नहीं मिल सकती। माँ पत्नी हो नहीं सकती और कोई पत्नी माँ बनने को राजी नहीं और कठिनाई तो यह है कि अचेतन आकांक्षा है, इसलिए अगर कोई पत्नी माँ बनने को राजी भी हो, तो भी पति को दुख होगा।

पुरुषों का इतना आकर्षण स्त्रियों के स्तन में, माँ के सम्बन्ध में बनी पहली आदत का परिणाम है और कुछ भी नहीं। माँ से पहला सम्बन्ध स्तन से बना, इसलिए पुरुष स्त्री के स्तन में इतने उत्सुक हैं।

चित्र, मूर्तियाँ, फिल्में सब स्त्री के स्तन के आसपास निर्मित होती चली जाती हैं। कहानियाँ, कविताएँ, रोमांस सब स्त्री के स्तन के आसपास निर्मित होती चली जाती हैं। इससे कुछ और पता नहीं चलता, सिर्फ इतना ही पता चलता है कि जैसे मुर्गी का बच्चा गुब्बारे पर आसक्त हो गया, ठीक वैसे ही बच्चा स्तन के प्रति आसक्त हो जाता है और बूढ़ा होकर भी इस आदत से मुक्त नहीं हो पाता। बूढ़ा भी मुक्त नहीं हो पाता स्तन की आदत से। वह रस कायम ही रहता है, वह रस बना ही रहता है।

अगर आदतें इतनी महत्वपूर्ण हैं, तो महावीर कहते हैं कि जिस अनुभव से छूटना हो, उस अनुभव में न उतरना ही उचित है। उतर जाने के बाद छूटना रोज-रोज मुश्किल होता चला जायेगा।

महावीर मनुष्य को एक यंत्र की भाँति देखते हैं और निन्यानवे प्रतिशत आदमी यंत्र हैं। इसलिए महावीर कहते हैं कि यन्त्रवत आदमी का जो जीवन है, वह वहीं रोक दिया जाना चाहिए, जहाँ से चीजों की शुरुआत होती है।

क्या इस बात की सम्भावना है कि अगर एक व्यक्ति को काम के समस्त अनुभवों, परिस्थितियों से बाहर रखा जा सके, तो उसके जीवन में काम का प्रवाह पैदा नहीं होगा ?

इस बात की सम्भावना नहीं है कि काम का प्रवाह पैदा नहीं होगा। एक दिन बच्चा युवा होगा, शक्ति से भरेगा, ऊर्जा आयेगी, शरीर का यन्त्र शक्ति देगा, काम ऊर्जा भर उठेगी—काम से, काम की ऊर्जा से अगर सारी परिस्थितियाँ भी रोक ली जायें, तो भी बच्चा भरेगा, लेकिन एक फर्क पड़ेगा। उस बच्चे के पास आदतों के सुनिश्चित मार्ग न होंगे। ऊर्जा भर जायेगी, लेकिन आदतों के बहने के लिए कोई निर्मित मार्ग न होंगे। उस बच्चे की ऊर्जा को किसी भी दिशा में रूपान्तरित करना आसान होगा।

जिनके मार्ग निर्मित हो गए हैं, उन्हें नये मार्ग बनाना कठिन होता है, क्योंकि ऊर्जा पुराने मार्ग पर बिना श्रम के बहती है। अगर कोई भी मार्ग निर्मित न हो, तो नया मार्ग निर्मित करना बहुत आसान होता है, क्योंकि ऊर्जा बहना चाहती है और कोई भी मार्ग मिल जाये, तो गति से उस मार्ग पर अग्रसर हो जाती है।

महावीर की यही दृष्टि है। वह कहते हैं, काम का अनुभव खतरे में ले जायेगा, फिर ब्रह्मचर्य की तरफ आना मुश्किल होता चला जायेगा, इसलिए अनुभव से बचना।

इसे ध्यान से समझ लें, अनुभव से बचना दमन नहीं है, 'रिप्रेशन' नहीं है, जिसको फ्रायड ने दमन कहा है—अनुभव से बचना दमन नहीं है। महावीर के लिए अनुभव से बचना ऊर्जा को दबाना नहीं है। अनुभव से बचना ऊर्जा को नया मार्ग देना है। जो ऊर्जा नीचे की तरफ बह रही है, उसे ऊपर की तरफ ले जाना है।

नीचे की तरफ बहने का अनुभव न हो, तो ऊपर की तरफ मार्ग बनाना आसान होगा, लेकिन तब तन्त्र की, महावीर और योग की सारी प्रक्रिया विपरीत हो जायेगी। सारी प्रक्रियाएँ, तन्त्र जो भी करेगा, महावीर के लिए वह गलत हो जायेंगी। और महावीर जो भी करेंगे, वह तन्त्र के लिए गलत होगा।

मेरी दृष्टि में दोनों मार्गों से पहुँचना सम्भव है। दोनों ही मार्गों पर अलग-अलग बात पर जोर है ऊपर से, लेकिन भीतर एक ही बात पर जोर है और वह भी आप से कह दूं।

वह जोर यह है कि तन्त्र कहता है—रस से मुक्ति होगी अनुभव से और महावीर कहते हैं—रस लेना ही मत, तो मुक्ति होगी। लेकिन रस से मुक्ति दोनों में केन्द्रिय है। रस से मुक्ति कैसे होगी, इस बारे में दोनों में भेद है।

तन्त्र उन लोगों के लिए आसान पड़ेगा, जो होश को जगाने में लगे हैं। जो लोग होश को जगाने में नहीं लगे हैं, उनके लिए तन्त्र खतरनाक होगा। इसलिए तन्त्र बहुत थोड़े से लोगों के ही काम की बात मालूम पड़ती है। तन्त्र का व्यापक प्रभाव इसलिए नहीं हो सका, लेकिन भविष्य में तन्त्र का व्यापक प्रभाव होगा, क्योंकि सारे समाज के जीवन का ढांचा रोज-रोज तन्त्र के ज्यादा अनुकूल आता जा रहा है और लोग अनुभव से रस-विहीन होते चले जा रहे हैं।

यह जानकर आपको हैरानी होगी कि जिन देशों में यौन की जितनी स्वतंत्रता है, उन देशों में यौन के प्रति उतनी ही विरक्ति पैदा होती जा रही है। जिन मुल्कों में यौन की जितनी गुलामी है, जितनी परतन्त्रता है, उन मुल्कों में यौन के प्रति उतनी ही उत्सुकता है।

अगर सारा जगत् ठीक से समृद्ध हुआ, तो तन्त्र की सार्थकता बढ़ती चली जायेगी।

समृद्ध होने के दो ही मतलब होते हैं, क्योंकि आदमी की दो ही भूख हैं: एक शरीर की भूख है, जो रोटी से पूरी होती है, मकान से पूरी होती है, सामान से पूरी होती है और एक यौन की भूख है, जो प्रेम से पूरी होती है।

अगर इन दोनों का अतिरेक हो गया, तो तन्त्र की सार्थकता बढ़ती चली जायेगी, लेकिन अभी भी वह अतिरेक हुआ नहीं है।

महावीर जो कह रहे हैं, वह तन्त्र के बिलकुल विपरीत है। उस विपरीतता में जो मौलिक बिन्दु हैं, वह हम ख्याल में ले लें, तो फिर यह सूत्र समझ में आए।

तन्त्र कहता है : जिससे मुक्त होना है, उसमें जाओ। महावीर कहते हैं : जिससे मुक्त होना हो, उसको छुओ ही मत। पहले ही कदम पर रुक जाओ, क्योंकि अन्तिम कदम पर तुम रुक सकोगे, इसका भरोसा कम है।

तन्त्र कहता है : अगर शराब से मुक्त होना है, तो शराब पीओ और होश को सम्भालो। शराब की मात्रा उतनी ही बढ़ाते जाओ, जितना होश बढ़ता जाये, लेकिन होश सदा ऊपर रहे और शराब कभी भी बेहोश न कर पाये।

और तंत्रिकों ने अद्‌भुत प्रयोग किये और ऐसे तन्त्रिक हैं कि उनको कितना ही नशा पिला दो, बेहोश न कर पाओगे। बेहोशी न आये तो शराब पी भी और नहीं भी पी। शरीर में तो शराब गयी, पर चेतना में शराब का कोई भी संस्पर्श न हुआ।

तो तन्त्र कहता है : चेतना को मुक्त करो, शराब को जाने दो शरीर में लेकिन चेतना को अछूता रहने दो।

यह कठिन है, लम्बी साधना की बात है और सबके लिए शायद सम्भव भी नहीं है। हालांकि सब करना चाहेंगे, लेकिन तन्त्र का सूत्र पूरा करना कठिन है, क्योंकि तन्त्र का सूत्र यह है कि होश न खो जाये।

महावीर कहते हैं; अगर होश खोता हो, तो बेहतर है पियो ही मत, लेकिन दोनों एक बात में राजी हैं कि होश नहीं खोना चाहिए। महावीर कहते हैं : पियो ही मत, कहीं होश न खो जाये। तन्त्र कहता है : पियो और होश को बढ़ाओ।

यही सभी बातों के सम्बन्ध में है।

महावीर कहते हैं, मांस नहीं और तन्त्र कहता है कि मांस भी प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन तन्त्र यह भी कहता है कि चाहे सब्जी खाओ, चाहे मांस खाओ, भीतर मन में कोई भेद न पड़े। यह बहुत कठिन बात है।

तन्त्र कहता है : अभेद को पाना है, अद्वैत को पाना है, तो कोई भेद न पड़े—मांस खाओ तो, सब्जी लो तो—कोई भेद भीतर न पड़े। अगर भेद भीतर पड़ गया, तो मांस खाना खतरनाक हो गया। भेद न पड़े भीतर कोई,

अगर जहर भी पियो या अमृत भी पियो—भीतर अनासक्त मन बना रहे; दोनों बराबर मालूम पड़े, तो तन्त्र कहता है, फिर मांसाहार भी मांसाहार नहीं है।

महावीर कहते हैं कि यह कठिन है कि भेद न पड़े। जिनके जीवन में हर चीज में भेद है, वह कितना ही कहें कि सोना हमारे लिए मिट्टी है, फिर भी उन्हें सोना सोना है—मिट्टी मिट्टी है। जिसके जीवन में हर चीज में भेद है, जो इंच भर विना भेद के नहीं चलते, वे मदिरा को पानी जैसा पी जायेंगे, इसकी आशा करनी कठिन है। तो महावीर कहते हैं कि जहाँ से गिर जाने का डर हो, वहाँ गति मत करना। इसलिए पूरी प्रक्रिया का रूप बदल जायेगा।

'जो मनुष्य काम और भोगों के रस को जानता है, उसका अनुभवी है, उसके लिए अब्रह्मचर्य त्यागकर ब्रह्मचर्य के महाव्रत को धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।'

आदत को तोड़ना अत्यन्त दुष्कर है और आप सब जानते हैं कि काम की आदत गहनतम आदत है। एक आदमी सिगरेट पीता है, उसे छोड़ना मुश्किल है।

हालांकि पीने वाले सभी यह सोचते हैं कि जब चाहें तब छोड़ दें। पीने वाले सोचते हैं कि वे कोई 'एडिक्टेड' नहीं हैं, या वे कोई इसके गुलाम नहीं हो गये!...

मुल्ला नसरुद्दीन को उसके डॉक्टर ने कहा कि अब तुम शराब बन्द कर दो क्योंकि शराब से 'एडिक्शन' पैदा होता है, आदमी गुलाम हो जाता है। मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा कि रहने दो चालीस साल से पी रहा हूँ, अभी तक 'एडिक्टेड' नहीं हुआ; अब क्या खाक होऊँगा? अनुभव से कहता हूँ कि चालीस साल से रोज पी रहा हूँ, अभी तक 'एडिक्टेड' नहीं हुआ।

आप जो भी करते हैं, सोचते हैं, जब चाहें, तब छोड़ दें इतना आसान नहीं है। जरा सी आदत भी छोड़नी आसान नहीं है। आदत बड़ी वजनी है। आपकी आत्मा आदत से बहुत कमजोर है। एक छोटी सी आदत छोड़ना चाहें, तो आप को पता चलेगा कि कितना मुश्किल है, लेकिन काम तो गहनतम आदत है, क्योंकि 'बायोलॉजिकल' है, जैविक है।

गहनतम आपके प्राणों में काम की ऊर्जा छिपी है, क्योंकि आदमी का जन्म होता है, काम से, उसका रोआं-रोआं निर्मित होता है काम से, उसका एक-एक कोष्ठ पैदा होता है, काम के कोष्ठ से।

आप काम का ही विस्तार हैं, आप हैं जगत् में इसलिए कि आपके माता-पिता, फिर उनके माता-पिता करोड़ों-करोड़ों वर्ष से काम-ऊर्जा को फैला रहे

हैं। आप उसका एक हिस्सा हैं। आपके माता-पिता की काम-वासना का आप फल हैं।

इस फल के रोएँ-रोएँ में, कण-कण में कामवासना छिपी है और सब आदतें ऊपरी हैं, काम-वासना गहनतम आदत है। इसलिए महावीर कहते हैं कि अगर आदत निर्मित होनी शुरू हो जाये, तो अत्यन्त दुष्कर है। फिर अब्रह्मचर्य का त्याग करके ब्रह्मचर्य में प्रवेश करना अत्यन्त दुष्कर है।

असम्भव वे नहीं कहते, इसलिए तंत्र का पूर्ण निषेध नहीं है, दुष्कर कहते हैं। और निश्चित ही जिनको सिगरेट पीना छोड़ना मुश्किल हो, उनके लिए महावीर ठीक ही कहते हैं। जो सिगरेट भी न छोड़ सकते हों, वे सोचते हों कि काम के अनुभव को छोड़ देंगे, तो वे आत्म-हत्या में लगे हैं। उनके लिए यह सम्भव नहीं होगा।

तन्त्र की भी शर्तें बड़ी ही अजीब हैं। तन्त्र पहले और सब तरह की आदतें तुड़वाता है और जब निश्चित हो जाता है तांत्रिक गुरु को कि सब तरह की आदतें टूट गई हैं, तब वह इन गहन प्रयोगों के लिए आज्ञा देता है।

तन्त्र की शर्तें कठोर हैं। तन्त्र मानता है: जब तक प्रत्येक स्त्री में माँ का दर्शन न होने लगे, न केवल माँ का बल्कि जब तक प्रत्येक स्त्री में तारा का, दुर्गा का, देवी का, भगवती का, परम माँ का, जगत्-जननी का स्मरण न होने लगे, तब तक तन्त्र नहीं कहता कि सम्भोग के द्वारा समाधि उपलब्ध हो सकेगी।

तो तन्त्र की प्राथमिक प्रक्रियाओं में, स्त्री में माँ का दर्शन, परम-जननी का दर्शन जरूरी है और इसके प्रयोग हैं। इसलिए सभी तान्त्रिक ईश्वर को माँ के रूप में देखते हैं, पिता के रूप में नहीं। जब माँ दिखाई पड़ने लगे प्रत्येक स्त्री में, तभी तन्त्र का प्रयोग किया जा सकता है।

तन्त्र के प्रयोग की जो पूरी आयोजना है, वह अति कठिन है। वह अति कठिन इसलिए है कि पहले स्त्री को तिरोहित करना होता है। वह समाप्त हो जाये, विलीन हो जाये, स्त्री मौजूद न रहे और तब भी उसके साथ सम्भोग में परम-पवित्र भाव से प्रवेश करना होता है। अगर क्षणभर को भी वासना आ जाये, तो तन्त्र का प्रयोग असफल हो जाता है, लेकिन वह दूभर है। महावीर कहते हैं, दुष्कर है।

आसान आदमी के लिए यही है कि वह जिससे मुक्त होना चाहते हों, उसकी आदत निर्मित न करें।

यह आसान क्यों? क्योंकि ऊर्जा जब भीतर भरती है, तो बहना चाहती है। ऊर्जा का लक्षण है, बहना। जैसे नदी बहती है सागर की तरफ, सागर से मिलने के लिए।

मिलन दो तरह के हो सकते हैं; यह मिलन अपने से बाहर की ओर घटित हो सकता है, किसी स्त्री का किसी पुरुष से या किसी पुरुष का किसी स्त्री से। यह एक बहाव है। बाहर की तरफ, एक और बहाव है भीतर की तरफ, अपने से ही मिलने का। यह जो आन्तरिक बहाव है, अगर बाहर बहने की आदत न हो, तो शक्ति खुद इतनी भर जायेगी कि वह भीतर के द्वार खटखटाने लगेगी और भीतर बहनी शुरू हो जायेगी।

ब्रह्मचर्य पर इतना जोर इसी कारण है। इस कारण की शक्ति इतनी होनी चाहिये कि वह शक्ति खुद भी मार्ग खोजने लगे और यदि नीचे की कोई आदत न हो, बाहर की कोई आदत न हो, दूसरे के प्रति बहने की आदत न हो, मार्ग न मिले और जब मार्ग नहीं मिलता और शक्ति बढ़ती चली जाती है और बाँध तोड़ना चाहती है, तब साधक आसानी से भीतर जानेवाला मार्ग खोल सकता है। शक्ति खुद ही सहयोगी हो जाती है, मार्ग खोलने के लिए।

इसलिए महावीर कहते हैं : निर्ग्रंथ मुनि अब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन संसर्ग का त्याग करते हैं, क्योंकि यह अधर्म का मूल ही नहीं, अपितु बड़े से बड़े दोषों का भी स्थान है।

अगर ऊर्जा बाहर की तरफ बहती है, तो समस्त अधर्म का मूल है; क्योंकि धर्म की परिभाषा हमने की है, 'स्वभाव'। धर्म का अर्थ है स्वयं को पाना, धर्म का अर्थ है, अपनी खोज। अगर धर्म का अर्थ है, अपने को पा लेना, तो अधर्म का फिर अर्थ हुआ, अपने से बाहर किसी को पाने की कोशिश—'ध अधर', दूसरे को पाने की कोशिश। इसलिए कामवासना से ज्यादा अधर्म कुछ भी नहीं हो सकता, क्योंकि कामवासना का अर्थ ही है, दूसरे की खोज।

महावीर कहते हैं : अधर्म का मूल है और बड़े-बड़े दोष का स्थान भी।

इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है।

हमारे जीवन में जितने दोष पैदा होते हैं, उनमें निन्यानवे प्रतिशत कामवासना से सम्बन्धित होते हैं।

आदमी अगर धन इकट्ठा करने के लिए पागल हो जाता है, तो इसलिए कि अन्ततः धन से कामवासना पाई जा सकती है, चाहे उसे पता हो, चाहे

पता न हो। आदमी पद पाना चाहता है, यश पाना चाहता है, अन्ततः इसलिए कि उससे कामवासना ज्यादा से ज्यादा सुगमता से पूरी की जा सकती है। आदमी जीवन में और जो करने निकल पड़ता है, उस सब के पीछे गहन में कामवासना छिपी होती है। यह दूसरी बात है कि वह पूरा न कर पाये। वह साधन को ही पूरा करने में लगा रहे और साध्य तक न पहुँच पाये, यह दूसरी बात है, लेकिन गहन में साध्य एक ही होता है।

क्यों ऐसा है? क्योंकि आदमी काम-वासना का विस्तार है और आदमी के भीतर मैंने कहा, दो भूखे हैं; आप जब भोजन करते हैं, तो यह आपके जीवन की सुरक्षा है और जब आप यौन में उतरते हैं, तो यह आपकी जाति के जीवन की सुरक्षा है। यह भी एक भोजन है।

आप अगर भोजन करना बन्द कर दें, तो आप मरेंगे। अगर आप कामवासना बन्द कर दें, तो आप अपनी जाति को मारने का कारण बनेंगे।

जर्मनी के प्रसिद्ध विचारक इमैनुएल कांट ने तो ब्रह्मचर्य को अनीति कहा है और उसके कारण हैं कहने के। उसका कहना यह है कि अगर सारे लोग ब्रह्मचर्य का पालन करें, तो जीवन तिरोहित हो जायेगा। और काँट कहता है कि नीति का अर्थ है—'ऐसा नियम, जिसका सब लोग पालन कर सकें।' और अगर सब लोग ब्रह्मचर्य का पालन करें, तो जीवन, जो कि नीति का आधार है, सम्भावना है, वही तिरोहित हो जाये, तो वह अनीति हो गई।

फिर तो ब्रह्मचर्य भी नहीं पाला जा सकता—अगर जीवन तिरोहित हो जाये।

तो जिस नियम की पूर्णता स्वयं ही जीवन को नष्ट कर देती हो, वह नियम नैतिक नहीं है। एक अर्थ में यह ठीक है। आप किसी को मारते हैं, तो यह हिंसा है। आप अगर कामवासना को रोक लेते हैं, तो भी आप उनकी हिंसा कर रहे हैं, जो इस कामवासना से पैदा हो सकते थे।

काँट के हिसाब से ब्रह्मचर्य हिंसा है। जो हो सकते थे, जो जन्म ले सकते थे, उनको आप रोक रहे हैं।

काँट कहता है कि कोई आदमी अगर भूखा रहे, तो यह उतना बड़ा पाप नहीं; क्योंकि वह अपने लिए, अपने ऊपर कुछ कर रहा है। ठीक है, स्वतन्त्र है, लेकिन कोई आदमी अगर ब्रह्मचारी रहे, तो यह खतरनाक है; क्योंकि इसका अर्थ यह हुआ कि वह जाति को नष्ट करने का उपाय कर रहा है।

लेकिन कांट के सोचने की एक सीमा है। इस जीवन के अलावा कांट के लिए कोई और जीवन नहीं है—कांट के लिए इस जीवन के पार और कोई रहस्य का लोक नहीं है।

महावीर कहते हैं कि जो ऊर्जा इस जगत् में प्राणियों को जन्म देने के काम आती है, वही ऊर्जा स्वयं को उस जगत् में जन्म देने के काम आती है—आत्मजन्म, खुद का ही पुनर्जन्म, उसके ही लिए काम आती है।

ऊर्जा वही है। महावीर के तर्क अलग हैं। महावीर कहते हैं (और अब तो विज्ञान समर्थन करता है।) कि एक सम्भोग में कोई दस करोड़ 'सेल,' वीर्याणु छूटते हैं,–एक सम्भोग में दस करोड़ जीवन छूटते हैं। दो घण्टे के भीतर सब मर जाते हैं। प्रत्येक सम्भोग में दस करोड़ जीवन की हत्या का पाप है। और एक आदमी अगर अपने जीवन में संयम-पूर्वक सम्भोग करे, तो चार हजार सम्भोग कर सकता है। अगर आपके दस-पाँच बच्चे पैदा भी हो जाते हैं तो अरबों-खरबों जीवन की हत्या पर।

जीवन बड़ा अद्भुत है। दस करोड़ जीवाणु छूटते हैं। एक सम्भोग में और उनमें संघर्ष शुरू हो जाता है उसी वक्त। बाजार में ही प्रतियोगिता नहीं है, दिल्ली में ही प्रतियोगिता नहीं है! जैसे ही यह दस करोड़ जीवाणु स्त्री योनी में मुक्त होते हैं, इनमें संघर्ष शुरू हो जाता है कि कौन आगे निकल जाये; क्योंकि एक जीवाणु ही स्त्री अण्डे तक पहुँच सकता है।

वह जो ओलम्पिक में दौड़ें होती हैं, वे कुछ भी नहीं, बड़ी से बड़ी दौड़ जिसका आपको कोई पता नहीं चलता, जिस पर सारा जीवन निर्भर होता है, वह बड़े अज्ञात में होती है। यह दस करोड़ धावक दौड़ पड़ते हैं। इनमें से एक पहुँच पाता है, बाकी सब मर जाते हैं रास्ते में। और वह एक भी सदा नहीं पहुँच पाता।

जितनी जमीन पर संख्या है इस वक्त, उतनी संख्या एक आदमी पैदा कर सकता है। साढ़े तीन अरब लोग हैं इस समय पृथ्वी पर, एक-एक आदमी के पास भी उसके वीर्य में इतने ही जीवाणु हैं कि साढ़े तीन अरब बच्चे पैदा कर दें। एक आदमी एक जीवन में इतनी हत्याएँ करता है। यह सब जीवाणु मर जाते हैं, यह बच नहीं सकते।

महावीर का हिसाब यह है कि यह बड़ी हिंसा है। इसलिए महावीर अब्रह्मचर्य को हिंसा कहते हैं। यह बड़ी भारी हिंसा है क्योंकि इतना प्राण!

ये सारी की सारी ऊर्जा रूपान्तरित हो सकती है और इस सारी ऊर्जा के आधार पर स्वयं का नव-जन्म हो सकता है।

फिर महावीर यह भी नहीं मानते कि इस जगत् का होना कोई अनिवार्यता है। यह न भी हो, तो कोई हर्जा नहीं। क्योंकि इसके होने से सिवाय हर्जे के और कुछ भी नहीं होता। यह पृथ्वी खाली हो, तो हर्जा क्या है ? आप न हुए तो ऐसा क्या बिगड़ जाता है ? फूल ऐसे ही खिलेंगे, चाँद ऐसा ही निकलेगा, समुद्र ऐसे ही दहाड़ मारेगा, हवाएँ इतनी ही शान से बहेंगी, सिर्फ बीच में आपके मकानों की बाधा न होगी। आपके होने, न होने से फर्क क्या पड़ता है ? आप नहीं हुए, तो क्या होता है ? आपके होने से जमीन सिर्फ एक नर्क हो जाती है।

महावीर कहते हैं : यह जो चेतना रोज-रोज शरीर में उतरती है, उपद्रव ही पैदा करती है। इसे शरीर से मुक्त करना है और किसी दूसरे लोक में इसको जन्म देना है, जहाँ कोई संघर्ष नहीं है। मोक्ष और संसार में इतना ही फर्क है।

संसार में हर चीज संघर्ष है—हर चीज, चाहे आपको पता चलता हो या न चलता हो। यहाँ एक श्वास भी मैं लेता हूँ, तो किसी की श्वास छीन कर लेता हूँ। यहाँ मैं जीता हूँ, तो किसी को मार कर जीता हूँ। यहाँ होने का अर्थ ही किसी को मिटाना है। यहाँ और कोई उपाय ही नहीं है। यहाँ, जीवन मौत से ही चलता है। यहाँ, हिंसा भोजन है—चाहे कोई मांस खाता हो या न खाता हो—पशु-पक्षी मारता हो या न मारता हो—कुछ भी खाता हो—सब भोजन हिंसा है। हिंसा से बचा नहीं जा सकता। कोई उपाय ही नहीं है।

महावीर कहते हैं कि एक ऐसा लोक भी है चेतना का, जहाँ कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है, जहाँ कोई संघर्ष नहीं है।

ध्यान रहे : सारा संघर्ष शरीर के कारण है, आत्मा के कारण कोई भी संघर्ष नहीं। इस पृथ्वी पर जो भी आत्मा को पाने में लगते हैं, उनका किसी से कोई संघर्ष नहीं।

अगर मैं धन पा रहा हूँ, तो किसी का छीन लूँगा। अगर मैं सौन्दर्य की खोज कर रहा हूँ, तो किसी न किसी को कुरूप कर दूँगा। मैं कुछ भी कर रहा हूँ बाहर के जगत् में, तो कोई न कोई छिनेगा, कोई न कोई पीछे पड़ेगा। लेकिन

अगर मैं ध्यान कर रहा हूँ, अगर मैं भीतर शान्त होने की कोशिश कर रहा हूँ, अगर भीतर मैं एक अन्तर्यात्रा पर जा रहा हूँ, मौन हो रहा हूँ, होश खोज रहा हूँ, तो मैं किसी से कुछ भी नहीं छीन रहा हूँ। तो मुझसे किसी को कोई नुकसान नहीं होता। मुझसे किसी को लाभ हो सकता है।

महावीर के होने से किसी को कोई नुकसान नहीं हुआ, लाभ बहुत हुआ है। लेकिन, संसार में जितना बड़ा आदमी हो, उतना ज्यादा नुकसान पहुँचाने वाला होता है। वह बड़ा किसी भी दिशा में हो—बड़प्पन निर्भर ही होता है दूसरे से छीनने पर।

संसार में भीना-झपटी नियम है, क्योंकि शरीर छीना-झपटी का प्रारम्भ है। छीना-झपटी माँ के गर्भ से ही शुरू हो जाती है, वह फिर जीवन भर चलती है।

मोक्ष का अर्थ है : जहाँ शुद्ध है, चेतना—शरीर से मुक्त। जहाँ कोई संघर्ष नहीं है। जहाँ होना, दूसरे की हत्या और हिंसा पर निर्भर नहीं है।

महावीर कहते हैं कि इस ऊर्जा का उपयोग उस जगत् में प्रवेश के लिए हो सकता है, लेकिन यह प्रवेश दूसरे की तरफ दौड़ने से कभी भी न होगा और कामवासना दूसरे की तरफ दौड़ती है, कामवासना दूसरे से बाँधती है, कामवासना दूसरे पर निर्भर करा देती है, इसलिए कामवासना से जुड़े हुए व्यक्तियों में सदा कलह बनी रहती है। कलह का मतलब केवल इतना ही है कि कोई भी आदमी गुलाम नहीं होना चाहता और कामवासना गुलाम बना देती है।

आप किसी को प्रेम करते हैं, तो आप उस पर निर्भर हो जाते हैं। क्षणभर के लिए सुख—संतोष की जो झलक आपको मिलती, वह अब उसके बिना नहीं मिल सकती। उसके हाथ में है चाभी और उसकी चाभी आपके हाथ में हो जाती है। चाभियाँ बदल जाती हैं। पत्नी की चाभी पति के हाथ में और पति की चाभी पत्नी के हाथ में। निश्चित ही गुलामी अनुभव होनी शुरू हो जाती है। जिसके कारण हमें सुख मिलता है, उसके हम गुलाम हो जाते हैं और जिसके कारण हमें दुख मिलता है, उसके भी हम गुलाम हो जाते हैं। फिर गुलामी के प्रति विद्रोह चलता है।

अभी एक बहुत ही विचारशील मनोवैज्ञानिक ने एक किताब लिखी है, 'धि इन्टीमेंट एनिमि'। वह पति-पत्नी के सम्बन्ध में एक किताब है—'आन्तरिक शत्रु।' आन्तरिकता भी बनी रहती है और शत्रुता भी चलती रहती है। शत्रुता

अनिवार्य है पति-पत्नी के बीच, मित्रता आकस्मिक है। मित्रता सिर्फ इसलिए है ताकि शत्रुता टूट ही न जाये—जुड़ी रहे, बनी रहे, चलती रहे। जब शत्रुता टूटने के करीब आ जाती है, तो फिर मित्रता जमा देती है उखड़ा रूप और फिर शत्रुता शुरू हो जाती है।

शत्रुता अनिवार्य है। उसका कारण है—जिस पर हम निर्भर हो जाते हैं, उसके प्रति दुर्भाव शुरू हो जाता है। उससे बदला लेने का मन हो जाता है। वह दुश्मन हो जाता है।

महावीर कहते हैं कि जब तक हम दूसरे के प्रति बह रहे हैं, तब तक हम गुलाम रहेंगे। काम-वासना सबसे बड़ी गुलामी है, इसलिए ब्रह्मचर्य को सबसे बड़ी स्वतन्त्रता कहा है और इसीलिए ब्रह्मचर्य को मोक्ष का अनिवार्य हिस्सा मान लिया महावीर ने।

'जो मनुष्य अपना चित्त शुद्ध करने, स्वरूप की खोज करने के लिए तत्पर है, उसके लिए देह का श्रृंगार, स्त्रियों का संसर्ग और स्वादिष्ट तथा पौष्टिक भोजन का सेवन विष जैसा है।'

महावीर ऐसा क्यों कहते हैं, इसके कारण हम ठीक से ख्याल में ले लें।

देह का श्रृंगार हम करते ही इसलिए हैं कि हमारी उत्सुकता किसी और में है। देह का श्रृंगार कोई अपने लिए नहीं करता, सदा दूसरे के लिए करता है। जिसके प्रति हम आश्वस्त हो जाते हैं, उसके लिए फिर हम देह का श्रृंगार नहीं करते। इसलिए दूसरों की पत्नियाँ ज्यादा सुन्दर दिखाई पड़ती हैं, अपनी पत्नियाँ उतनी सुन्दर मालूम नहीं पड़ती; क्योंकि पत्नियाँ आश्वस्त हो जाती हैं पति के प्रति कि अब रोज-रोज श्रृंगार करने की कोई जरूरत नहीं। जिसको जीत ही लिया, उसको अब रोज-रोज जीतने का क्या कारण! तो पति पत्नी की असली शक्ल देखता है और उससे ऊब जाता है। पड़ोसी उनकी नकली शक्ल देखते हैं, जो बाहर तैयार होकर आती हैं, इसलिए पड़ोसी उनमें रस लेते मालूम पड़ते हैं।

पश्चिम में मनोवैज्ञानिक समझाते हैं स्त्री को कि अगर पति को सदा ही अपने में उत्सुक रखना हो, तो रोज-रोज ही वह पति को जीते, इसके उपाय करते रहना चाहिए, जीत निश्चित न हो जाये; क्योंकि जीत जब निश्चित हो जाती है, तो पुरुष का रस खो जाता है। पुरुष जीत में उत्सुक है।

दूसरे की पत्नी कम सुन्दर हो, तो भी आकर्षक मालूम होती है; क्योंकि आकर्षण जीत में है। जीतना जितना दुरूह हो जाये, जितना मुश्किल मालूम पड़ने लगे, उतनी चुनौती मिलती है।

शृंगार हम करते ही दूसरों के लिए हैं, अपने लिए नहीं। अगर आपको अकेले जंगल में छोड़ दिया जाये, तो आप सोचिए कि आप क्या करेंगे ! आप शृंगार नहीं करेंगे, और भले कुछ भी करें सजेंगे नहीं; क्योंकि सजने का मतलब है, किसी के लिए।

हमने इन्तजाम कर रखा था कि पति मर जाये, तो फिर विधवा को हम सजने नहीं देते थे। हम उससे पूछते थे—किसके लिए ? वह अगर अपने लिए ही सज रही थी, तो विधवा को भी सजने में क्या हर्ज था ? वह पति के लिए सज रही थी। अब चूँकि पति नहीं रहा, तो किसके लिए ? और अगर हम विधवा को सजते देखते, तो शक पैदा होता कि उसने कहीं न कहीं पति की तलाश शुरू कर दी है। इसलिए हम उसको सजने नहीं देते थे। उसको हम सब तरफ से कुरूप करने की कोशिश करते हैं।

बड़े मजे की बात है—क्या सौन्दर्य दूसरे के लिए है ? असल में सौन्दर्य एक फंदा है—एक जाल, जिसमें हम किसी को फँसाना चाहते हैं।

महावीर कहते हैं, जब दूसरे में उत्सुकता ही नहीं, तो शृंगार का क्या प्रयोजन ? इसलिए महावीर ने कहा है कि तुम जैसे हो, अपने लिए (अगर तुम पृथ्वी पर अकेले होते तो), वैसे ही रहो। इसलिए महावीर नग्न हो गये। इसलिए महावीर ने शरीर की सजावट छोड़ दी। इसका यह मतलब नहीं है कि महावीर शरीर के प्रति शत्रु हो गये। इसका मतलब यह भी नहीं कि महावीर ने अपने शरीर को कुरूप कर लिया; क्योंकि वह तो दूसरी अति होगी।

सौन्दर्य भी अगर हम निर्माण करते हैं, तो दूसरे के लिए, कुरूपता भी अगर हम निर्माण करते हैं, तो दूसरे के लिए। जिस दिन पत्नी नाराज हो, उस दिन वह पति के सामने सब तरह से कुरूप रहेगी, सजेगी नहीं, वह भी दूसरे के लिए। अगर सजने से सुख देने का उपाय था, तो कुरूप रह कर दुख देने का उपाय है।

महावीर ने दूसरे का ख्याल छोड़ दिया। अपने लिए जैसा जी सकते थे, वैसा जीने लगे। इससे वे कुरूप नहीं हो गये, बल्कि सही अर्थों में पहली दफा एक सौन्दर्य निखरा, जो दूसरे के लिए नहीं था, जो अपने ही भीतर से आ रहा था, जो अपने ही लिए था, जो स्वभाव था।

शृंगार झूठा है और इसलिए शृंगार में छिपा हुआ सौन्दर्य एक धोखा है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि शृंगार की चेष्टा, वह जो वास्तविक सौन्दर्य होना चाहिए, उस कमी की पूर्ति है।

बैठकें हों, तो थोड़ी-बहुत देर में, जो स्त्रियाँ वहाँ मौजूद नहीं हैं, जब उनकी निंदा चुक जायेगी, तो सब फालतू मालूम पड़ने लगेगा।

दो स्त्रियो में मित्रता भी मुश्किल है। मित्रता का एक ही कारण हो सकता है कि कोई तीसरी स्त्री दोनों की शत्रु हो। पुरुषों में मित्रता हो जाती है, क्योंकि उनके बहुत शत्रु हैं चारों तरफ। मित्रता बनाते ही हम इसलिए हैं कि शत्रु के खिलाफ लड़ना है। स्त्रियों में कोई मैत्री नहीं बन सकती। और उनकी अगर बैठक हो, तो उसमें चर्चा योग्य भी कुछ नहीं हो सकता, सब छिछला होगा। लेकिन एक पुरुष को प्रवेश कर दें, तो सारी स्थिति बदल जायेगी।

यह सब अचेतन होता है। इसके लिए चेतन रूप से आपको कुछ करना नहीं होता। आपकी ऊर्जा ही करती है।

दूसरे की हम तलाश करते हैं, ताकि अपने को हम अनुभव कर सकें। विपरीत को हम खोजते हैं, ताकि हमें अपना पता चला सके।

इसलिए महावीर कहते हैं : विपरीत का संसर्ग—जिसे ब्रह्मचर्य साधना है, जिसे स्वरूप की तलाश करनी है—उसे छोड़ देना चाहिये। ख्याल ही विपरीत का छोड़ देना चाहिये। क्योंकि आत्मा विपरीत से नहीं जानी जा सकती, केवल शरीर विपरीत से जाना जा सकता है।

शरीर के तल पर आप स्त्री हैं या पुरुष हैं। आत्मा के तल पर आप न स्त्री हैं, न पुरुष हैं। अगर आत्मा को खोजना है, तो विपरीत का कोई उपयोग नहीं है। अगर शरीर की ही खोज जारी रखनी है, तो विपरीत के बिना कोई उपयोग नहीं है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि कभी न कभी स्त्री और पुरुष अलग-अलग नहीं थे। बाइबल की कहानी बड़ी सच मालूम पड़ती है। बाइबल में कहानी है कि ईश्वर अकेला रहते-रहते ऊब गया। (अकेला रहता कोई भी ऊब जाये।) और उसने, 'आदम' को पैदा किया। फिर 'आदम' अकेला ऊबने लगा, तो उसकी पसली निकाल कर ईश्वर ने 'हव्वा'—'ईव' पैदा किया, स्त्री को पैदा किया।

किर्के गार्ड ने बड़ा गहरा मजाक किया है। उसने कहा है : पहले ईश्वर अकेला ऊब रहा था, फिर उसने 'आदम' को पैदा किया। फिर 'आदम' ऊबने लगा, तो ईश्वर ने 'आदम' की हड्डी से 'ईव' को पैदा किया। फिर 'ईव' और 'आदम' ऊबने लगे और उन्होंने बच्चे पैदा किये 'केन' और 'अबेल'। फिर केन,

अवेल, आदम, इव; ईश्वर, सब ऊबने लगे, पूरा परिवार ऊबने लगा, तो फिर उन्होंने पूरा संसार पैदा किया और अब पूरा संसार ऊब रहा है।

वाइविल की कहानी कहती है कि 'आदम' की हड्डी से ईश्वर ने 'ईव' को पैदा किया। यह बात अब तक तो 'मिथ' पुरान, कल्पना थी, लेकिन विज्ञान की खोजों ने सिद्ध किया कि इसमें एक सच्चाई है।

जैसे हम पीछे लौटते हैं जीवन में, तो 'अमीवा', जो जीवन का पहला अंकुरण है पृथ्वी पर, उसमें स्त्री और पुरुष एक साथ हैं। उसका शरीर दोनों का है। उसको पत्नी खोजने कहीं जाना नहीं पड़ता। उसकी पत्नी उसके साथ ही जुड़ी है। वह पति-पत्नी दोनों एक साथ है। वह पहला रूप है 'अमीवा'। फिर बाद में, बहुत बाद में 'अमीवा' टूटा और उसके दो हिस्से हुए।

इसलिए स्त्री और पुरुष में इतना आकर्षण है। क्योंकि 'वायलॉजी' के हिसाव से वे एक बड़े शरीर के दो टूटे हुए हिस्से हैं। इसलिए वे पास आना चाहते हैं, निकट आना चाहते हैं, जुड़ना चाहते हैं, फिर से। सम्भोग उनके जुड़ने की कोशिश है। इस कोशिश में उन्हें क्षण भर का जो मेल मालूम पड़ता है, वही उनका सुख है। यह जो जुड़ने की कोशिश है शरीर के तल पर, यह अर्थपूर्ण है। क्योंकि आधे-आधे हैं दोनों और दोनों को अधूरापन लगता है। पर आत्मा के तल पर न कोई पुरुष है, न कोई स्त्री है।

इसलिए महावीर कहते हैं कि जो स्वरूप को खोज रहा हो, उसके लिए विपरीत के संसर्ग की सार्थकता तो है ही नहीं, खतरा भी है; क्योंकि जैसे ही विपरीत मौजूद होगा, उसका शरीर प्रभावित होना शुरू हो जायेगा। वह कितना ही अपने को रोके, उसके शरीर के अणु विपरीत के प्रति खिचने लगेंगे। यह खिंचाव वैसा ही है, जैसा हम चुम्बक को रख दें और लोहे के कण उसकी तरफ खिंच आयें।

जैसे ही पुरुष मौजूद होगा, स्त्री मौजूद होगी, दोनों के शरीर का रुख आकर्षण का होगा। वह एक दूसरे के करीव आ जाने को उत्सुक हो जायेंगे। आपकी इच्छा और अनिच्छा का सवाल नहीं है। आपकी 'वायलॉजी,' आपके शरीर का ढांचा, आपकी वनावट, आपका होना ऐसा है कि स्त्री और पुरुष के होते ही तत्काल खिंचाव शुरू हो जाता है। उस खिंचाव को आप रोकते हैं। (यह ख्याल पकड़ लेता है कि वह मेरी पत्नी नहीं है, वह मेरा पति नहीं है) आप उसको रोकते हैं। वह सभ्यता है, संस्कृति है, नियम है, लेकिन खिंचाव

शुरू हो जाता है। वह खिंचाव आपको आत्मा के तल पर जाने से रोकेगा। आपकी उर्जा नीचे की तरफ बहने लगेगी।

इसलिए महावीर कहते हैं : यह संसर्ग खतरनाक है ब्रह्मचर्य के साधक को। स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन भी वे कहते हैं कि खतरनाक है, विष जैसा है। क्यों ? क्योंकि आपकी जो भी वीर्य-ऊर्जा है, वह आपके पौष्टिक भोजन से निर्मित होती है। आपकी जो भी कामवासना है, वह पौष्टिक भोजन से निर्मित होती है।

महावीर कहते हैं इतना भोजन लो, जिससे शरीर चल जाता हो। बस इससे ज्यादा भोजन, जो अतिरिक्त शक्ति देगा, उससे कामवासना बनती है। जो अतिरिक्त भोजन है, यह तुम्हें नहीं मिलता, तुम्हारी कामवासना को मिलता है।

इस बात को हम समझ लें।

चलने, उठने, बैठने, काम करने, बोलने, इस सबके लिए एक अनिवार्य शक्ति, एक खास 'केलरी' शक्ति जरूरी है। उतनी 'केलरी' शक्ति शरीर में लग जाती है। उसके अतिरिक्त जो आपके पास बचता है, वही आपकी काम-वासना को मिलता है।

ध्यान रखें : हमारे पास जब भी कुछ अतिरिक्त बचता है—जब भी शरीर में ही नहीं, बाहर भी—अगर आपके 'बैंक-बैलेन्स' में आपके खर्च और जीवन की व्यवस्था को बचाकर कुछ बचता है, तो वह भोग और विलास में लगेगा। उसका कोई और उपयोग नहीं है।

अतिरिक्त हमेशा विलास है। इसलिए जिन समाजों के पास समृद्ध बढ़ेगी, वे विलासी हो जायेंगे। यह बड़ी कठिनाई है।

गरीब की अपनी तकलीफें हैं, अमीर की अपनी तकलीफें हैं। गरीब को जीवन की जरूरतें पूरी नहीं हैं, इसलिए बेइमान हो जायेगा, चोर हो जायेगा, अपराधी हो जायेगा। अमीर के पास जरूरत से ज्यादा है, इसलिए विलासी हो हो जायेगा। संतुलन बड़ा मुश्किल है।

महावीर कहते हैं : सम्यक संतुलन। इतना भोजन जितने से शरीर का काम चल जाता हो। उससे कम भी नहीं, उससे ज्यादा भी नहीं। महावीर का जोर सम्यक् आहार पर है, लेकिन हम ज्यादा लिये चले जाते हैं।

इसमें उन्होंने चीजें गिनाई हैं : दूध, मलाई, घी, मक्खन—यह थोड़ा सोचने जैसा है।

असल में दूध अत्यधिक काम-उत्तेजक आहार है और मनुष्य को छोड़कर पृथ्वी पर कोई पशु इतना कामवासना से भरा हुआ नहीं है। उसका एक कारण दूध है।

कोई पशु बचपन के कुछ समय के बाद दूध नहीं पीता, सिर्फ आदमी को छोड़कर। पशु को जरूरत भी नहीं है। शरीर का काम पूरा हो जाता है। सभी पशु दूध पीते हैं अपनी माँ का, लेकिन दूसरों की माताओं का दूध सिर्फ आदमी पीता है और वह भी आदमी की माताओं का नहीं, जानवरों की माताओं का पीता है।

दूध बड़ी अदभुत बात है और आदमी की संस्कृति में दूध न मालूम क्या-क्या है, इसका हिसाब लगाना कठिन है। बच्चा एक उम्र तक दूध पिये, यह नैसर्गिक है, इसके बाद दूध समाप्त हो जाना चाहिये। सच तो यह है कि जब तक माँ के स्तन से बच्चे को दूध मिल सके, बस, तब तक ठीक है। उसके बाद दूध की आवश्यकता नैसर्गिक नहीं है। बच्चे का शरीर बन गया, निर्माण हो गया, दूध की जरूरत थी—हड्डी के लिए, खून के लिए, माँस बनाने के लिए—'स्ट्रक्चर' पूरा हो गया, ढाँचा तैयार हो गया, अब सामान्य भोजन काफी होगा। अब भी अगर दूध दिया जाता है, तो यह सारा दूध कामवासना का निर्माण करता है। यह अतिरिक्त है। इसलिए वात्सायन ने काम सूत्र में कहा है कि हर सम्भोग के बाद पत्नी को अपने पति को दूध पिलाना चाहिए ठीक कहा है।

दूध जिस बड़ी मात्रा में वीर्य बनाता है, और कोई चीज नहीं बनाती। क्योंकि दूध जिस बड़ी मात्रा में खून बनाता है, और कोई चीज नहीं बनाती। खून बनता है, फिर खून से वीर्य बनता है। तो दूध से निर्मित जो भी है, वह कामोत्तेजक है।

इसलिए महावीर ने कहा है कि दूध उपयोगी नहीं है। खतरनाक है। कम से कम ब्रह्मचर्य के साधक के लिए खतरनाक है। ठीक है। काम-सूत्र और महावीर की बात में कोई विरोध नहीं है। भोग के साधक के लिए सहयोगी है, तो योग के साधक के लिए अवरोध है। फिर पशुओं का दूध है वह। निश्चित ही पशुओं के लिए, उनके शरीर के लिए, उनकी वीर्य ऊर्जा के लिए, जितना शक्तिशाली दूध चाहिए, उतना पशु मादाएँ पैदा करती हैं।

जब एक गाय दूध पैदा करती है, तो आदमी के बच्चे के लिए पैदा नहीं करती, सांड के लिए पैदा करती है। और जब आदमी का बच्चा पिये उस

दूध को और उसके भीतर सांड जैसी काम-वासना पैदा हो जाए, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। वह आदमी का आहार न था। इस पर अब तो वैज्ञानिक भी काम करते हैं और आज नहीं कल हमें समझना पड़ेगा कि आदमी में बहुत सी पशु प्रवृत्तियाँ हैं, तो कहीं उनका कारण पशुओं का दूध तो नहीं है। अगर उसकी पशु प्रवृत्तियों को बहुत बल मिलता है, तो उसका कारण पशुओं का आहार तो नहीं है।

आदमी का क्या आहार है, यह अभी तक ठीक से तय नहीं हो पाया। लेकिन वैज्ञानिक हिसाब से अगर आदमी के पेट की हम जाँच करें, जैसा कि वैज्ञानिक किये हैं, तो वे कहते हैं कि आदमी का आहार शाकाहारी ही हो सकता है। क्योंकि शाकाहारी पशुओं के पेट में जितने बड़े 'इन्टेस्टाइन' (आंत) की जरूरत होती है, उतनी बडी 'इन्टेस्टाइन' है—आदमी के भीतर।

मांसाहारी जानवरों की 'इन्टेस्टाइन' छोटी होती है। जैसे शेर की बहुत छोटी होती है। क्योंकि मांस पचा हुआ आहार है। बड़ी 'इन्टेस्टाइन' की जरूरत नहीं है, पचा-पचाया है, तैयार है भोजन। वह उसने ले लिया, सीधा का सीधा शरीर में लीन हो जायेगा। बहुत छोटे पाचन-यंत्र की जरूरत है।

बड़े मजे की बात है कि शेर चौबीस घंटे में एक बार भोजन करता है। काफी है। बन्दर शाकाहारी है, देखा है आपने उसको! दिन भर चबाता रहता है। उसकी इन्टेस्टाइन बहुत लम्बी है। उसको दिन भर भोजन चाहिए, इसलिए वह दिन भर चबाता रहेगा।

आदमी को भी बहुत मात्रा में एक बार खाने की बजाय, छोटी-छोटी मात्रा में बहुत बार खाना उचित है। वह बन्दर का वंशज है।

जितना शाकाहारी हो भोजन उतना कम कामोत्तेजक है। जितना मांसाहारी हो उतना अधिक कामोत्तेजक होता जायेगा।

दूध मांसाहार का हिस्सा है। दूध मांसाहार है; क्योंकि माँ के खून और मांस से ही निर्मित होता है। शुद्धतम् मांसाहार है। इसलिए जैनी, जो अपने को कहते हैं कि हम गैर-मांसाहारी हैं, उन्हें कहना नहीं चाहिए, जब तक वे दूध न छोड़ दें।

'क्वेकर' (एक धार्मिक सम्प्रदाय) ज्यादा शुद्ध शाकाहारी है, क्योंकि वे दूध नहीं लेते। वे कहते हैं कि दूध 'एनिमल फुड' है। वह नहीं लिया जा सकता। आप कहेंगे, लेकिन दूध हमारे लिए तो पवित्रम है, पूर्ण आहार है, सब कुछ उससे

मिल जाता है, लेकिन वह बच्चे के लिए और वह भी उसकी अपनी मां का; दूसरे की माँ का दूध खतरनाक है। और बाद की उम्र में तो फिर दूध, मलाई और घी और ये सब और उपद्रव हैं—दूध से निकलते हुए। मतलब दूध को हम और भी कठिन करते चले जाते हैं—जब मलाई बना लेते हैं, फिर मक्खन बना लेते हैं, फिर घी बना लेते हैं—तो घी शुद्धतम् काम-वासना हो जाती है। यह सब अप्राकृतिक है और आदमी इनको लिये चला जाता है। निश्चित ही उसका आहार फिर उसके आचरण को प्रभावित करता है।

तो महावीर ने कहा है: सम्यक् आहार, शाकाहारी आहार, बहुत पौष्टिक नहीं, केवल उतना जितना शरीर को चलाता है, सम्यक् रूप से सहयोगी है—उस साधक के लिए, जो अपनी तरफ आना शुरू हुआ।

शक्ति की जरूरत है, दूसरे की तरफ जाने के लिए; शांति की जरूरत है, स्वयं की तरफ आने के लिए। अब्रह्मचारी कामुक-शक्ति के उपाय खोजेगा। कैसे शक्ति बढ़ जाए, शक्ति-वर्धक दवाइयाँ लेता रहेगा—कैसे शक्ति भर जाये। ब्रह्मचर्य का साधक कैसे शक्ति शांत बन जाए, इसकी चेष्टा करता रहता है। जब शक्ति शांति बनती है, तो भीतर बहती है और जब शांति शक्ति बन जाती है, तो बाहर बहना शुरू हो जाती है।

आज इतना ही, पाँच मिनट रुकें, कीर्तन करें।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
८ सितम्बर, १९७२

पाँचवाँ प्रवचन

ब्रह्मचर्य-सूत्र : २

०

सद्दे रुवे य गंधे य, रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो ॥

देवदाणव गन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति तं ॥

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धासिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्सन्तितहाऽवरे ॥

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकार के काम-गुणों को भिक्षु सदा के लिए त्याग दें।

देवलोक सहित समस्त संसार के शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुख का मूल काम-भोगों की वासना ही है। जो साधक इस संबंध में वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुखों से छूट जाता है।

जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं।

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकाल में कितने ही जीव सिद्ध हो गये हैं, वर्तमान में हो रहे हैं, और भविष्य में होंगे।

● पहले एक प्रश्न।

एक मित्र ने पूछा है। यदि काम-वासना केवल जैविक, 'वायलॉजिकल' है, तव तो तन्त्र की पद्धति ही ठीक होगी। यदि मात्र आदतन, 'हैविचुअल' है, तो महावीर की विधि से श्रेष्ठ ओर कुछ नहीं हो सकता। कामवासना जैविक है या आदतन है ?

दोनों है, इसीलिए जटिलता है। ऊर्जा तो जैविक है, 'वायलॉजिकल' है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति वड़ी मात्रा में आदत पर निर्भर है।

पशु और आदमी में जो वड़े से वड़ा अन्तर है, वह यही है कि आदमी के साथ सभी कुछ स्वतंत्र हो जाता है। आदमी के साथ कामवासना की जैविक-ऊर्जा भी स्वतंत्र अभिव्यक्तियाँ लेनी शुरू कर देती है।

पशु की आदत भी 'वायलॉजिकल' है, इसलिए पशुओं में 'सेक्सुअल परव्हर्सन', काम-विकृतियाँ दिखाई नहीं पड़तीं। जैसे पशुओं में समलिंगी-यौन, 'होमोसैक्सुअॅलिटी' नहीं पायी जाती, उन पशुओं को छोड़ कर, जो अजायव-घरों में रहते हैं या आदमियों के पास रहते हैं। पशु यह सोच भी नहीं सकते अपनी निसर्ग अवस्था में कि पुरुप पुरुप के प्रति कामातुर हो सकता है। या स्त्री-स्त्री के प्रति कामातुर हो सकती है। लेकिन एक पुरुप एक पुरुप के प्रेम में पड़ जाता है, एक स्त्री स्त्री के प्रेम में पड़ जाती है, और यह मात्रा वढ़ती ही जाती है।

किन्से ने वर्षो के अध्ययन के वाद अमेरिका में जो रिपोर्ट दी है, वह यह है कि कम से कम साठ प्रतिशत लोग एकाध वार तो जरूर ही समलिंगी-यौन का व्यवहार करते हैं। और करीव-करीव पच्चीस प्रतिशत लोग जीवन भर समलिंगी-यौन में उत्सुक होते हैं—यह वहुत वड़ी घटना है।

स्त्री का पुरुप के प्रति आकर्पण और, पुरुप का स्त्री के प्रति आकर्पण स्वाभाविक है, लेकिन पुरुप का पुरुप के प्रति और स्त्री का स्त्री के प्रति आकर्पण

अस्वाभाविक है। आदमी जड़ आदतों से मुक्त हो गया है। आदमी 'इन्स्टिंक्ट' से (उसकी जो निसर्ग के द्वारा दी गई आदतें हैं, उनसे) ऊपर उठ सकता है। वह बदलाहट कर सकता है। उसकी जो ऊर्जा है, वह नये मार्गों पर बह सकती है।

ब्रह्मचर्य पशुओं के लिए अस्वाभाविक है, आदमी के लिए नहीं। आदमी चाहे तो ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो सकता है, लेकिन कोई पशु ब्रह्मचर्य को उपलब्ध नहीं हो सकता; क्योंकि पशु की कोई स्वतंन्त्रता नहीं है—ऊर्जा को रूपान्तरित करने की, पर आदमी अपनी ऊर्जा को रूपान्तरित करने को स्वतंत्र है।

तन्त्र और योग, दोनों ही मनुष्य की काम-ऊर्जा को रूपान्तरित करना चाहते हैं। यह रूपान्तरण दो तरह से हो सकता है; या तो काम-उर्जा के गहन अनुभवों में जाया जाये—होश-पूर्वक या फिर सारी आदत बदल दी जाये, ताकि काम-ऊर्जा नई आदत को पकड़ कर उर्ध्वगामी हो जाये। रूपान्तरण सदा ही अति से होता है, 'एक्सट्रीम' में होता है।

अगर आप एक पहाड़ से कूदना चाहते हैं, तो आपको किनारे से ही कूदना पड़ेगा। आप पहाड़ के मध्य से नहीं कूद सकते। वहीं से आप कूद सकते हैं, जहाँ से खाई निकट है।

जीवन में भी छलाँग अति से होती है, मध्य से कोई छलाँग नहीं हो सकती। छोर से ही आदमी कूद सकता है।

काम-उर्जा की दो अतियाँ हैं; या तो काम-ऊर्जा में इतने समग्र-भाव से उतर जाये व्यक्ति कि छोर पर पहुँच जाये काम के अनुभव के, तो वहाँ से छलाँग हो सकती है। या फिर इतना अस्पर्शित रहे कि काम के अनुभव में प्रवेश ही न करे, द्वार पर ही खड़ा रहे, तो वहाँ से भी छलाँग हो सकती है। मध्य से कोई छलाँग नहीं हो सकती। सिर्फ बुद्ध ने कहा है कि 'मध्य' मार्ग है। महावीर मध्य को मार्ग नहीं कहते। तन्त्र भी मध्य को मार्ग नहीं कहता। सिर्फ बुद्ध ने कहा हैं कि 'मध्य' मार्ग है। अगर बुद्ध की बात को भी हम ठीक से समझ लें, तो वे मध्य को इतनी अति तक ले जाते हैं कि मध्य मध्य नहीं रह जाता, अति हो जाता है। वे कहते हैं, इंच भर बाएँ भी नहीं, इंच भर दायें भी नहीं, बिलकुल मध्य। बिलकुल मध्य का मतलब है नई अति। अगर कोई बिलकुल मध्य में रहने की कोशिश करे, तो वह नये छोर को उपलब्ध हो जाता है।

जैसा मैंने कल कहा : अगर पानी को हम शून्य डिग्री के नीचे ले जायें तो वह बर्फ बन जाता है और छलांग लग जाती है। अगर हम पानी को सौ डिग्री

गर्मी तक ले जायें, तो वह भाप वन जाता है और छलांग लग जाती है। लेकिन कुनकुना पानी कभी छलाँग नहीं ले सकता, न इस तरफ, न उस तरफ वह मध्य में है।

अधिकतर लोग कुनकुने पानी की तरह हैं—ल्यूक वार्म। न वे वर्फ वन सकते हैं, न वे भाप वन सकते हैं। वे छोर पर नहीं हैं कहीं, जहाँ से छलाँग हो सके। प्रत्येक व्यक्ति को एक छोर पर जाना पड़ेगा, एक अति पर जाना पड़ेगा।

योग और तंत्र—ये दो अतियाँ हैं। योग अभिव्यक्ति को वदलता है, तंत्र अनुभूति को वदलता है। दोनों तरफ से यात्रा हो सकती है।

इन मित्र ने कहा है : अगर तंत्र थोड़े ही लोगों के लिए है, तो आप इसकी चर्चा नहीं करते, तो अच्छा था; क्योंकि चर्चा करना खतरनाक हो सकता है।

जो चीज खतरनाक हो, उसकी चर्चा ठीक से कर लेनी चाहिए। खतरे से वचने का एक ही उपाय है कि हम उसे जानते हों, दूसरा कोई उपाय नहीं है। लेकिन, जव मैं कहता हूँ कि तंत्र वहुत थोड़े लोगों के लिए है, तो आप यह मत समझ लेना कि योग वहुत ज्यादा लोगों के लिए है। वहुत थोड़े ही लोग छलाँग लेते हैं—चाहे योग से, चाहे तंत्र से। अधिकतर लोग कुनकुने ही रहते हैं जीवन भर—न कभी उवलते, न कभी ठंडे होते। यह जो 'मिडियाकर', मध्य में रहनेवाला वड़ा वर्ग है, यह कोई छलाँग नहीं लेता। और यह छलाँग ले भी नहीं सकता। दोनों छोरों से छलाँग होती है, लेकिन छोर पर हमेशा थोड़े से लोग ही पहुँच पाते हैं। छोर पर पहुँचने का अर्थ है, जहाँ वहुत-कुछ त्यागना पड़ता है।

ध्यान रहे, किसी भी छोर पर जाना हो, तो कुछ त्यागना पड़ता है। अगर तंत्र की तरफ जाना हो, तो भी वहुत-कुछ त्यागना पड़ता है। अगर योग की तरफ जाना हो, तो भी वहुत-कुछ त्यागना पड़ता है। अलग-अलग चीजें त्यागनी पड़ती हैं, लेकिन त्यागना तो पड़ता ही है। छोर पर पहुँचने का मतलव है कि मध्य में रहने की जो सुविधा है, वह त्यागनी पड़ती है। मध्य में कभी कोई खतरा नहीं है। वह जो सुरक्षा है, वह त्यागनी पड़ती है।

जैसे-जैसे आदमी छोर पर जाता है, वैसे-वैसे खतरे के करीव आता है। जहाँ परिवर्तन हो सकता है, वहाँ खतरा भी होता है। जहां विस्फोट होगा, जहाँ क्रांति होगी, वहाँ हम खतरे के करीव पहुँच रहे हैं। इसलिए अधिक लोग भीड़ के वीच में जीते हैं। खतरे से सुरक्षा रहती है, दोनों ही खतरनाक हैं। लेकिन

जिन्दगी केवल वे ही लोग अनुभव कर पाते हैं, जो असुरक्षा में उतरने की हिम्मत रखते हैं।

तंत्र भी साहस है, योग भी। महावीर भी कोई बहुत लोग नहीं हो पाते। वह भी आसान नहीं है, आसान कुछ भी नहीं है। आसान है, सिर्फ क्रमशः मरते जाना। जीना तो कठिन है। कठिनाई असुरक्षा में उतरने की है, अज्ञात में उतरने की है।

कुछ लोग तंत्र से पहुँच सकते हैं, कुछ लोग योग से पहुँच सकते हैं। यह व्यक्ति को खोज करनी पड़ती है कि वह किस मार्ग से पहुँच सकता है। लेकिन कुछ सूचनाएँ दी जा सकती हैं : अपने अचेतन को थोड़ा टटोलना चाहिए। अगर अचेतन ऐसा कहता है कि तंत्र तो बड़ा मजेदार होगा; कि इसमें तो कुछ छोड़ना भी नहीं; कि इसमें तो भोग ही भोग है, यही रास्ता ठीक है, तो समझना कि यह रास्ता आपके लिए ठीक नहीं है या आप अपने को धोखा दे रहे हैं।

हर आदमी अपनी अचेतन वृत्ति को थोड़े से ही निरीक्षण से जाँच सकता है। बड़ी जटिल बात नहीं है। भीतरी रस आपको पता ही रहता है कि आप किसलिए कर रहे हैं। अपने को धोखा देना बहुत कठिन है, असंभव है। थोड़ा सा होश रखें, तो आपको जाहिर रहेगा कि आप यह किसलिए कर रहे हैं। अगर आपको रस मालूम पड़ रहा हो तंत्र में, तो तंत्र आपके लिए मार्ग नहीं है। अगर आपको योग में रस मालूम पड़ रहा हो, तो योग भी आपके लिए मार्ग नहीं है।

कुछ लोगों को योग में रस मालूम पड़ता है। आत्म-पीड़क, खुद को सताने वाले लोग, जिनको मनोवैज्ञानिक 'मैसोचिस्ट' कहते हैं, जो अपने को सताने में मजा लेते हैं—ऐसे लोगों को योग में बड़ा रस मालूम पड़ता है। उपवास में, तप में, धूप में खड़े होने में, नग्न होने में—उन्हे बड़ा रस मालूम पड़ता है। किसी भी तरह उन्हें अपने आपको सताने में रस मालूम पड़ता है।

अगर आपको अपने आपको सताने में रस मालूम पड़ रहा हो, तो आप समझना कि योग आपके लिए मार्ग नहीं है। योग आपके लिए बीमारी है। अगर आपको भोग में रस मालूम पड़ रहा हो, इसलिए तंत्र के बहाने आप भोग में उतर रहे हों, तो तंत्र आपके लिए खतरनाक है, बीमारी है।

एक बात ठीक से समझ लेनी चाहिए कि चित्त की अस्वस्थता को किसी भी चीज से सहारा देना खतरनाक है। फिर रस न पड़ रहा हो, क्या उपाय

है ? कैसे हम जानें कि इसमें हमें रस नहीं पड़ रहा है ? एक बात ध्यान में रखनी जरूरी है कि जब भी हम किसी मार्ग से किसी अन्त की तरफ जा रहे हों, तो अन्त में रस होना चाहिए, मार्ग में रस नहीं होना चाहिए।

आप एक मंजिल पर जा रहे हैं, एक रास्ते से तो, आपको मंजिल में रस होना चाहिए, रास्ते में रस नहीं होना चाहिए। अगर आपको रास्ते में रस है, इसीलिए मंजिल को आपने चुन लिया है कि रास्ता सुखद है, सुन्दर छाया है, वृक्ष हैं, फूल हैं, इसलिए इस मंजिल को चुन लें, तो खतरा है। रास्ता कभी मत चुनें, मंजिल चुनें, और मंजिल के अनुकूल रास्ता चुनें। रास्ते में बहुत रस न लें। रास्ते में जो रस लेगा, वह अटक जायेगा। हम सारे लोग रास्ते में रस लेते हैं। हम रास्ता ही ऐसा चुनते हैं।

फ्रायड ने कहा है कि आदमी इतना कुशल है कि वह सब तरह के 'रेशनलाइजेशन' कर लेता है, सब तरह की तर्कबद्ध व्यवस्था कर लेता है। वह जो चुनना चाहता है, वही चुनता है और चारों तरफ तर्क का आवरण खड़ा कर लेता हैं; और अपने को समझा लेता है कि यह मैंने किसी अन्तर्वृत्ति के कारण नहीं, किसी वासना के कारण नहीं, यह मैंने बड़े विवेक-पूर्वक चुना है—यह धोखा बहुत आसान है; लेकिन अगर कोई सजग हो, तो इसे तोड़ना कठिन नहीं है। हम हमेशा ही जान सकते हैं, देख सकते हैं कि भीतर दो तल तो नहीं है। दो तल का मतलब यह होता है कि ऊपर से आप कुछ और समझा रहे हैं अपने को, लेकिन भीतर से बात कुछ और है।

एक आदमी उपवास कर रहा है, और उपर से समझा रहा है कि यह साधना है। लेकिन उसे जांचना चाहिए, कहीं उसे खुद को भूखा मारने में किसी तरह का ग्रहित रस तो नहीं आ रहा है।

ऐसे लोग हैं जो खुद को सताने में रस लेते हैं। जब तक वे अपने को न सताएँ, उन्हें किसी तरह का आनन्द नहीं आता। खुद को सताने में उन्हें ऐसे ही मजा आने लगता है, जैसे कुछ लोगों को दूसरों को सताने में मजा आता है। वह खुद के साथ एक फासला कर लेते हैं।

मेसोक एक बड़ा लेखक हुआ। वह जब तक अपने को कोड़े न मार ले, रोज कांटे न चुभा ले, तब तक उसे रस ही न आए। इसलिए उसी के नाम पर 'मैसोकिज्म', आत्म-पीड़न के सिद्धान्त का निर्माण हो गया।

कोई आदमी काँटे बिछाकर उस पर लेटा हुआ है, वह कितना ही कहे कि हम साधना कर रहे हैं, लेकिन काँटों पर लेटने में उसे यह जाँच करनी चाहिए

कि कहीं कुल रस इतना ही तो नहीं है कि मैं अपने को सता सकता हूँ।

जब आप अपने को सताते हैं, तो आपको लगता है कि आप अपने मालिक हो गए। जब आप अपने को सताते हैं, तो आपको लगता है कि अब ये शरीर आपके उपर मालिक नहीं रहा। इस सताने में अगर भीतरी सुख मिलने लगे, जैसे कि कोई खाज खुजलाता है और सुख मिलता है। ऐसा इस सताने में भी सुख मिलने लगे, तो समझना कि आप 'पैथॉलॉजिकल', रुग्ण दिशाओं में यात्रा कर रहे हैं।

यही तंत्र के बाबत भी सच है। आदमी कह सकता है कि मैं तो सिर्फ कामवासना में उतर रहा हूँ, ताकि कामवासना से मुक्त हो सकूँ। लेकिन, यह दूसरों को धोखा देने में कोई अड़चन नहीं है। पर खुद तो वह जानता ही रहेगा कि सच में कामवासना से मुक्त होने के लिए उतर रहा हूँ या यह सिर्फ एक बहाना है, एक 'एक्सक्यूज' है। खुद के सामने यह निरीक्षण सदा बना रहे, तो आज नहीं कल थोड़ी बहुत भूलचूक करके आदमी उस रास्ते पर आ जाता है, जो मंजिल तक पहुँचाने वाला है।

कौन सा रास्ता आपके लिए मंजिल तक पहुँचाने वाला है, आपके अतिरिक्त इसका निर्णय करना दूसरों को कठिन होगा। आप अगर अपने को धोखा ही देते चले जाएँ, तो आपको भी बहुत अड़चन होगी। और जो अपने को धोखा देने में लगा है, उसका धर्म से अभी कोई संबंध नहीं है, साधना से अभी उसका कोई जोड़ नहीं बैठा है।

आदत भी तोड़ी जा सकती है, अनुभूति भी बदली जा सकती है—यह दो छोर हैं।

ऐसा समझें कि यह एक बिजली का बल्ब जल रहा है। यहाँ अँधेरा करना हो, तो दो उपाय हैं; या तो बिजली बल्ब तक न आने दी जाए, बटन बन्द कर दी जाए, तो अँधेरा हो जायेगा, या बटन चालू भी रहे और बल्ब तोड़ दिया जाए, तो भी अँधेरा हो जायेगा।

तन्त्र का प्रयोग, वह जो भीतर ऊर्जा बह रही है, भीतर, उसको बदलने का है। महावीर का प्रयोग, वह जो बाहर अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया, उसे तोड़ देने का है। दोनों से पहुँचा जा सका है। लेकिन जब भी एक मार्ग की कोई बात करेगा, तो दूसरे मार्ग के विपरीत उसे बोलना पड़ता है, अन्यथा समझाना बिलकुल कठिन और असम्भव हो जाये। अगर तन्त्र पढ़ेंगे, तो लगेगा

कि महावीर जैसा व्यक्ति कभी भी नहीं पहुँच सकता। अगर महावीर को पढ़ेंगे, तो लगेगा कि तान्त्रिक कभी नहीं पहुँचे होंगे। जो जिस मार्ग की बात कर रहा है, वह उस मार्ग को पूरा स्पष्ट कर रहा है।

सभी मार्ग अपने आप में पूरे हैं और सभी मार्गों से पहुँचा जा सकता है। लेकिन ऐसा लगता है कि विपरीत से कैसे पहुँचा जा सकता है।

अब महावीर का यह सूत्र हम समझें।

'शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पांच प्रकार के काम-गुणों को भिक्षु सदा के लिए त्याग दें।'

तन्त्र कहता है—समस्त इंद्रियों का पूरा अनुभव, और महावीर कहते हैं—समस्त इंद्रियों का अवरोध, समस्त इंद्रियों का निषेध।

कामवासना सिर्फ कामवासना ही नहीं है, और कामेन्द्रिय सिर्फ कामेन्द्रिय ही नहीं है, सभी इंद्रियाँ कामेन्द्रियाँ हैं।

जब आप किसी के शरीर को हाथ से छूते हैं, तभी छूते हैं—ऐसा नहीं। जब आप किसी को देखते हैं, तब भी छूते हैं; तब आप आँख से छूते हैं। आँख भी छूती है किसी के शरीर को और हाथ भी छूता है। और जब किसी को आपकी आवाज प्रीतिकर और मधुर लगती है, उत्तेजित लगती है, तब कान भी छूता है। और जब पास से गुजर जाते किसी की शरीर की गंध आन्दोलित कर जाती है, तो नाक भी छूती है।

हाथ बहुत स्थूल रूप से छूते हैं, आँख बहुत सूक्ष्म रूप से छूती है और जननेन्द्रिय गहनतम् स्पर्श करती है, लेकिन सभी स्पर्श हैं; स्पर्श सभी इंद्रियाँ करती हैं।

महावीर कहते हैं : अगर वासना से पूरी तरह छूटना है, तो स्पर्श की जो कामना है अनेक-अनेक रूपों में, वह सभी त्याग देनी चाहिए। आँख से भी भोग न हो, कान से भी भोग न हो, स्वाद से भी भोग न हो। भोग की वृत्ति इंद्रियों के द्वार से बाहर यात्रा न करें। क्योंकि जब आप किसी को देखना चाहते हैं, तो कामवासना शुरू हो गई। किसी की आवाज सुनना चाहते हैं, तो कामवासना शुरू हो गई।

कामवासना 'यौन' ही नहीं है—यह ख्याल में ले लें।

जिसने यह समझा हो कि यौन ही कामवासना है, वह गलती में पड़ेगा। यौन तो उसकी चरम निष्पत्ति है, लेकिन यात्रा का प्रारम्भ तो दूसरी इंद्रियों

से ही शुरू हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आँख जब देखना चाहें, तब भीतर से ध्यान को आँख से हटा लेना। आँख को देखने मत देना। भीतर जो रस है देखने का, उसे हटा लेना—यह सम्भव है, इसकी पूरी साधना है।

आप एक फूल को देख रहे हैं। फूल सुन्दर है····

आप बड़े हैरान होंगे जानकर कि जहाँ-जहाँ सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, वहाँ-वहाँ यौन उपस्थित होता है।

···फूल है क्या ? वृक्ष का यौन है, वृक्ष का 'सेक्स' है। कोयल गीत गा रही है, गीत कान को मधुर लगता है, लेकिन कोयल का गीत है क्या ? कोयल का यौन है। मोर नाच रहा है, उसके पंख आकाश में छाता बन कर फैल गये हैं, इन्द्र-धनुष बना दिया है, सुन्दर लगता है, लेकिन मोर के पंख हैं क्या ? यौन है।

जहाँ-जहाँ आपने सौन्दर्य देखा है, वहाँ-वहाँ योन छिपा है।

जब आप किसी स्त्री के चेहरे की प्रशंसा करते हैं, तो मन में थोड़ा संकोच भी होता है कि प्रशंसा करें, न करें। लेकिन, जब आप कहते हैं कि कितना सुन्दर मोर है, तब आपको जरा भी ख्याल नहीं होता कि भेद कुछ भी नहीं है। वह जो मोर पंख फैलाकर नाच रहा है, वह यौन-आकर्पण का निमन्त्रण है। वह जो कोयल कुहुक रही है, वह साथी की तलाश है। वह जो फूल सुगन्ध फेंक रहा है, और खिल गया है, आकाश में, वह निमन्त्रण है कि उस फूल में छिपे जो वीर्य-कण हैं, मधु-मक्खियाँ आएँ, तितलियाँ आयें और उन वीर्य-कणों को ले जायें और छितरा दें दूसरे फूलों पर।

अगर हम चारों तरफ जगत् में गहरी खोज करें, तो जहाँ-जहाँ हमें सौन्दर्य का अनुभव होता है, वहाँ-वहाँ छिपी हुई कामवासना होगी।

सुगन्ध अच्छी लगती है, लेकिन आपको अंदाज नहीं होगा (बायोलॉजिस्ट कहते हैं) कि सुगन्ध का जो बोध है, वह यौन से जुड़ा है।

पशु गन्ध से ही आकर्षित होते हैं; इसलिए नर और मादा पशु एक दूसरे की योनि की गन्ध लेते हुए दिखाई पड़ते हैं। वे गंध से आकर्षित होते हैं। गंध ही निर्णायक है। जब पशु मादाएँ कामातुर होती हैं तो उनकी योनि से विशेष गन्ध फैलनी शुरू हो जाती है। वह गन्ध निमन्त्रण है। वह गन्ध दूर तक फैल जाती है और नर को आकर्षित करती है। जैसे ही वह गन्ध मिलती है, नर आकर्षित हो जाता है।

आदमी भी गन्ध का बहुत उपयोग करता है। स्त्रियाँ जानती हैं कि गन्ध कीमती है और गन्ध आकर्षण निर्मित कर लेती है। गन्ध का, आदमी दो तरह

से उपयोग करता है। एक तो आकर्षित करने के लिए, एक शरीर की गन्ध को छिपाने के लिए। क्योंकि शरीर की गन्ध भी यौन-निमन्त्रण है। इसलिए उसे छिपाना जरूरी है।

सम्भोग के क्षण में स्त्री-पुरुष के शरीरों की गन्ध बदल जाती है, क्रोध के क्षण में स्त्री-पुरुष के शरीरों की गन्ध बदल जाती है, प्रेम के क्षण में स्त्री-पुरुषों के शरीरों की गन्ध बदल जाती है। आपके शरीर में एक सी गन्ध नहीं रहती चौबीस घण्टे। आपका मन बदलता है, तो शरीर की गन्ध बदल जाती है।

गन्ध है, स्वाद है, रस है, ध्वनि है—ये सभी कामवासना से जुड़े हुए हैं। अगर हम ऐसा समझें तो कुछ कठिनाई न होगी कि जननेन्द्रिय केन्द्रीय इन्द्रीय है और सारी इन्द्रियाँ उसके उपांग हैं, उसकी शाखाएँ हैं। जैसे जननेन्द्रिय ने आँख को निर्मित किया कि खोजो मेरे लिए रूप। जैसे जननेन्द्रिय ने कान को निर्मित किया है, कि खोजो मेरे लिए ध्वनि। जैसे जननेन्द्रिय ने सारी इन्द्रियों को निर्मित किया है और वे उसकी द्वार हैं; जहाँ से वह जगत् में प्रवेश करती है, जहाँ से वह जगत् में तलाश करती है, जहाँ से वह जगत् में खोजती हैं।

कामवासना इन्द्रियों के द्वार से जगत् में फैलती है। हर इन्द्रिय कामेन्द्रिय है—यह, महावीर की बात ठीक से ख्याल में ले लेनी जरूरी है। इसलिए महावीर कहते हैं वह जो साधना में लीन हुआ है साधक, वह समस्त इन्द्रियों से अपने ध्यान को हटा ले। अगर समस्त इन्द्रियों से ध्यान को हटा दिया जाये, तो कामेन्द्रियों का नब्बे प्रतिशत द्वार अवरुद्ध हो जाता है। वह बाहर नहीं बह सकती है।

आप थोड़ा सोचें कि यदि आपकी आँख बन्द हो, तो सौन्दर्य का कितना अर्थ समाप्त हो जाये !······

अन्धा आदमी भी सौन्दर्य का अनुभव करता है, लेकिन हाथ से छूकर ही कर पाता है। और हाथ से जो छूएगा, उसके सौन्दर्य का हिसाब बदल जायेगा, आँख से देखे हुए सौन्दर्य की बात और है।

······आपकी सारी इन्द्रियाँ बन्द हो गई हों, तो आपके लिए सौन्दर्य का क्या अर्थ होगा ? कोई भी अर्थ नहीं रह जायेगा। सारा अर्थ इन्द्रियों का अनुदान है।

महावीर कहते हैं अपने को सिकोड़ लेना, केन्द्र पर रोक लेना, किसी इन्द्रिय से बाहर नहीं जाना। इन्द्रियाँ जबरदस्ती किसी को बाहर नहीं ले जाती,

हम जाना चाहते हैं, इसलिए जाते हैं । जब हम नहीं जाना चाहते, तो इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जाती हैं ।

आपके घर में आग लग गई है, एक सुन्दर स्त्री आपके सामने से निकलती है, तो आपको वह बिलकुल दिखाई नहीं पड़ती । आँख आपकी देखेगी, आँख का काम देखना है, लेकिन आप आँख के पीछे मौजूद नहीं हैं अभी, ध्यान मकान में लगी आग की तरफ चला गया है, इसलिए कोई दिखाई नहीं पड़ेगा । कोई सुन्दर गीत गा रहा हो, तो सुनाई नहीं पड़ेगा । कोई आकर चारों तरफ गुलाब की सुगन्ध छिड़क दे, तो आपकी नाक को पता नहीं चलेगा··· क्या हुआ ?

सारा ध्यान मकान में लगी आग की तरफ आकर्षित हो गया । आग इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई कि ध्यान बँट नहीं सकता और इन्द्रियों की तरफ जा नहीं सकता ।

महावीर कहते हैं : जिसे ब्रह्मचर्य इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि वही उसकी मुक्ति का मार्ग है, ऐसी प्रतीति हो रही हो—उसे कठिन नहीं होगा कि वह अपने ध्यान को इन्द्रियों से अलग कर ले । हमें कठिन होगा, बहुत कठिन होगा, क्योंकि इन्द्रियाँ ही हमारा जीवन हैं । इन्द्रियों के अतिरिक्त हमारा कोई अनुभव नहीं है । जो हमने जाना है, जो हमने जिया है, वह इन्द्रियों से ही जाना है और जिया है और बड़ा अद्‌भुत है इन्द्रियों का लोभ । क्योंकि इन्द्रियों से जो हम जानते हैं, वह स्वप्नवत् है ।

फूल को देखा है आपने ? आप देखते क्या हैं ? वैज्ञानिक से पूछें या महावीर से पूछें—फूल में आप देखते क्या हैं ? फूल को तो देख नहीं सकता कोई आदमी, क्योंकि फूल कभी आँख के भीतर जाता नहीं । फिर आप देखते क्या हैं ?

फूल से सूरज की किरणें आती हैं लौटकर, वे किरणें आप की आँख पर पड़ती हैं । वे किरणें भीतर भी नहीं जा सकती, सिर्फ आँख की सतह को स्पर्श करती हैं । आँख की सतह के भीतर जो रासायनिक द्रव्य है, वे उन किरणों से संचालित हो जाते हैं । वे रासायनिक द्रव्य, जो आपकी आँखों के पीछे जमे हुए तन्तुओं का जाल है, उसको कम्पित करते हैं, वे कम्पन आप तक पहुँचते हैं । उन्हीं कम्पनों को आपने देखा है ।

इसलिए तो एक बड़ी अद्‌भुत घटना घटती है । एक नग्न स्त्री को आप देखें, तो जैसे तन्तु कँपते हैं, वैसे एक नग्न स्त्री का चित्र देख के भी कँपते हैं ।

इसलिए तो 'पोरनोग्राफी,' अश्लील साहित्य का इतना मूल्य है। क्योंकि तन्तु तो उसी तरह हिलने लगते हैं, मजा उसी तरह आने लगता है, वल्कि सच तो यह है कि नग्न स्त्री को देख कर उतना मजा कभी नहीं आता; जितना नग्न स्त्री के चित्र को देख कर आता है। उसके कई कारण हैं।

स्त्री की वास्तविक मौजूदगी आपके ध्यान में वाधा वनती है। चित्र में कोई मौजूद नहीं होता। आप अकेले होते हैं। ध्यानस्थ हो जाते हैं। और भीतर आपको रस आने लगता है। उतना ही रस आने लगता है। शायद ज्यादा भी आने लगता है; क्योंकि वास्तविक स्त्री के साथ कल्पना का उपाय नहीं रह जाता। वास्तविक स्त्री सामने मौजूद हो, तो कल्पना करने का कोई उपाय नहीं है। लेकिन चित्र आपको कल्पना देता है। और चित्र कहता है कि जव चित्र इतना सुन्दर है, तो वास्तविक स्त्री कितनी सुन्दर होगी ! और आपकी कल्पना के पंख फैल जाते हैं। इसलिए जो लोग चित्र में रस लेने लगते हैं, उनको वास्तविक स्त्री फीकी मालूम पड़ने लगती है।

स्त्रियाँ वहुत होशियार हैं। उन्होंने चित्रों में कभी रस नहीं लिया। वास्तिविक पुरुप के प्रेम में भी वह आँख वन्द कर लेती हैं; क्योंकि कल्पना वास्तविक से सदा ज्यादा सुन्दर है। स्त्रियाँ होशियार हैं। आप उन्हें आलिंगन में लें, तो वे आँख वंद कर लेंगी। आँख वन्द करने का मतलव यह है कि अव आप वास्तविक पुरुप कम, काल्पनिक देवता ज्यादा हो गये। अव उनके भीतर एक कल्पना का देव खड़ा है। इसलिए पुरुप जितनी जल्दी स्त्रियों से ऊब जाते हैं, स्त्रियाँ उतनी जल्दी पुरुपों से नहीं ऊवती—यह वड़े मजे की वात है।

फ्रायड ने गहन विश्लेपणों से यह कहा है कि स्त्री और पुरुप हमेशा परिपूरक हैं हर चीज में। फ्रायड ने दो शव्दों का उपयोग किया है। एक को वह कहता है—'व्होयूर', जो देखने में उत्सुक हैं। पुरुप को वह कहता है, 'व्होयूर', जो देखने में उत्सुक है। स्त्री को वह कहता है—'एक्जिवीशनिस्ट', जो दिखाने में उत्सुक है। दोनों परिपूरक हैं। क्योंकि कोई दिखाने वाला चाहिए तव देखने वाले को कोई रस हो और कोई देखने वाला चाहिए, तव दिखाने वाले को रस होगा।

स्त्री पुरुप सव दिशाओं में परिपूरक हैं। इसलिए पुरुप सदा चाहता है कि प्रेम अँधेरे में न हो, प्रकाश में हो। स्त्री सदा चाहती है कि प्रेम अंधेरे में हो, प्रकाश में न हो। पुरुप देखना चाहता है, स्त्री देखना नहीं चाहती। इसलिए पुरुपों ने नग्न स्त्रियों के वहुत चित्र निर्मित किये, लेकिन स्त्रियों ने नग्न पुरुपों

में कोई रस लिया ही नहीं कभी। स्त्री को थोड़ी परेशानी ही होती है नग्न पुरुष को देख कर। कोई सुख नहीं मिलता। लेकिन पुरुष के सामने स्त्री कपड़े भी पहने खड़ी हो, तो कल्पना में वह उसे नग्न करना शुरू कर देता है।

यह जो हमारे चित्त की कल्पना है, जब हम कल्पना करते हैं, तब तो कल्पना होती है। जब हम वास्तविक कुछ अनुभव करते हैं, तब भी कल्पना से ज्यादा क्या होता है! एक फूल को देखें, स्त्री को देखें या पुरुष को देखें, आप को भीतर मिलता क्या है! वास्तविक तो कुछ भी नहीं मिलता। कुछ कम्पन उपलब्ध होते हैं। उन्हीं कम्पनों के लोक को हम संसार कहते हैं।

जब आपको अच्छी सुगन्ध मालूम पड़ती है, तो होता क्या है! कम्पन, 'वाइब्रेशन्स'। जब आप को अच्छा स्वाद आता है, तो होता क्या है जीभ में! कम्पन, 'वाइब्रेशन्स'।

हमारा सारा सुख 'वाइब्रेशन्स' है। और बड़ मजे की बात है कि अब यह 'वाइब्रेशन' बिना किसी बाहरी वास्तविक चीज के पैदा किये जा सकते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं आप के मस्तिष्क में एक 'इलेक्ट्रोड' लगाया जा सकता है। जिस तरह सुन्दर स्त्री को देख कर आप के मन के तन्तु कँपते हैं, उसी तरह बिजली से कँपाये जा सकते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं, जब वे तन्तु बिजली से कँपेंगे, तो आप को वही मजा आना शुरू हो जायेगा, जो सुन्दर स्त्री को देख कर आता है।

अभी एक वैज्ञानिक साल्टर ने चूहों पर बहुत से प्रयोग किये। उसका एक प्रयोग बहुत हैरानी का है। कभी न कभी आदमी को उस प्रयोग से बहुत कुछ सीखना पड़ेगा। उसने अध्ययन किया कि एक चूहे को चूही को देख कर जब सुख मिलना शुरू होता है तो उसके मस्तिष्क में क्या होता है। कौन से कम्पन होते हैं। सारे कम्पन उसने अध्ययन किये वर्षों तक। फिर उन कम्पनों की सूक्ष्मतम् विधि उसने खोज ली। बिजली से उन कम्पनों को पैदा करने का उपाय निर्मित कर लिया। फिर एक चूहे को 'इलोक्ट्रोड' लगा दिया। न केवल 'इलोक्ट्रोड' लगा दिया बल्कि चूहे के पंजे के पास बिजली का बटन भी लगा दिया कि जब भी वह चाहे उन कम्पनों को, बटन को दबा दें। बटन दबाने से उसके भीतर वही कम्पन शुरू हो जायें और उसे वही मजा आने लगे, जो मजा मादा के साथ सम्भोग में आता है।

आप जानकर हैरान होंगे कि चूहे ने फिर खाना-पीना बिलकुल छोड़ दिया। मादाएँ आस-पास घूमती रहीं, उनमें भी उसने रस छोड़ दिया। फिर

तो वह एक ही काम करता रहा बटन को दबाना। चौबीस घंटे चूहा सोया नहीं। उसने हजारों दफे बटन दबाया। वह जब तक बिलकुल थक कर चूर होकर गिर नहीं गया, तब तक वह एक ही काम करता रहा बटन दबाने का। जैसे ही वह बटन दबाता भीतर कम्पन शुरू हो जाते। वही कम्पन जो उसको सम्भोग में होते थे।

सम्भोग में आप को भी क्या होता है! कुछ 'वाइब्रेशन्स,' कुछ कम्पनों के सिवाय कुछ भी नहीं होता। वह जो कम्पन हैं, अगर बिजली के बटन से पैदा हो जायें, तो आपको पता लगेगा कि आप किस लोक में जी रहे हैं। वह चूहा ही बटन दबाकर जी रहा है, ऐसा मत सोचना। आप भी उन्हीं बटनों को दबा कर जी रहे हैं। बटन आप की प्राकृतिक है, चूहे की कृत्रिम थी। आज नहीं कल आदमी अपने लिए भी कृत्रिम बटन बना लेगा। और मैं जानता हूँ कि जिस दिन आदमी ने अपने आन्तरिक कम्पनों को पैदा करने के छोटे उपाय कर लिये, उस दिन स्त्री-पुरुष के बीच कोई रस नहीं रह जायेगा। क्योंकि तब आप ज्यादा बेहतर ढंग से उन्हीं कम्पनों को पैदा कर सकते हैं। तब दूसरे पर निर्भर रहने की कोई जरूरत नहीं। अपने खीसे में एक छोटी सी बैटरी लिये आप चल सकते हैं। जब आप का मन हो आप बटन दबा लें और भीतर आपको सम्भोग के कम्पन शुरू हो जायें। और जो बात बैटरी से हो सके, और ज्यादा सुगमता से हो सके और कभी भी हो सके, उसके लिए कौन पति पत्नी का उपद्रव लेने जाता है!

सात्टर की खोज भविष्य के लिए बड़ी महत्वपूर्ण सिद्ध होने वाली है। पर मैं आपसे इसलिए साल्टर की खोज की बात कर रहा हूँ, ताकि महावीर को समझ सकें। महावीर कहते हैं किस बचपन में उलझे हो। जो भी तुम अनुभव कर रहे हो सुख, वह सिर्फ छोटे से कम्पन हैं। उन कम्पनों का क्या मूल्य है! स्वप्नवत्।

और आदमी जन्मों-जन्मों, जीवन-जीवन उन्हीं कम्पनों में अपने को गँवा देता है। उन्हीं में अपने को खो देता है। कोई स्वाद के लिए जीता है। कोई सुगंध के लिए जीता है। कोई रूप के लिए जीता है। कोई ध्वनि के लिए जीता है। लेकिन क्या यह जीना है? क्या हम कुछ कम्पनों से तृप्त हो जायेंगे? होता तो यह है कि जितना हम पुनरुक्त करते हैं उन कम्पनों को, उतनी ऊब बढ़ती चली जाती है। फंसते भी जाते हैं। आदत भी बनती जाती है। ऊबते भी चले जाते हैं। कुछ मिलता भी मालूम नहीं पड़ता। और फिर भी एक मजबूरी,

एक 'ऑब्सेशन' के कारण हम वही करते चले जाते हैं, जिससे कुछ मिलता दिखाई नहीं पड़ता। धीरे-धीरे सब कम्पन बोथले हो जाते हैं। फिर उनसे कुछ भी पैदा नहीं होता। उन कम्पनों को न करें, तो उदासी मालूम पड़ती है, खालीपन, 'एम्पटीनेस' मालूम पड़ता है। इसलिए करना भी पड़ता है।

महावीर कहते हैं : जो व्यक्ति कम्पनों में उलझा है, वह संसार में उलझा है। इन कम्पनों से ऊपर उठे बिना कोई व्यक्ति आत्मा को उपलब्ध नहीं होता। कैसे ऊपर उठेंगे ? तो वे कहते हैं : 'शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकार के काम गुणों को भिक्षु सदा के लिए त्याग दें।'

क्या करेंगे त्याग में आप ? क्या पानी न पीयेंगे ? क्या भोजन न करेंगे ? क्या आंखें न खोलेंगे ?

रास्ते पर चलेंगे, तो आँख खोलनी पड़ेगी। भोजन करेंगे, तो स्वाद आयेगा। कोई गीत गायेगा, कोई मधुर आवाज होगी, तो कान सुनेंगे। त्याग कैसे करेंगे ?

त्याग का एक ही गहन अर्थ है कि जब भी कुछ सुनाई पड़े, स्वाद में आए, दिखाई पड़े, तो ध्यान को उससे तोड़ लेना। भीतर ध्यान को तोड़ लेना। आंखें चाहे देखें, पर तुम मत देखना। जीभ भले स्वाद ले, पर तुम स्वाद मत लेना।

जनक को किसी संन्यासी ने पूछा कि आप इस महल में राणीयों के बीच इतने वैभव में रह कर किस प्रकार ज्ञानी हैं, तो जनक ने कहा : कुछ दिन रुको, समय पर उत्तर मिल जायेगा। (और उत्तर समय पर ही मिल सकते हैं। समय के पहले दिये गये उत्तर किसी अर्थ के नहीं होते)।

संन्यासी रुका—एक दिन, दो दिन, तीन दिन। चौथे दिन सुबह ही सुबह भोजन के लिए संन्यासी आ रहा था कि (जनक खुद बैठ कर उसे भोजन कराते थे।) सिपाहियों की एक टुकड़ी ने आकर संन्यासी को घेर लिया और संन्यासी को कहा कि महाराज ने कहा है कि आज साँझ आपको सूली पर चढ़ा दिया जायेगा।

संन्यासी ने पूछा : लेकिन मेरा अपराध ? मेरा कसूर ?

सिपाहियों ने कहा कि वह आप महाराज से पूछ लेना। हमें इतनी ही आज्ञा है।

फिर वे उसे लेकर भोजन के लिए आये। वह भोजन के लिए थाली पर बैठा। महाराज पंखा झलते रहे और वह भोजन करता रहा। लेकिन उस दिन स्वाद नहीं आया उसे क्योंकि साँझ मौत थी, इसलिए ध्यान हट गया।

भोजन के बाद जनक ने पूछा कि सब ठीक तो था! कोई कमी तो नहीं थी?

उसने कहा, क्या ठीक था! क्या कमी न थी!

सम्राट ने कहा : रसोईये ने अभी-अभी खबर दी है कि वह नमक डालना भूल गया था, क्या आप को पता नहीं चला?

उस संन्यासी ने कहा कि कुछ भी पता नहीं चला—भोजन किया भी या नहीं किया। ऐसा लगता है, जैसे कोई···स्वप्न···साँझ···मौत···पूछना चाहता हूँ कि क्या हमारा कसूर!

जनक ने कहा : कोई कसूर नहीं और न कोई मौत होने को है। इतना ही कहना था कि अगर मौत का स्मरण बना रहे, तो इन्द्रियाँ भोगों में रह कर भी दूर हट जाती हैं।

तब जीभ पर कम्पन होते हैं, लेकिन स्वाद नहीं आता। तब कान पर कम्पन होते हैं, लेकिन रस पैदा नहीं होता।

रस पैदा होता है : कम्पन और ध्यान के जोड़ से।

जीभ पर स्वाद आता है, कम्पन पैदा होता है। आत्मा ध्यान भेजती है जीभ तक, दोनों का जोड़ होता है—तब रस पैदा होता है।

आँख देखती है रूप को, कम्पन होते हैं। भीतर से आत्मा ध्यान को भेजती है, कम्पन और ध्यान का मेल होता है, तब सौन्दर्य का बोध होता है—तब रस पैदा होता है।

रस दो चीजों का जोड़ है : बाहर से आये कम्पन और भीतर से आए ध्यान। अगर ध्यान हट जाये कम्पन से, तो रस विलीन हो जाता है। इसी को महावीर ने त्याग कहा है। यह त्याग अत्यन्त भीतरी घटना है। इस त्याग के दो रूप हैं : जो व्यर्थ के कम्पन हों, उन्हें छोड़ ही देना उचित है। जो अनिवार्य कम्पन हो, उनसे ध्यान को अलग कर लेना चाहिये। तो धीरे-धीरे, धीरे-धीरे इन्द्रियाँ अलग और आत्मा अलग हो जाती है। जब सब जगह से ध्यान का रस विलीन हो जाता है, तो हमें पता चलता है कि शरीर अलग और मैं अलग हूँ। हमें पता नहीं चलता कि शरीर अलग और मैं अलग हूँ—इसका एक ही कारण

है कि हमारा ध्यान निरन्तर ही बाहर से आये हुए कम्पनों से जुड़ जाता है। उस जोड़ के कारण ही हम शरीर से जुड़े हैं। वह जोड़ टूट जाये, तो हम शरीर से टूट जाते हैं।

आत्म-अनुभव, रस-परित्याग के बिना संभव नहीं है।

'देव-लोक सहित समस्त संसार के शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुख का मूल काम-भोगों की वासना ही है। जो साधक इस सम्बन्ध में वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुखों से छूट जाता है'।

हमारा जानना कुछ और है। हमारा जानना यह है कि समस्त दुखों का मूल इन्द्रियों का आनन्द है। आप ने कोई ऐसा सुख जाना है, जो इन्द्रियों के अतिरिक्त जाना हो? नहीं जाना होगा। सभी सुखों का मूल हमें इन्द्रियां मालूम पड़ती हैं। कभी भोजन में कुछ आनन्द आ जाता है। कभी आँख देख लेती है किसी दृश्य को। (जरूरी नहीं कि वह दृश्य स्त्री-पुरुष का हो। वह कश्मीर का हो, डल झील का हो, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता)। आँख देख लेती है किसी झील को। आंख देख लेती है किसी चाँद को। रस आ जाता है। सुख आ जाता है।

आपने कभी कोई ऐसा सुख जाना है, जो इन्द्रियों के बिना आपको आया हो? ऐसे सुख का आपको अनुभव हो जाये, तो उसी को आनन्द महावीर ने कहा है। लेकिन हमारा ऐसा कोई अनुभव नहीं है। महावीर कहते हैं, समस्त दुखों का मूल वासना है और हम सोचते हैं कि समस्त सुखों का आधार है, तो थोड़ा सोचना पड़ेगा।

आपने कोई ऐसा दुख जाना है, जो इन्द्रियों के बिना आप को मिला हो? न आपने ऐसा कोई सुख जाना है, जो इन्द्रियों के बिना मिला हो, न ऐसा कोई दुख जाना है, जो इन्द्रियों के बिना मिला हो। महावीर कहते हैं कि इन्द्रियों के बिना भी एक सुख मिल सकता है, जिसका नाम आनन्द है। इन्द्रियों के बिना कोई दुख नहीं मिल सकता, इसलिए उसका कोई नाम नहीं है। आनन्द के विपरीत कोई नाम नहीं है।

इन्द्रियों का सुख भ्रान्ति है। इन्द्रियों का दुख ही वास्तविकता है। फिर जिसे हम सुख कहते हैं, उसके कारण ही हमें दुख मिलता है। आज स्वाद में सुख मिलता है, अगर यह स्वाद कल न मिले, तो दुख मिलेगा। अगर यह स्वाद

कल भी मिले, परसों भी मिले, तो भी दुख मिलेगा। स्वाद न मिले, तो पीड़ा अनुभव होगी पाने की। स्वाद मिलता रहे, तो वोथला हो जायेगा, ऊब पैदा हो जायेगी। इसलिए रोज जिनको अच्छा भोजन मिलता है, उनका स्वाद खो जाता है, उनको फिर स्वाद नहीं आता। जिनको अच्छे विस्तर पर रोज सोने को मिलता है, उन्हें फिर विस्तर का पता चलना वन्द हो जाता है।

जो भी आपके पास है, उसका आपको पता नहीं चलता। सुख अगर मिलता रहे, तो विलीन हो जाता है। न मिले, तो दुख देता है। सुख हर हालत में दुख देता है। मिले तो, न मिले तो। जिसे हम सुख कहते हैं, वह दुख के लिए एक द्वार ही है। उससे वचने का कोई उपाय ही नहीं है। जो सुख की तरफ आकर्षित हुआ, वह दुख में गिरेगा।

दुख दो तरह के हो सकते हैं; मिलने का दुख हो सकता है और न मिलने का दुख हो सकता है। ज्यादा से ज्यादा हम दुख वदल सकते हैं। इससे ज्यादा संसार में कोई उपाय नहीं है। एक दुख को छोड़ कर हम दूसरे दुख पर जा सकते हैं। एक दुख को छोड़ कर दूसरे दुख के जाने में वीच में जो थोड़ा अन्तराल पड़ता है, उसे ही लोग सुख कहते हैं। जितनी देर को वे दुख में नहीं होते, उतनी देर को सुख कहते हैं। हमारा सुख नकारात्मक है 'नेगेटिव' है।

इसलिए महावीर कहते हैं, समस्त दुखों का मूल इन्द्रियाँ हैं। जव तक हमें यह दिखाई न पड़ जाये, तव तक हम इन्द्रियों से ऊपर उठने की चेष्टा में भी संलग्न न होंगे। अगर हमें यही दिखाई पड़ता रहे कि समस्त सुखों का मूल इन्द्रियाँ हैं, तो स्वभावतः हम अपने संसार को फैलाये चले जाएँगे।

पुनर्जन्म का एक ही मूल कारण है कि इन्द्रियाँ सुख का आधार हैं। मोक्ष का एक ही कारण है कि इन्द्रियाँ दुख का कारण हैं।

तो हम अपने सुख की थोड़ी तलाश करें। जव भी आपको सुख मिले, तो आप थोड़ी खोज करना। पहले तो यह देखना कि यह सुख क्या है? जैसे ही आप देखेंगे निन्यानवे प्रतिशत सुख तिरोहित हो जायेगा। जिसे आप प्रेम करते हैं, उसका हाथ अपने हाथ में लेकर, आँख वन्द करके जरा ध्यान करना कि क्या सुख मिल रहा है, तो सिर्फ हाथ में हाथ रह जायेगा। थोड़ा और ध्यान करेंगे, तो हाथ में सिर्फ वजन रह जायेगा। और थोड़ा ध्यान करेंगे, तो सिर्फ पसीना हाथ में छूट जायेगा।

कौन सा सुख मिल रहा था उसको, जरा गौर से देखना ! जब मुँह में भोजन डाला और रस आ रहा हो, स्वाद मालूम पड़ रहा हो, तब ज़रा आँख भी बन्द कर लेना और उस पर ध्यान करना कि कौन सा सुख मिल रहा है ! निन्यानबे प्रतिशत सुख तत्काल तिरोहित हो जायेगा। थोड़ी देर में आप पायेंगे कि मुँह सिर्फ एक यांत्रिक काम कर रहा है चबाने का। जीभ एक यांत्रिक काम कर रही है खबर देने का कि कौन सा भोजन ले जाने योग्य है और कौन सा भोजन ले जाने योग्य नहीं है।

स्वाद का जीवन के लिए इतना ही उपयोग है कि कहीं जहर न खा लिया जाये। कहीं कड़वी चीज न खा ली जाये। कहीं कुछ व्यर्थ न भीतर चला जाये। जीभ खबर दे रही है, कान खबर दे रहे हैं, आँखें खबर दे रही हैं—ये जीवन 'सरवाइवल मेजर' हैं, बचने के उपाय हैं। इससे ज्यादा मूल्य खतरनाक है। सुख ज्यादा मूल्य देने की बात है।

इसे ठीक से जो खोज करेगा अपने भीतर, वह पायेगा कि जब सुख होता है, तब कुछ होता नहीं, सिर्फ एक सम्मोहित ख्याल होता है, सिर्फ एक कल्पना होती है।

आपको कोई एक चमकदार पत्थर लाकर दें और कहें कि बहुमूल्य हीरा है और आपको भरोसा हो जाये, तो उस रात आप सो न सकेंगे इतने सुख से भर जाएँगे। सुबह पता चले कि वह पत्थर का ही टुकड़ा है, हीरा नहीं है—सिर्फ काच है चमकता हुआ, तो आपका सब सुख तिरोहित हो जायेगा। रात जो सुख आपने लिया था, वह हीरे के कारण नहीं था, वह सुख आपकी मान्यता के कारण था, क्योंकि वह हीरा तो था ही नहीं। वह सुख आपका 'प्रोजेक्शन' था, आपका प्रक्षेप था। आपने एक धारणा हीरे पर फैला ली, और वह धारणा आपको सुख दे गई। जिस स्त्री में आपको सौन्दर्य दिखता है, जिस पुरुष में आपको सौन्दर्य दिखता है, जहाँ आपको रस दिखता है, वहाँ फैली हुई आपकी धारणा है। उस धारणा के कारण ही सारा उपद्रव है।

इस धारणा को ही ठीक से देख लें कोई व्यक्ति, तो सब सुख तिरोहित हो जाता है और तब दुख का एक सागर दिखाई पड़ता है, तब वास्तविकता दिखाई पड़ती है—सुख की छाया के नीचे छिपी हुई कि हम केवल दुख झेल रहे हैं, अनेक-अनेक प्रकार के दुख झेल रहे हैं—अभाव के, भाव के, होने के, न होने के, गरीबी के, समृद्ध के, यश के, अपयश के—न मालूम कितने दुख झेल रहे हैं।

इतना दुख का यह उद्घाटन देखकर पश्चिम में लोगों को लगा कि ये महावीर, ये बुद्ध, ये सब दुखवादी हैं। ये क्यों इतना दुख को, घाव को उघाड़ते हैं?

अच्छा हो कि घाव हो, तो पलस्तर करके ढाँक देना चाहिए। गन्दी नाली हो, तो थोड़ी सी सुगन्ध छिड़क कर फूल लगा देना चाहिये।

...यह क्यों सारे फूलों को उघाड़ कर भीतर की पीड़ा को, भीतर की दुर्गन्ध को बाहर लाना चाहते हैं? ये बड़े खतरनाक मालूम पड़ते हैं! ये तो जीवन को नष्ट कर देंगे! ये तो जीवन के प्रति एक विरक्ति, जीवन के प्रति एक अलगाव पैदा कर देंगे!

लेकिन नहीं, महावीर और बुद्ध का वैसा प्रयोजन नहीं है। वे चाहते हैं; जो सत्य है, वह दिखाई पड़ जाये। जीवन की जो भ्रांति है वह टूट जाये, तो शायद हम किसी और गहरे जीवन की खोज में जा सकें। वह जो हमने ढाँक-ढाँक कर एक झूठा जीवन बना रखा है, उसकी पर्त-पर्त उखड़ जानी चाहिए। वह जो हमने झूठे मुखौटे लगा रखे हैं, वह जो झूठी धारणाएँ अपने चारों तरफ फैला रखी हैं, वे सब गिर जानी चाहिएँ। वे गिर जाएँ, तो शायद हमारी जीवन-ऊर्जा व्यर्थ के कामों में संलग्न न रहे और सार्थक की खोज पर निकल जाये।

इसलिए महावीर कहते हैं कि 'जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है', इन्द्रियों से अपने को खींच लेता है भीतर, तोड़ देता है रस—'उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं।

महावीर और बुद्ध पहले व्यक्ति हैं मनुष्य जाति के इतिहास में, (निश्चित ही महावीर पहले व्यक्ति हैं; क्योंकि बुद्ध महावीर से थोड़े बाद में पैदा हुए।) जिन्होंने कहा कि ऐसा क्षण भी है मनुष्य की चेतना का, जब देवता भी उसे नमस्कार करते हैं। अन्यथा दुनिया के सारे धर्म मानते हैं कि मनुष्य सदा देवताओं को नमस्कार करते हैं।

'देवता मनुष्य को नमस्कार करते हैं'—इससे ज्यादा मनुष्य के प्रति महिमा की बात कुछ और नहीं हो सकती। महावीर ने कहा कि ऐसा भी क्षण है मनुष्य के जीवन में, जब देवता उसे नमस्कार करते हैं। इसका क्या अर्थ हुआ? इसका अर्थ हुआ कि देवता भ्रांति में हैं। चेतना जब पूरी जागती है मनुष्य की और सुख का भ्रम टूट जाता है, तो स्वर्ग का भ्रम भी टूट जाता है।

देवता स्वर्ग के वासी हैं—उसका अर्थ यह है, सुख के वासी हैं। देवता इन्द्रियों में ही जीते हैं। बड़ा मजा है, इसलिए हमने 'इन्द्र' नाम दिया है—

देवताओं के सम्राट को। वे इन्द्रियाँ ही इन्द्रियाँ हैं, इसलिए इन्द्र नाम है। देवता सुख में ही जीते हैं। देवता का अर्थ ही है, जो सुख में ही जी रहा है। लेकिन, इसका तो मतलब यह हुआ कि महावीर के हिसाब से कि जो इन्द्रियों में और सुख में जी रहा है, वह बड़ी गहन भ्रांति में जी रहा है। वह एक लम्बे स्वप्न में डूबा है। वह स्वप्न सुखद होगा, प्रीतिकर होगा, दुखद न होगा। लेकिन एक लम्बा स्वप्न होगा। अगर महावीर को ठीक से हम समझें, तो नर्क एक 'नाइट मेयर', एक दुख-स्वप्न है—लम्बा दुख-स्वप्न है। स्वर्ग एक सुख-स्वप्न है—एक लम्बा और अच्छा सपना।

इसलिए महावीर ने कहा है कि देवता को भी मोक्ष पाना हो, तो उसे वापस मनुष्य के जन्म में आ जाना पड़ता है। मनुष्य एक चौराहा है। देवता तक को मोक्ष पाना हो, तो मनुष्य तक वापस लौट आना पड़ता है। मनुष्य के अतिरिक्त मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है। लेकिन जरूरी नहीं है कि कोई मनुष्य होने से ही मुक्त हो जाए। मनुष्य होने से केवल मुक्ति की सम्भावना है। अगर आप स्वप्न में डूबे रहते हैं, तो आप उस अवसर को खो देते हैं।

मनुष्य का अर्थ है: जहाँ हम जाग सकते हैं जहाँ हम चाहें, तो इन्द्रियों से अपने को तोड़ ले सकते हैं। जहाँ हम चाहें, तो रस समाप्त हो सकता है और चेतना रस-मुक्त हो सकती है। इस स्थिति को महावीर ने वीतराग कहा है। चेतना जब ऐसी स्थिति में होती है, तो उसका बाहर कोई भी रस नहीं रह जाता। अब बाहर जाने की कोई भी आकांक्षा शेष न रही। किसी से कुछ मिल सकता है, यह भाव ही गिर गया। कहीं कोई भाग-दौड़ ही न रही, कोई प्रार्थना न रही, कोई अभीप्सा न रही—चेतना की इस अवस्था को महावीर कहते हैं—वीतराग।

जो वीतराग है, वह शारीरिक और मानसिक सभी दुखों से छूट जाता है।

'यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है'।

यह शब्द 'जिनोपदिष्ट' थोड़ा समझ लेने जैसा है।

हिन्दू कहते हैं: वेद ईश्वर के वचन हैं, इसलिए सत्य हैं। मुसलमान कहते कि कुरान ईश्वर का सन्देश है, इसलिए सत्य है। ईसाई कहते हैं कि बाईबल ...वर के निजी सन्देशवाहक, उनके अपने बेटे जीसस के वचन हैं—ईश्वर से ...या हुआ सन्देश है आदमी के लिए, इसलिए सत्य है।

लेकिन महावीर एकदम अशास्त्रीय हैं। वे किसी शास्त्र को प्रमाण नहीं मानते। वे वेद को प्रमाण नहीं मानते। इसीलिए हिन्दुओं ने तो महावीर को नास्तिक कहा। क्योंकि जो वेद को न माने, वह नास्तिक।

महावीर जैसे परम आस्तिक को भी नास्तिक कहना पड़ा; क्योंकि वेद के प्रति उनकी कोई श्रद्धा नहीं है। शास्त्र के प्रति उनकी कोई श्रद्धा नहीं है। उनकी श्रद्धा अजीब है, अनूठी है। उनकी श्रद्धा उस आदमी में है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया हो, उसके वचन में।

जिनोपदिष्ट का अर्थ होता है : उस आदमी का वचन, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है। कोई परमात्मा नहीं, कोई ऊपरी शक्ति नहीं, बल्कि उस व्यक्ति की शक्ति ही परम-प्रमाण है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है। इसलिए महावीर कहते हैं : 'जिनोपदिष्ट'—जिसने अपने को जीता हो।

जिनका अर्थ होता है : जिसने अपने को जीता है। जिसकी सारी इन्द्रियों की गुलामी टूट गई हो। जो अपने भीतर स्वतंत्र हो गया हो। जो अपने भीतर मुक्त हो गया हो—ऐसे व्यक्ति के वचन का मूल्य है। देवताओं के वचन का, महावीर कहते हैं : कोई मूल्य नहीं; क्योंकि वे अभी वासना से ग्रस्त हैं।

अगर हम वेद के देवताओं को देखें, तो इन्द्र को फुसला भी ले सकते हैं—जरा सी खुशामद और स्तुति से राजी कर ले सकते हैं। नाराज भी हो सकता है इन्द्र, अगर आप ठीक-ठीक प्रार्थना उपासना न करें—नियम से आहर-स्तुति न करें तो नाराज भी हो सकता है। अगर हम यहूदी ईश्वर को देखें, तो वह खतरनाक बातें कहता हुआ मालूम पड़ता है कि अगर मुझे नहीं माना, तो मैं तुम्हें नष्ट कर दूंगा—आग में जला दूंगा।

महावीर कहते हैं कि इन वचनों का क्या मूल्य हो सकता है! वे कहते हैं : वही चेतना परम शास्त्र है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया हो—उसकी बात ही भरोसे योग्य है।

क्यों?

जो अभी इन्द्रियों के धोखे में पड़ा है, उसकी बात का कुछ भी भरोसा नहीं। जो अभी इन्द्रियों के सपने से नहीं जाग सका, उसकी बात का कुछ भी भरोसा नहीं। महावीर को ज्ञात है, उस समय जो भी देवताओं की चारों

तरफ चर्चा थी उनमें, महावीर को कोई देवता स्तुति के योग्य नहीं लगा; क्योंकि बड़ी अजीव कहानियाँ हैं।

कहानी है कि ब्रह्मा ने पृथ्वी को बनाया अर्थात् पृथ्वी ब्रह्मा की बेटी हुई। और बेटी को देखकर ब्रह्मा एकदम कामातुर हो गये और बेटी के पीछे कामातुर होकर भागे। बेटी घबरा गई, तो वह गाय बन गई, तो ब्रह्मा बैल हो गये और गाय के पीछे भागे।

महावीर को बड़ी कठिनाई मालूम पड़ेगी कि ऐसे ब्रह्मा के वचन का क्या मूल्य हो सकता है! साधारण पिता भी अपने को रोकता है और ब्रह्मा अपने को रोक न सके। कहानी में मूल्य तो बहुत है, पर मूल्य मनोवैज्ञानिक है।

फ्रायड ने कहा है कि हर पिता के मन में अपनी जवान बेटी को भोगने की कामना कहीं न कहीं सरक उठती है; क्योंकि जवान बेटी को देखकर फिर एक बार उसको अपनी पत्नी (जब जवान थी) का स्मरण सदा हो आता है।

यह कहानी तो बड़ी मनोवैज्ञानिक है कि अगर ब्रह्मा ने एक बेटी को पैदा किया और वह इतनी सुन्दर थी कि ब्रह्मा खुद आकर्षित हो गये, तो यह बात बताती है कि बाप भी बेटी के प्रति कामातुर हो सकता है। ब्रह्मा तक हो गये! लेकिन महावीर के लिए इसमें दूसरी सूचना है। वह सूचना यह है कि जो देवता कामातुर है, उनकी स्तुति का कोई भी अर्थ न रहा। इसलिए महावीर बड़े हिम्मतवर आदमी हैं। वे कहते हैं: जब कोई व्यक्ति इस वितरागता को उपलब्ध होता है, तो देवता उसके चरणों में सिर रख देते हैं।—यही बात कष्ट-पूर्ण लगी हिन्दू-मन को।

कहानियां हैं: जब महावीर ज्ञान को उपलब्ध हुए; तो इन्द्र और ब्रह्मा सबने उनके चरणों में सिर रख दिये। यह बात बहुत कठिन मालूम पड़ती है। बुद्ध जब ज्ञान को उपलब्ध हुए, तो सारा देवलोक उतरा और उनके चरणों में साष्टांग लेट गया।

हिन्दू-मन को चोट लगी कि जिन देवताओं की हम पूजा करते, प्रार्थना करते, वे इस गौतम बुद्ध के चरणों में, इस वर्धमान महावीर के चरणों में आकर सिर रख दें—यह बात ही बड़ी अपवित्र मालूम पड़ती है। लेकिन महावीर और बुद्ध को हम समझें, तो इस बात की बड़ी महिमा है। मनुष्य को पहली दफा देवताओं को ऊपर रखने का प्रयास बड़ा गहन-प्रयास है। इस बात में, मनुष्य को पहली दफा वासना के परम छुटकारे की तरफ इशारा है।

महावीर कहते हैं : देवता भी तुम हो जाओ। स्वर्ग भी तुम्हारे हाथ में आ जाये। और अगर इन्द्रियाँ तुम्हारी, तुम्हारे नियंत्रण में नहीं हैं; और तुम उनके मालिक नहीं हो, तो तुम गुलाम हो। कीड़े-मकोड़े जैसे ही गुलाम हो। कीड़ा-मकोड़ा भी क्यों कीड़ा-मकोड़ा है ? क्योंकि इन्द्रियों का गुलाम है। और देवता भी कीड़ा-मकोड़ा है, क्योंकि वह भी इन्द्रियों का गुलाम है।

आदमी जाग सकता है। देवता नहीं जाग सकता। क्योंकि सुख में जागना बहुत मुश्किल है। दुख में जागना आसान है। सुख में नींद सघन हो जाती है। दुख में नींद टूट जाती है। पीड़ा हो तो निखारती है। सुख हो तो सब धुंधला धुंधला कर जाती है। सुख में जंग लग जाता है। दुख में आदमी प्रखर होता है।

यह बहुत मजे की बात है कि सुखी परिवारों में प्रखर-चेतनाएँ मुश्किल से पैदा हो पाती हैं। प्रखर-बुद्धि, प्रखर-प्रतिभा, अगर सब सुख हो, तो क्षीण हो जाती मालूम पड़ती है। जंग लग जाता है। कुछ करने जैसा नहीं लगता। रॉकफेलर के घर में लड़का पैदा हो, तो सब पहले से ही मौजूद होता है। कुछ करने जैसा नहीं मालूम पड़ता। पाने को कुछ दिखाई नहीं पड़ता। जब तक कि रॉकफेलर के लड़के में बुद्ध या महावीर की चेतना न हो कि इस संसार में पाने योग्य कुछ नहीं, तो चलो दूसरे संसार को पाने निकल पड़ें।

दुनियाँ में अधिकतम प्रतिभाएँ संघर्षशील घरों से आती हैं, दुख से आती हैं। दुख निखारता है, उत्तजित करता है, चुनौती देता है। देवता सो जाते हैं। क्योंकि वहाँ सुख ही सुख है—कल्पवृक्ष हैं, अप्सराएँ हैं, यौवन है, सुगन्ध है।

इन्द्रियों की जो वासना है, वह परिपूर्ण रूप से तृप्त हो—ऐसी, स्वर्ग की हमारी धारणा है। इन्द्रियों की कोई वासना तृप्त न हो, दुख ही दुख भर जाये—ऐसी, हमारी नर्क की धारणा है। लेकिन, महावीर अगर यह कहते हैं कि दुख में आदमी जागता है, इसलिए मनुष्य देवता के भी पार जा सकता है, तब तो नर्क में और भी जाग जाना चाहिये, क्योंकि नर्क में और भी सघन दुख है।

लेकिन, एक बड़ी गहरी बात है कि अगर पूर-पूरा सुख हो, तो भी आदमी नहीं जाग पाता। अगर एक कदम दुख ही दुख हो, तो भी आदमी नहीं जाग पाता। दुख ही दुख हो, तो भी चेतना दब जाती है। जहाँ सुख और दुख दोनों के अनुभव होते हैं, वहाँ चेतना सदा जगी रहती है। सुख ही सुख हो, तो भी

मन सो जाता है और दुख ही दुख हो, तो भी मन सो जाता है। संघर्ष तो वहाँ पैदा होता है, जहाँ दोनों हों, तुलना हो, चुनाव हो।

एक बड़े मजे की बात है, और वह मनुष्य के इतिहास से भी साबित होती है कि जब तक कोई समाज बिलकुल ही गरीब रहता है, तब तक बगावत नहीं करता। हजारों साल से दुनिया गरीब थी, लेकिन बगावत नहीं होती थी। शायद हम सोचते होगें कि इसलिए बगावत नहीं होती थी कि लोग बहुत सुखी थे। नहीं, सुख का कोई अनुभव ही नहीं था। दुख शाश्वत था, इसलिए बगावत नहीं होती थी। अब बगावत सारी दुनिया में हो रही है। और बगावत वहीं होती है, जहाँ आदमी को दोनों अनुभव शुरू हो जाते हैं—सुख के भी और दुख के भी। तब वह और सुख पाना चाहता है। तब वह पूरा सुख पाना चाहता है। तब वह बगावत करता है।

दुखी आदमी, बिलकुल दुखी आदमी बगावत नहीं करता। ऐसा दुखी आदमी बगावत करता है, जिसे सुख की आशा मालूम पड़ने लगती है। नहीं तो बगावत नहीं होती। दुनिया में जितने बगावती स्वर पैदा होते हैं, वे सब मध्य-वर्ग से आते हैं। चाहे मार्क्स हो और चाहे एन्जिल्स हो, चाहे लेनिन हो और चाहे माओ हो, और चाहे स्टैलिन हो—ये सब मध्य-वर्गीय बेटे हैं।

मध्य-वर्ग का मतलब है : जो दुख भी जानता है और सुख भी जानता है। जिसकी एक टांग गरीबी में उलझी है और एक हाथ अमीरी तक पहुँच गया है। मध्य वर्ग का अर्थ है : जो दोनों के बीच में अटका है। जो जानता है कि एक धक्का लगे तो मैं गरीब हो जाऊँ और अगर एक मौका लग जाये, तो अभी मैं अमीर हो जाऊँ।

जो बीच में है, वह बगावत का ख्याल देता है दुनिया को। यह ख्याल देता है कि सुख मिल सकता है। सुख पाया जा सकता है। सुख हाथ के भीतर मालूम पड़ता है। मिल न गया हो, लेकिन सम्भावना निकट मालूम पड़ती है। करीब-करीब मनुष्य स्वर्ग और नर्क के बीच में मध्य-वर्गीय है। देवता हैं ऊपर, भूत-प्रेत हैं नीचे और बीच में है मनुष्य। मनुष्य का एक पैर दुख में खड़ा रहता है और एक हाथ सुख को छूता रहता है।

महावीर कहते हैं कि मनुष्य संक्रमण की अवस्था है, 'ट्रान्जीटरी' अवस्था है और जहाँ संक्रमण है, वहाँ क्रांति हो सकती है। जहाँ संक्रमण है, वहाँ बदलाहट हो सकती है। नीचे है नर्क, ऊपर है स्वर्ग, बीच में है मनुष्य। मनुष्य

चाहे तो नर्क में गिरे, चाहे तो स्वर्ग में, और चाहे तो दोनों से छूट जाये। नर्क का पैर भी बाहर खींच ले और स्वर्ग का हाथ भी नीचे खींच ले, बीच में खड़ा हो जाये।

महावीर कहते हैं : इस आदमी के चरणों में देवता भी गिर जाते हैं। लेकिन कब आप नर्क का पैर खींचे पायेंगे ?

महावीर कहते हैं जब तक तुम्हारा एक हाथ स्वर्ग को पकड़ता है, तब तक तुम्हारा एक पैर नर्क में रहेगा। वह स्वर्ग पकड़ने की चेष्टा से ही नर्क पैदा हो रहा है। सुख पाने की आकांक्षा ही दुख बन रही है। स्वर्ग की अभीप्सा ही नर्क का कारण बन रही है। जब तुम एक हाथ स्वर्ग से नीचे खींच लोगे, तब तुम अचानक पाओगे कि तुम्हारा नीचे का पैर भी नर्क से मुक्त हो गया। वह उस बढ़े हुए हाथ का ही दूसरा अंग था।

महावीर ने कहा है : स्वर्ग मत चाहना; क्योंकि स्वर्ग की चाहना, नर्क की चाहना है। इसलिए महावीर ने एक नया शब्द गढ़ा। हिन्दू-विचार में पहले उसके लिए कोई जगह न थी। हिन्दू-विचार स्वर्ग और नर्क में सोचता था। महावीर ने एक नया शब्द दिया, 'मोक्ष'। मोक्ष का अर्थ है : न स्वर्ग, न नर्क—दोनों से छुटकारा।

अगर वैदिक-ऋषियों की प्रार्थना देखें, तो वे प्रार्थना कर रहे हैं—स्वर्ग की, सुख की। महावीर की अगर हम धारणा समझें, तो वे स्वर्ग की और सुख की कामना नहीं कर रहे हैं। महावीर कहते हैं कि सुख और स्वर्ग की कामना ही तो दुख और नर्क का आधार है। वैदिक ऋषि गाता है कि मैं कैसे दुख से मुक्त हो जाऊँ और सुख को पा लूँ ? और महावीर कहते हैं कि मैं कैसे सुख और दुख दोनों से मुक्त हो जाऊँ ? यह बड़ी मनोवैज्ञानिक खोज है। यह अन्वेषण गहरा है।

महावीर मोक्ष की बात करते हैं। बुद्ध निर्वाण की बात करते हैं। वह बात द्वन्द्व के बाहर ले जानेवाली बात है। कैसे दोनों के पार हो जायें ! यह जो ब्रह्मचर्य है, यह जो यात्रा-पथ है—दोनों के बाहर हो जाने का, यह जो ऊर्जा को भीतर ले जाना है, ताकि सुख और दुख दोनों से छुटकारा हो जाए—यह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है।

'इसके द्वारा पूर्वकाल में अनेक जीव सिद्ध हो गए, वर्तमान में हो रहे हैं, और भविष्य में होंगे'।

महावीर कहते हैं : यह शाश्वत मार्ग है। इस विधि से पहले लोग जिन

हुए, महावीर कहते हैं : आज भी हो रहे हैं। महावीर कहते हैं : और भविष्य में भी होते रहेंगे। यह मार्ग सदा ही सहयोगी रहेगा।

लेकिन हम बड़े अद्भुत लोग हैं। महावीर के साधु-संन्यासी भी लोगों को समझाते हैं कि पन्चम-काल है। इसमें कोई मुक्त नहीं हो सकता। जैसा हिन्दू मानते हैं, कलि-काल है, कलयुग है। ऐसा जैन मानते हैं, पन्चम-काल है। इसमें कोई मुक्त नहीं हो सकता। इससे हमको राहत भी मिलती है कि जब कोई हो नहीं सकता, तो हम भी अगर न हुए तो कोई हर्ज नहीं। इससे साधु-संन्यासियों को भी सुख रहता है, क्योंकि आप उनसे भी नहीं पूछ सकते कि आप मुक्त हुए! नहीं, पंचम काल है, इसलिए कोई मुक्त नहीं हो सकता।

महावीर की ऐसी दृष्टि हो नहीं सकती! क्योंकि महावीर कहते हैं कि चेतना कभी भी मुक्त हो सकती है, समय का कोई बन्धन नहीं है। इसलिए वे कहते हैं : यह मार्ग शाश्वत है। पीछे भी लोग मुक्त हुए और आज भी हो रहे हैं। महावीर कहते हैं : और भविष्य में भी होते रहेंगे। जो भी इस मार्ग पर जाएगा, वह मुक्त हो जाएगा। इस मार्ग पर जो जाने की कुंजी है, जो 'सीक्रेट की' है, वह इतनी ही है कि हम सुख और दुख दोनों को छोड़ने को राजी हो जाएँ। इन्द्रियाँ हमें जो संवाद देती हैं, उनके साथ हमारा ध्यान जुड़कर रस निर्माण न करें। यह रस बिखर जाए भीतर, तो शरीर और आत्मा अलग-अलग हो जाते हैं। सेतु गिर जाता है, सम्बन्ध टूट जाता है।

और जिस दिन हम जान लेते हैं कि मैं अलग हूँ इस शरीर से, ध्यान अलग है इन्द्रियों से, चेतना अलग है—पार्थिव आवरण से, तो उसी दिन नर्क और स्वर्ग दोनों विलीन हो जाते है। वे दोनों स्वप्न थे, उस दिन हम पहली बार अपने भीतर छिपी हुई आत्यन्तिक स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं।

महावीर इस अवस्था को सिद्ध-अवस्था कहते हैं। सिद्ध का अर्थ है—वह चेतना, जो अपनी सम्भावना की परिपूर्णता को उपलब्ध हो गई। जो हो सकती थी, हो गई। जो खिल सकता था फूल, पूरा खिल गया। इसकी कोई निर्भरता बाहर न रही। वह सब भाँति स्वतन्त्र हो गई। इसका सारा आनन्द अब भीतर से आता है। आन्तरिक निर्झर बन गया है। अब इसका कोई आनन्द बाहर से नहीं आता। और जिसका कोई आनन्द बाहर से नहीं आता, उसके लिए कोई भी दुख नहीं है।

आज इतना ही। पाँच मिनट रुकें, कीर्तन में भाग लें और फिर जाएँ।

○

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
९ सितम्बर, १९७२

छठवाँ प्रवचन

अपरिग्रह-सूत्र

०

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इय वुत्तं महेसिणा ॥

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहिकामे, गिही पव्वइए न से ॥

प्राणिमात्र के संरक्षक ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों के रखने को परिग्रह नहीं बतलाया है। लेकिन इन सामग्रियों में आसक्ति, ममता व मूर्छा रखना ही परिग्रह है, ऐसा उन महर्षि ने बताया है।

संग्रह करना, यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है। अतएव मैं मानता हूँ कि जो संग्रह करने की वृत्ति रखते हैं, वे गृहस्थ हैं, साधु नहीं।

⊛ पहले

एक मित्र ने पूछा है कि रस-परित्याग का क्या अर्थ है। क्या रस-परित्याग का यही अर्थ है कि किसी भी इन्द्रिय-जनित कम्पन से ध्यान न जुड़े। फिर तो रस-त्यागी को आँख, कान वगैरह वन्द करके ही चलना उचित होगा; अन्धे, वहरे, गूंगे सर्वश्रेष्ठ-त्यागी सिद्ध होंगे ! क्या यही महावीर और आपका ख्याल है।

रस-परित्याग का अर्थ अन्धापन, वहरापन नहीं है, लेकिन वहुत लोगों ने वैसा अर्थ लिया है। ध्यान को इन्द्रियों से तोड़ना तो कठिन है पर इन्द्रियों को तोड़ देना वहुत आसान है। आँख जो देखती है, उससे रस को छोड़ना तो कठिन है, आँख को फोड़ देना वहुत कठिन नहीं है। किन्हीं ने तो आँखें फोड़ ही ली हैं और किन्हीं ने धंधली कर ली हैं। आँख वन्द करके चलने से कुछ भी न होगा, क्योंकि आँख वन्द करने की जो वृत्ति पैदा हो रही है, वह जिस भय से पैदा हो रही है, वह भय त्याग नहीं है।

मन के नियम वहुत अद्‌भुत हैं। जिससे हम भयभीत होते हैं, उससे हम वहुत गहरे में प्रभावित भी होते हैं। अगर मैं सौन्दर्य को देख कर आँख वन्द कर लूं, तो वह भी सौन्दर्य से प्रभावित होना है। उससे यह पता नहीं चलता कि मैं सौन्दर्य की जो वासना है, उससे मुक्त हो गया। उससे इतना ही पता चलता है कि सौंदर्य की वासना भरपूर है और मैं इतना भयभीत हूँ अपनी वासना से कि भय के कारण मैंने आँख वन्द कर ली है; लेकिन जिस भय से आँख वन्द कर ली है, वह आँख के भीतर चलता ही रहेगा। आवश्यक नहीं है हम वाहर से ही देखें, तभी रूप दिखाई पड़े।

अगर रस भीतर मौजूद है, तो रस भीतर से भी रूप को निर्मित कर लेता है। स्वप्न निर्मित हो जाते हैं, कल्पना निर्मित हो जाती है; और वाहर तो जगत् इतना सुन्दर कभी भी नहीं है, जितना हम भीतर निर्मित कर सकते हैं। जो स्वप्न का जगत् है, वह हमारे हाथ में है। अगर रस मौजूद हो और आँख

फोड़ डाली जाये, तो हम सपने देखने लगेंगे; और सपने बाहर के संसार से ज्यादा प्रीतिकर हैं; क्योंकि बाहर का संसार तो बाधा भी डालता है, पर सपने हमारे हाथ के खेल हैं; हम जितना सुन्दर बना सकें, बना लें; और हम जितनी देर उन्हें टिकाना चाहें, टिका लें। फिर वे सपने की प्रतिमाएँ किसी भी तरह का अवरोध उपस्थित नहीं करतीं।

बहुत लोग संसार से भयभीत होकर स्वप्न के संसार में प्रविष्ट हो जाते हैं। जिसको स्वप्न के संसार में प्रविष्ट होना हो, उन्हें आँखें बन्द कर लेना बड़ा सहयोगी होगा; क्योंकि खुली-आँख सपना देखना बड़ा मुश्किल है; लेकिन इससे रस विलीन नहीं होगा, रस और प्रगाढ़ हो कर प्रकट होगा।

आपके दिन उतने रसपूर्ण नहीं हैं, जितनी आपकी रातें रसपूर्ण हैं; और आपकी जागृति उतनी रसपूर्ण नहीं है, जितने आपके स्वप्न रस पूर्ण हैं। स्वप्न में आपका मन उन्मुक्त होकर अपने संसार का निर्माण कर लेता है। स्वप्न में हम सभी सृष्टा हो जाते हैं और अपनी कल्पना का लोक निर्मित कर लेते हैं। बाहर का जगत् थोड़ी बहुत बाधा भी डालता होगा, वह बाधा भी नष्ट हो जाती है।

रस परित्याग का अर्थ—इन्द्रियों को नष्ट कर देना नहीं—इन्द्रियों और चेतना के बीच जो सम्बन्ध है, जो बहाव है, जो मूर्छा है—उसे क्षीण कर लेना।

इन्द्रियाँ खबर देती हैं; खबरें उपयोगी हैं। इन्द्रियाँ सूचानाएँ लाती हैं, संवेदनाएँ लाती हैं—बाहर के जगत् की, वे अत्यन्त जरूरी हैं। उन इन्द्रियों से लाई गई सूचनाओं, संवेदनाओं पर मन की जो गहरी, भीतरी आसक्ति है, वह जो मन का रस है, वह जो मन का ध्यान है, जो मन का उन इन्द्रियों से लाई गई खबरों में डूब जाना है, खो जाना है—वही खतरा है।

मन अगर खोए न, चेतना अगर इन्द्रियों की लाई हुई सूचनाओं में डूबे न, मालिक बनी रहे, तो त्याग है।

इसे हम ऐसा समझें। इन्द्रियाँ जब मालिक होती हैं चेतना की; और चेतना जब अनुसरण करती है इन्द्रियों का, तो भोग है और जब चेतना मालिक होती इन्द्रियों की; और जब इन्द्रियाँ अनुसरण करती हैं चेतना का, तो त्याग है।

मैं मालिक बना रहूँ, इन्द्रियाँ मेरी मालिक न हो जायें, इन्द्रियाँ जहाँ मुझे ले जाना चाहें, वहाँ खींचने न लगें, मैं जहाँ जाना चाहूँ, जा सकूँ; और मैं

जहाँ जाना चाहूँ, वहाँ जाने वाले रास्ते पर इन्द्रियाँ मेरी सहयोगी हों; रास्ता मुझे देखना हो, तो आँख देखे; ध्वनि मुझे सुननी हो, तो कान सुनें; मुझे जो करना हो, इन्द्रियाँ उसमें मुझे सहयोगी हो जायें; इन्स्ट्रुमेन्टल हों—यही उनका उपयोग है।

हमारी इन्द्रियों से हमारा जो सम्बन्ध है, वह मालिक का है या गुलाम का, इस पर ही सभी कुछ निर्भर करता है। मेरा हाथ, जो मैं उठाना चाहूँ वही उठाये, तो मैं त्यागी हूँ; और मेरा हाथ अगर मुझसे कहने लगे कि ये उठाना ही पड़ेगा, और मुझे उठाना पड़े, तो मैं भोगी हूँ। मेरी आँख, जो मैं देखना चाहूँ; वही देखे तो मैं त्यागी हूँ; और मेरी ये आँखें ही मुझे सुझाने लगे कि ये देखो, ये देखना ही पड़ेगा, इसे देखे विना नहीं जाया जा सकता तो मैं भोगी हूँ।

भोग और त्याग का इतना ही अर्थ है—इन्द्रियाँ मालिक हैं, या चेतना मालिक है? चेतना मालिक है, तो रस विलीन हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि इन्द्रियाँ विलीन हो जाती हैं; बल्कि सच तो उल्टी बात है, इन्द्रियाँ परिशुद्ध हो जाती हैं; इसलिए महावीर की आँखें जितनी निर्मलता से देखती हैं, आपकी आँखें नहीं देख सकतीं; इसलिए महावीर को अन्धा नहीं कहते, दृष्टा कहते हैं। आँख वाला कहते हैं।

बुद्ध के हाथ जितना छूते हैं, उतना आपके हाथ नहीं छू सकते। नहीं छू सकते इसलिए कि भीतर का जो मालिक है, वह बेहोश है। नौकर मालिक हो गये हैं। भीतर की जो बेहोशी है, वह संवेदना को पूरा गहरा नहीं होने देती, पूरा शुद्ध नहीं होने देती।

बुद्ध की आँखें 'ट्रान्सपेरेन्ट' (पारदर्शी) हैं। आप की आँखों में धुआँ है। वह धुआँ आपकी गुलामी से पैदा हुआ है। अगर ठीक से हम समझें, तो हम अन्धे हैं, आँखें होते हुए भी। क्योंकि भीतर जा देख सकता था आँखों से, वह मूर्छित है, सोया हुआ है। बुद्ध या महावीर जागे हुए हैं, अमूर्छित हैं।

आँख सिर्फ बीच का काम करती है, मालकियत का नहीं। आँख अपनी तरफ से कुछ जोड़ती नहीं; आँख अपनी तरफ से कोई व्याख्या नहीं करती। भीतर जो है, वह देखता है।

आप अपनी खिड़की पर खड़े होकर बाहर की सड़क देख रहे हैं। खिड़की भी अगर इसे देखने में कुछ अनुदान करने लगे, तो कठिनाई होगी। फिर आप

वह न देख पायेंगे, जो है; वह देखने लगेंगे, जो खिड़की दिखाना चाहती है। लेकिन खिड़की कोई बाधा नहीं डालती, खिड़की सिर्फ राह है, जहाँ से आप बाहर झाँकते हैं।

आँख भी, बुद्ध और महावीर के लिए सिर्फ एक मार्ग है, जहाँ से वे बाहर झाँकते हैं। आँख सुझाती नहीं—क्या देखो? आँख कहती नहीं—ऐसा देखो, ऐसा मत देखो। आँख, सिर्फ शुद्ध मार्ग है।

महावीर जितनी निर्दोषता से देखते हैं, हम नहीं देख पाते। महावीर अगर आपका हाथ, अपने हाथ में लें, तो वे आपको ही छू लेंगे। (जब हम एक दूसरे का हाथ लेते हैं, तो सिर्फ हड्डी, मांस ही स्पर्श हो पाता है।) छू लेंगे आपको ही, क्योंकि बीच में कोई वासना का वेग नहीं है। कोई वासना का बुखार नहीं है। सब शान्त है। हाथ सिर्फ छूने का ही काम करता है। इस हाथ की अपनी तरफ से कोई आकांक्षा, कोई वासना नहीं है; तो महावीर इस हाथ के द्वारा आपके भीतर तक को स्पर्श कर लेंगे।

इन्द्रियाँ महावीर और बुद्ध की अत्यन्त निर्मल हो गई हैं। वे शुद्ध हो गई हैं। वे उतना ही काम करती हैं, जितना करना जरूरी है। अपनी तरफ से वे कुछ भी जोड़ती नहीं।

हमारी सारी इन्द्रियाँ विक्षिप्त हैं, और विक्षिप्त होगी ही, क्योंकि जब मालिक मूर्छित है, तो नौकर सम्यक् नहीं हो सकते। जब एक रथ का सारथी सो गया हो, तो घोड़े कहीं भी दौड़ने लगें, यह स्वाभाविक है; और उन सारे घोड़ों के बीच कोई ताल-मेल न रह जाए, यह भी स्वाभाविक है।

हमारी इन्द्रियों के बीच कोई ताल-मेल नहीं है। भोगी की सभी इन्द्रियाँ उसे विपरीत दिशाओं में खींचती रहती हैं। आंख कुछ देखना चाहती है, कान कुछ सुनना चाहते हैं, हाथ कुछ और छूना चाहते हैं, इन सबके बीच विरोध है, बड़ा 'कन्ट्राडिक्शन' है। जीवन में बड़ी विसंगतियां पैदा होती हैं।

जैसे आप एक स्त्री के प्रेम में पड़ गये हैं, एक पुरुष के प्रेम में पड़ गये हैं, आपने कभी ख्याल नहीं किया होगा कि सभी प्रेम इतनी कठिनाई में क्यों ले जाते हैं; और सभी प्रेम अन्ततः दुख क्यों बन जाते हैं?

उसका कारण है कि किसी का चेहरा आपको सुन्दर लगा तो यह आँख का रस है। अगर आँख बहुत प्रभावी सिद्ध हो जाये, तो आप प्रेम में पड़ जायेंगे, लेकिन कल उसके शरीर की गन्ध आपको अच्छी नहीं लगी, तो नाक इन्कार

करने लगेगी। आप उसके शरीर को छूते हैं, लेकिन उसके शरीर की उष्मा आपको, आपके हाथ को अच्छी नहीं लगती, तो हाथ इन्कार करने लगेंगे।

इन्द्रियों के बीच कोई ताल-मेल नहीं है, इसलिए प्रेम विसंवाद हो जाता है। एक इन्द्रिय के आधार पर आदमी चुन लेता है, बाकी इन्द्रियाँ धीरे-धीरे अपना अपना स्वर देना शुरू करती हैं और तब एक ही व्यक्ति के प्रति एक इन्द्रिय अच्छा अनुभव करती है, दूसरी इन्द्रिय बुरा अनुभव करती है और मन में हजार विचार एक ही व्यक्ति के प्रति हो जाते हैं।

हममें से अधिक लोग आँख की बात मान कर चलते हैं। आँख बड़ी प्रभावी हो गई है। हमारे चुनाव में नब्बे प्रतिशत आँख काम करती है। हम आँख की मान लेते हैं, दूसरी इन्द्रियों की हम कोई फिक्र नहीं करते, आज नहीं कल कठिनाई शुरू हो जाती है; क्योंकि दूसरी इन्द्रियाँ भी 'असर्ट' करना शुरू करती हैं, अपने वक्तव्य देना शुरू करती हैं।

आँख की गुलामी मानने को कान राजी नहीं हैं, इसलिए आँख ने कितना ही कहा हो कि चेहरा सुन्दर है, इस कारण वाणी को कान मान लेगा कि सुन्दर है; यह आवश्यक नहीं है। आँख की आवाज को, आँख की मालकियत को, नाक मानने को राजी नहीं है। आँख ने कहा हो शरीर सुन्दर है, लेकिन नाक तो कहेगी कि शरीर से जो गन्ध आती है, वह अप्रीतिकर है।

एक ही व्यक्ति के प्रति पांचों इद्रियों के अलग-अलग वक्तव्य जटिलता पैदा करते हैं। यह जो जटिलता है, केवल उसी व्यक्ति में नहीं होती, जिसका भीतर मालिक जगा होता हो।

पाँचों इन्द्रियों को जोड़ने वाला एक केन्द्र भी होता है। हमारे भीतर कोई केन्द्र नहीं है। हमारी हर इन्द्रिय मालकियत जाहिर करती है; और हर इन्द्रिय का वक्तव्य आखिरी है। कोई दूसरी इन्द्रिय उसके वक्तव्य को काट नहीं सकती। हम सभी इन्द्रियों के वक्तव्य इकट्ठे करके एक विसंगतियों का ढेर हो जाते हैं।

हमारे भीतर—जिसे हम प्रेम करते हैं, उसके प्रति घृणा भी होती है। एक इन्द्रिय प्रेम करती है, एक घृणा करती है; और हम इसमें कभी ताल-मेल नहीं बिठा पाते। ज्यादा से ज्यादा हम यही करते हैं कि हम हर इन्द्रिय को 'रोटेशन' में मौका देते रहते हैं। हमारी इन्द्रियाँ 'रोटरी-क्लब' की सदस्य हैं।

कभी आँख को मौका देते हैं, तो वह मालकियत कर लेती है। कभी कान को मौका देते हैं, तो वह मालकियत कर लेता है, लेकिन इनके बीच कभी कोई

ताल-मेल निर्मित नहीं हो पाता, कोई संगति, कोई सामंजस्य, कोई संगीत पैदा नहीं हो पाता, इसलिए जीवन हमारा एक दुख हो जाता है।

जब भीतर का मालिक जगता है, तो वही संगति है, वही ताल-मेल है, वही 'हारमॅनी' है। सारथी जग गया, लगाम हाथ में आ गई और सारे घोड़े, सारी इन्द्रियाँ एक साथ चलने लगीं, उनकी गति में एक लय आ गई—एक दिशा, एक आयाम आ गया।

मूर्छित मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा अलग-अलग रास्तों पर खींचा जाता है। जैसे एक ही बैलगाड़ी अलग-अलग रास्ते पर चारों तरफ जुते हुए बैलों से खींची जा रही हो। यात्रा नहीं हो पाती, सब अस्थि-पंजर ढीले हो जाते हैं। कुछ परिणाम नहीं निकलता। जीवन निष्पत्तिहीन हो जाता है, निष्कर्ष-रहित हो जाता है।

रस-परित्याग का अर्थ है : इन्द्रियों की मालकियत का परित्याग—इन्द्रियों का परित्याग नहीं। आँख नहीं फोड़ लेनी, कान नहीं फोड़ देना, वह तो मूढ़ता है; हालाँकि वह आसान है। आँख फोड़ने में क्या कठिनाई है? जरा सा जिद्दी स्वभाव चाहिए, जोश चाहिए, हठवादिता चाहिये, आँख फोड़ी जा सकती है। सोच विचार नहीं चाहिए, आँख आसानी से फोड़ी जा सकती है, लेकिन रस इतनी आसानी से नहीं छोड़ा जा सकता।

रस-परित्याग लम्बा संघर्ष है—बारीक है, 'डेलीकेट' है, सूक्ष्म है और नाजुक है। आँख तो एक बार में फोड़ी जा सकती है, लेकिन रस धीरे-धीरे छोड़ा जा सकता है इसलिए त्यागियों को आसान दिखा, आँख का फोड़ लेना। कुछ हिम्मतवर हैं, जो इकट्ठी फोड़ लेते हैं, कुछ उतने हिम्मतवर नहीं हैं, तो धीरे-धीरे फोड़ लेते हैं। कुछ उतने भी हिम्मतवर नहीं, तो आँख फोड़ते नहीं, सिर्फ आँख बन्द करके जीने लगते हैं, लेकिन यह हल नहीं है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि आप नाहक ही आँख खोलकर जिएँ।

अधिकतम लोग नाहक आँख खोल कर जीते हैं। रास्ते पर जा रहे हैं, तो दीवारों पर लगे पोस्टर भी उनको पढ़ने ही पड़ते हैं। जिससे कोई प्रयोजन न था, जिसमें कोई अर्थ न था, जिस पोस्टर को हजार दफे पढ़ चुके थे, आज फिर उसको पढ़ेंगे।

हमारी आँख पर हमारा कोई भी वश नहीं मालूम होता, इसलिए ऐसा हो रहा है। लेकिन उस पोस्टर को पढ़ लेना, सिर्फ पढ़ लेना ही नहीं है, वह आपके भीतर भी जा रहा है और आपके जीवन को प्रभावित करेगा। ऐसा

कुछ भी नहीं है, जो आप भीतर ले जाते हैं और जो आपको प्रभावित न करता हो। आँख से पोस्टर पढ़ना आँख का भोजन है। वह भी आपके भीतर जा रहा है।

शंकर ने इन सबको आहार कहा है। कान से जो सुनते हैं, वह कान का भोजन है। मुँह से जो लेते हैं, वह मुँह का भोजन है। आँख से जो देखते हैं, वह आँख का भोजन है। इसका यह भी मतलब नहीं है कि आप व्यर्थ ही आँख खोल कर चलते रहें; कि व्यर्थ ही कान खोल कर बाजार के बीच में बैठ जाएँ। होश रखना जरूरी है।

जो सार्थक है, उपादेय है, उसे ही भीतर जाने दें। जो निरर्थक है, निर्-उपादेय है, घातक है, उसे भीतर न जाने दें।

चुनाव जरूरी है। और चुनाव के साथ मालकियत निर्मित होती है। कौन चुने लेकिन ? आँख में आपके पास चुनने की कोई क्षमता नहीं है। आँख देख सकती है, कान सुन सकता है, चुनेगा कौन ? आप ? लेकिन आप को तो कोई पता नहीं है ! आप तो कहीं हैं ही नहीं। इसलिए जिन्दगी में कोई चुनाव नहीं है।

आप कुछ भी पढ़ते हैं, कुछ भी सुनते हैं, कुछ भी देखते हैं, वह सब आपके भीतर जा रहा है और आपको कचरे का एक ढेर बना रहा है। अगर आपके मन को उघाड़ा जा सके, तो कचरे का एक ढेर मिलेगा ! कुछ भी इकट्ठा कर लिया है ! इकट्ठा करते वक्त सोचा भी नहीं !

आप अपने घर में एक चीज लाने में जितना विचार करते हैं—कि ले जानी या नहीं, जगह घर में है या नहीं, कहां रखेंगे ? क्या करेंगे—उतना भी विचार, मन के भीतर ले जाने में आप नहीं करते। जगह है भीतर ?—यह भी कभी नहीं सोचते। जो ले जा रहे हैं, वह ले जाने योग्य है—यह भी कभी नहीं सोचते।

कभी आपने किसी आदमी से कहा है कि अब बातचीत बन्द कर दें, मेरे भीतर मत डालें····कभी नहीं कहा है। कुछ भी कोई आपके भीतर डाल सकता है। आप कोई टोकरी हैं कचरे की, कि कुछ भी कोई डाल सकता है ! आपके घर में पड़ोसी कचरा फेंके, तो आप पुलिस में रिपोर्ट कर देंगे और पड़ोसी आपकी खोपड़ी में रोज कचरा फेंकता है, आपने कभी कोई रिपोर्ट नहीं की, बल्कि एक दिन न फेंके, तो आपको लगता है दिन खाली-खाली जा रहा है··· आओ फेंको—नहीं, हमें होश ही नहीं है कि हम भीतर क्या ले जा रहे हैं।

आँख न फोड़नी उचित है और न जरूरत से ज्यादा खोलनी उचित है। इसलिए महावीर ने तो कहा है कि साधु इतना देखकर चले, जितना आवश्यक है। आँख चार फीट देखे चलते वक्त भिक्षु की। अगर चार फीट देखे तो इसका मतलब हुआ आपको नाक का अग्र हिस्सा दिखाई पड़ता रहेगा, बस। आँख झुकी होगी, चार फीट देखेगी।

महावीर ने कहा है : चलने के लिए चार-फीट देखना काफी है, फिर आगे बढ़ जाते हैं, चार फीट फिर दिखाई पड़ने लगता है, इतना काफी है। कोई दूर का आकाश चलने के लिए देखना आवश्यक नहीं है। उतना देखें, जितना जरूरी हो। उतना सुनें, जितना जरूरी हो। उतना बोले जितना जरूरी हो। तो इसके परिणाम होंगे।

इसके दो परिणाम होंगे : एक तो व्यर्थ आपके भीतर इकट्ठा नहीं होगा, यह आपकी शक्ति क्षीण करता है। दूसरा, आपकी शक्ति बचेगी, वह शक्ति ही आपको उर्ध्वगमन के लिए मार्ग बनने वाली है, उसी शक्ति के सहारे आप अन्तर की यात्रा पर निकलेंगे।

हम तो करीब-करीब 'एक्जॉस्टेड' हैं, खतम हैं। कुछ बचता नहीं साँझ होते-होते। दिन भर में सब चुक जाता है। साँझ हम चुके चुकाए हैं, चली हुई कारतूस की तरह अपने बिस्तर पर गिर जाते हैं; मगर रात भर भी हम शक्ति को इकट्ठा नहीं कर रहे हैं, खर्च कर रहे हैं। इसलिए मजे की घटना घटती है—लोग थके हुए बिस्तर में जाते हैं और सुबह थके हुए उठते हैं। रात भी सपने चल रहे हैं और हम थक रहे हैं। हमारी जिन्दगी एक लम्बी थकान बन जाती है, एक शान्ति का संचयन नहीं। और जहाँ शक्ति नहीं है, वहाँ कुछ भी नहीं हो सकता।

व्यर्थ इकट्ठा न करें, हमारे भीतर 'स्पेस', खाली जगह चाहिए। जिस आदमी के भीतर आकाश नहीं है, उस आदमी का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। जिस आदमी के भीतर आकाश नहीं है, वह उस परमात्मा के अतिथि को निमंत्रण भी नहीं भेज सकता। उसके भीतर वह मेहमान आ जाये, तो ठहराने की जगह भी नहीं है।

भीतरी आकाश, 'इनर-स्पेश', धर्म की अनिवार्य खोज है। हम जिसे बुला रहे हैं, जिसे पुकार रहे हैं, जिसे खोज रहे हैं, उसके लायक हमारे भीतर जगह होनी चाहिए, स्थान होना चाहिए। वहाँ रिक्तता बिलकुल नहीं है, आप भरे हुए हैं, ठसाठस भरे हुए हैं।

आप कहते हैं कि परमात्मा सर्व-शक्तिमान है; मगर आपके भीतर घुसने की उसकी भी सामर्थ्य नहीं। जगह ही नहीं है वहाँ। शायद इसीलिए आप अपने भीतर नहीं जा पाते, बाहर घूमते रहते हैं। वहाँ तो जगह चाहिए। वहाँ आपने क्या भर रखा है, यह कभी आपने सोचा।

कभी दस मिनट बैठ जाएँ और एक कागज पर जो आपके मन के भीतर चलता हो, उसको लिख डालें, तब आपको पता चलेगा कि आपने क्या भीतर भर रखा है! कहीं कोई फिल्म की कड़ी आ जाएगी, कहीं पड़ोसी के कुत्ते का भौंकना आ जायेगा। कहीं रास्ते पर सुनी हुई कोई बात आ जायेगी। पता नहीं क्या-क्या कचरा वहाँ सब इकट्ठा है!

इस पर शक्ति व्यय हो रही है—चाहे आप फिल्म की एक कड़ी दुहराते हों और चाहे आप प्रभु का स्मरण करते हों। एक शब्द का भी भीतर उच्चारण, शक्ति का ह्रास है; फिर उसका आप क्या उपयोग कर रहे हैं, यह आप पर निर्भर है। अगर व्यर्थ ही खोते चले जा रहे हैं, तो जीवन के आखिर में अगर आप पायें कि आप सिर्फ खो गये, आपने कुछ पाया नहीं, तो इसमें आश्चर्य नहीं है।

हमारी मृत्यु अक्सर हमें उस जगह पहुँचा देती है; जहाँ अवसर था, शक्ति थी, लेकिन हम उसे फेंकते रहे, कुछ सृजन नहीं हो पाया। हमारी मृत्यु एक लम्बे विध्वंस का अन्त होती है। एक लम्बे आत्मघात का अन्त। एक सृजनात्मक, एक 'क्रिऐटिव' घटना नहीं।

महावीर की सारी उत्सुकता इसमें है कि भीतर एक सृजन हो जाये : वह सृजन ही आत्मा है।

❀ इस सूत्र को हम समझें।

'प्राणीमात्र के संरक्षक ज्ञातपुत्र ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों के रखने को परिग्रह नहीं बतलाया है'।

महावीर ने नहीं कहा है कि आप के पास कुछ चीजें हैं, तो आप परिग्रही हैं। महावीर ने यह भी नहीं कहा है कि आप सभी चीजें छोड़कर खड़े हो गये, तो आप अपरिग्रही हो गये।

वस्तुएँ हैं, इससे कोई गार्हस्थ्य नहीं होता; और वस्तुएँ नहीं हैं, इससे कोई साधु नहीं होता। लेकिन अधिक साधु यही करते रहते हैं। उनके पास कितनी कम वस्तुएँ हैं, इससे वे सोचते हैं कि साधुता हो गई। साधुता या गार्हस्थ्य महावीर के लिए आंतरिक घटना है। वे कहते हैं : सामग्रियों में आसक्ति, ममता और मूर्छा रखना ही परिग्रह है।

मूर्छा परिग्रह है। बेहोशी परिग्रह है। बेहोशी का क्या मतलब है ? होश का क्या मतलब है ?

जब आप किसी चीज के लिए जीने लगते हैं, तब बेहोशी शुरू हो जाती है। एक आदमी धन के लिए जीता है, तो बेहोश है। वह कहता है कि मेरी जिन्दगी इसलिए है कि धन इकट्ठा करना। धन मेरे लिए है ऐसा नहीं; धन किसी और काम के लिए है, ऐसा भी नहीं—मैं धन के लिए हूँ। मुझे धन इकट्ठा करना है। मैं एक मशीन हूँ, एक फैक्टरी हूँ।

जब एक आदमी वस्तुओं को अपने से ऊपर रख लेता है; और जब एक आदमी कहने लगता है कि मैं वस्तुओं के लिए जी रहा हूँ; वस्तुएँ ही सब कुछ हैं—मेरे जीवन का लक्ष्य, साध्य—तब मूर्छा है। लेकिन हम सारे लोग इसी तरह जीते हैं। छोटी सी चीज खो जाए, तो ऐसा लगता है कि आत्मा खो गई। कभी आपने ख्याल किया उस चीज का कितना ही कम मूल्य क्यों न हो, रात नींद नहीं आती ! चिन्ता भीतर मन में चलती रहती है—दिनों तक पीछा करती है।

बच्चों जैसी हमारी हालत है ! एक बच्चे की गुड़िया टूट जाए, तो रोता है, छाती पीटता है। मुश्किल हो जाता है, उसे ये स्वीकार करना कि गुड़िया अब नहीं रही। उसकी आँखों में आँसू भर-भर आते हैं। लेकिन यह बच्चे की ही बात होती, तो क्षम्य थी; बूढ़ों की भी यही बात है। यह बड़े मजे की बात है कि जिसके होने से कभी कोई सुख न मिला हो, अगर वह खो जाए—तो उसके खोने से दुख मिलता है।

आपके पास कोई चीज है; जब तक वह थी, तब तक आपको उससे कोई सुख नहीं मिला। आपकी तिजोरी में एक सोने की ईंट रखी है, उससे आपको कोई सुख नहीं मिला। ऐसा कभी नहीं हुआ कि उसकी वजह से आप नाचें हों, आनन्दित हुए हों—ऐसा कभी नहीं हुआ, लेकिन आज ईंट चोरी चली गई, तो आप छाती पीट कर रो रहे हैं। जिस ईंट से कभी कोई खुशी नहीं मिली, उस ईंट के लिए रोने का क्या अर्थ है ! जो ईंट तिजोरी में रखी थी, वह सोने की थी कि पत्थर की थी इससे क्या फर्क पड़ता है ! कोई फर्क नहीं पड़ता—छाती पर वजन ही रखना है, तो सोने का रख लो कि पत्थर का रख लो।

महावीर कहते हैं : वस्तुएँ हमसे ज्यादा मूल्यवान हो जाएँ, तो मूर्छा है।

रस्किन ने कहा : 'धनी' आदमी तब होता है, जब वह धन को दान कर पाता है; नहीं तो गरीब ही होता है। रस्किन का मतलब यह है कि आप धनी उसी दिन हैं, जिस दिन धन को आप छोड़ पाते हैं; अगर नहीं छोड़ पाते, तो आप गरीब ही हैं। पकड़ गरीबी का लक्षण है और छोड़ना मालकियत का लक्षण है। अगर किसी चीज को आप छोड़ पाते हैं, तो समझना कि आप उसके मालिक हैं; और अगर किसी चीज को आप केवल पकड़ ही पाते हैं, तो आप भूल कर मत समझना कि आप उसके मालिक हैं। इसका तो बड़ा अजीब मतलब हुआ। इसका मतलब हुआ कि जो चीजें आप किसी को बाँट देते हैं, उनके आप मालिक हैं; और जो चीजें आप पकड़ कर बैठे रहते हैं, उनके आप मालिक नहीं हैं।

दान मालकियत है : क्योंकि जो आदमी दे सकता है, वह यह बता रहा है कि वस्तु मुझसे नीची है—मुझसे ऊपर नहीं। मैं दे सकता हूँ। देना मेरे हाथ में है। जो व्यक्ति देकर प्रसन्न हो सकता है, उसकी मूर्छा टूट गई। जो व्यक्ति केवल लेकर ही प्रसन्न होता है और देकर दुखी हो जाता है, वह मूर्छित है। त्याग का ऐसा है अर्थ।

त्याग का अर्थ है, दान की अनन्त क्षमता—देने की क्षमता। जितना बड़ा हम दे पाते हैं, जितना ज्यादा हम दे पाते हैं, उतने ही हम मालिक होते चले जाते हैं। इसलिए महावीर ने सब दे दिया। महावीर ने कुछ भी नहीं बचाया। जो भी उनके पास था, सब देकर वे नग्न होकर चले गये। इस सब देने में, सिर्फ एक आन्तरिक मालकियत की उद्घोषणा है। इस देने की याद भी नहीं रखी कि मैंने कितना दे दिया। अगर याद भी रखे कोई, तो उसका मतलब हुआ कि वस्तुओं की पकड़ जारी है। अगर कोई कहे कि मैंने इतना दान कर दिया—इसे दोहराए……

…एक मित्र मेरे पास आए थे। पर्चा भी छपाए हुए हैं वे; कि एक लाख रुपया उन्होंने दान किया हुआ है! उन्होंने मुझसे कहा कि मैं अब तक एक लाख रुपया दान कर चुका हूँ! नहीं, उनकी पत्नी ने मुझसे कहा कि मेरे पति लाख रुपया दान कर चुके हैं। उन्होंने पत्नी की तरफ बड़ी हैरानी से देखा और कहा कि पर्चा पुराना है; अब तक एक लाख दस हजार…!

….एक पैसा दान नहीं हो सका इस सज्जन से। एक लाख दस हजार इनके अकाउण्ट में अब भी उसी भाँति हैं, जैसे पहले थे—उसी तरह गिनती में

हैं। यह भला कह रहे हों कि दान कर दिया है, लेकिन दान हो नहीं पाया; क्योंकि जो दान याद रह जाए, वह दान नहीं है।

सुना है मैंने, मुल्ला नसरुद्दीन के घर कोई मेहमान आया हुआ है। बहुत पुराना मित्र है और मुल्ला उसे खिलाए चले जा रहे हैं। कोई बहुत बढ़िया मिठाई बनाई है; बार-बार आग्रह कर रहे हैं, तो उस मित्र ने कहा कि बस अब रहने दें, तीन बार तो मैं ले ही चुका हूँ। मुल्ला ने कहा कि छोड़ो भी; ले तो तुम छः बार चुके हो, लेकिन गिन कौन रहा है?

फिक्र छोड़ो; ले तो तुम छः बार चुके हो, लेकिन गिन कौन रहा है? आदमी का मन ऐसा है! गिन भी रहा है और सोचता है कि गिन कौन रहा है! त्याग अक्सर ऐसे ही चलता है। आदमी कहता है छोड़ दिया, और दूसरी तरफ से पकड़ लेता है; गिनती किये चला जाता है; फिर भी सोचता है, गिन कौन रहा है? पैसा तो मिट्टी है; लेकिन एक लाख दस हजार मैंने दान कर दिया! मिट्टी के दान को कोई याद रखता है? दान तो हम तभी याद रखते हैं, जब सोने का होता है; अगर मिट्टी ही है, तो फिर याददास्त की कोई जरूरत नहीं।

दान की कोई स्मृति नहीं होती, सिर्फ चोरी की स्मृति होती है। चोरी को याद रखना पड़ता है। और अगर दान भी याद रहे, तो चोरी के ही समान हो जाता है। अर्थ क्या है? अर्थ इतना ही है कि हम इस भाँति सम्मोहित हो सकते हैं, 'हिप्नोटाइज्ड' हो सकते हैं वस्तुओं से कि हमारी आत्मा वस्तुओं में प्रवेश कर जाये।

एक कार सरसराती रास्ते से गुजर जाती है; कार तो गुजर जाती है, हवा के झोंके के साथ आपकी आत्मा भी कार के साथ बह जाती है। उसकी छवि आँख में रह जाती है। वह सपनों में प्रवेश कर जाती है। मन में एक ही बात घूमने लगती है। उस रंग की वैसी गाड़ी पकड़ लेती है। इसे अगर हम विज्ञान की भाषा में समझें, तो यह 'हिप्नोटिज्म' है; यह सम्मोहन है। आप उस कार के रंग से, रूप से, आकृति से सम्मोहित हो गए हैं। अब आपके चित्त में एक प्रतिमा बन गई है; वह प्रतिमा जब तक न मिल जाए, आप दुखी होंगे।

हम वस्तुओं से सम्मोहित होते हैं। व्यक्तियों से ही होते हों, तो भी ठीक है; हम वस्तुओं से भी सम्मोहित होते हैं। देख लेते हैं एक आदमी का कमीज—रंग पकड़ लेता है; रूप पकड़ लेता है। आपकी आत्मा बह गई आप के बाहर

और कमीज से जाकर जुड़ गई। अपने से बाहर वह जाना और किसी से जुड़ जाना, और फिर ऐसा अनुभव करना कि उसके मिले बिना सुख न होगा, यह सम्मोहन का लक्षण है। जहाँ-जहाँ हम सम्मोहित होते हैं वहाँ-वहाँ लगता है, इसके बिना अब सुख न होगा। जब भी आपको लगे कि इसके बिना सुख न होगा, तब आप समझ लेना कि आप 'हिप्नोटाइज्ड' हो गए; आप सम्मोहित हो गए।

सम्मोहन करने के लिए, कोई आपकी आँखों में झांक कर घण्टे भर तक देखना आवश्यक नहीं है। सम्मोहित करने के लिए आपको किसी टेबल पर लिटा कर, किसी मैक्सकोली को या किसी को आपको बेहोश करना आवश्यक नहीं है। आप चौबीस घण्टे सम्मोहित हो रहे हैं; और चारों तरफ उपाय किए गए हैं, आपको सम्मोहित करने के; क्योंकि सारा व्यवसाय जीवन का, सम्मोहन पर खड़ा है।

आपके ख्याल में नहीं है, सारी 'एडवरटाइजमेंट' की कला सम्मोहन पर खड़ी है। वह आपको सम्मोहित कर रही है। रोज रेडिओ आप से कह रहा है—यही सिगरेट, यही साबुन, यही टुथपेस्ट श्रेष्टतम है। बस, इसको कहे चला जा रहा है। अखबार में रोज बड़े-बड़े अक्षरों में आप यही पढ़ रहे हैं। रास्ते पर निकलते हैं, 'पोस्टर' भी यही कहता है और इस सबको कहने के और सम्मोहित करने के सारे उपाय किये जाते हैं; क्योंकि अगर कोई इतना ही कहे कि बिनाका टूथ-पेस्ट सबसे अच्छा है, तो मन में बहुत गहरा नहीं जाता; लेकिन पास में एक खूबसूरत अभिनेत्री को भी खड़ा कर दिया जाय, तो मन में ज्यादा जाता है। अब बिनाका अभिनेत्री का सहारा लेकर मन की गहराइयों में चला जाता है। अभिनेत्री मुस्कराती हो, उसके झूठे सही, लेकिन मोतियों जैसे चमकते दाँत पकड़ लेते हैं मन को। बिनाका गौण हो जाता है, अभिनेत्री प्रमुख हो जाती है।

अभिनेत्री का सहज सम्मोहन है; क्योंकि सेक्स का सहज सम्मोहन है; वासना, कामवासना का सहज सम्मोहन है; इसलिए आज दुनिया में कोई भी चीज बेचनी हो, तो बिना स्त्री के सहारे के बेचना मुश्किल है; या बिना पुरुष के सहारे के बेचना मुश्किल है।

सम्मोहित करने के लिए, काम-अवष्टि करना जरूरी है। अगर अभिनेत्री नग्न खड़ी हो, तो आपको पता नहीं होगा (अब वैज्ञानिक कहते हैं) कि आपकी आँखों की जो पुतली है, वह तत्काल बड़ी हो जाती है। जब नग्न स्त्री

को आप देखते हैं; और आप कुछ भी करें, वह नॉन-वालेन्टरी है; आपके हाथ में नहीं है मामला; आप कितना ही संयम साधें और कुछ भी करें; आप की पुतली को बड़ा होने से नहीं रोक सकते आप; जब आप नग्न चित्र देखते हैं, तब आँख की पुतली तत्काल बड़ी हो जाती है। क्यों? क्योंकि आपके भीतर की आसक्ति पूरी तरह देखना चाहती है। तो आँख का जो लैंस है, वह बड़ा हो जाता है, ताकि पूरा चित्र भीतर चला जाए।

जो मैक्सकोली आपकी आंखों में पाँच मिनट देखकर करता है, वही नग्न स्त्री बिना आपकी तरफ देखे कर देती है। आँख की पुतली बड़ी हो जाती है। चित्र तत्काल भीतर चला जाता है; जैसे कमरे के लैंस से चित्र भीतर चला जाता है। उस स्त्री के साथ, बिनाका टूथपेस्ट भी भीतर चला जाता है। कण्डीसनिंग हो जाती है। अगर रोज-रोज ये होता रहा, तो जब भी आप सुन्दर स्त्री के सम्बन्ध में सोचेंगे, आपके भीतर बिनाका भी आवाज लगायेगा; और एक दिन आप जब दुकान पर जाकर कहेंगे कि बिनाका टूथपेस्ट दे दें, तो आप बिनाका टूथपेस्ट नहीं माँग रहे हैं, आप अनजाने, अचेतन मन से, बिनाका से साथ जो स्मृति जुड़ गई है स्त्री की, वह माँग रहे हैं। यह सम्मोहन है।

यह सम्मोहन हजार तरह से चलता है। चारों तरफ चलता है और ऐसा नहीं कि कोई जान के विज्ञापन से आपको सम्मोहित करता है। यह तो अब होश की बात हो गई; अब विज्ञापन-दाता समझ गया है कि आपको कैसे पकड़ना है। मन के नियम, पकड़ने के जाहिर हो गये हैं। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। नियम जाहिर नहीं थे, तब भी आदमी वस्तुओं से सम्मोहित हो रहा था। हम सदा ही वस्तुओं से सम्मोहित होते रहे हैं। इस सम्मोहन का नाम मूर्छा है।

मूर्छा का अर्थ है—कोई वस्तु इस भाँति आपको पकड़ ले कि मन में ये भाव पैदा हो जाये कि इसके बिना अब कोई सुख नहीं मिल सकता। महावीर कहते हैं: जिस आदमी को ऐसा भाव पैदा हो गया, उसको दुख ही मिलेगा। जब तक वस्तु न मिलेगी, तब तक लगेगा इसके बिना सुख नहीं मिल सकता। और जब वस्तु मिल जायेगी; तो वस्तु के कारण नहीं दिखाई पड़ रहा था कि सुख मिलेगा कि नहीं मिलेगा; यह आपका सम्मोहन था। वस्तु के मिलते ही टूट जायेगा।

इसे ठीक से समझ लें।

सम्मोहन तभी तक रह सकता है, जब तक आपके हाथ में वस्तु न हो। आपको लगे कि कोहिनूर हीरा मेरे पास हो, तो मैं जगत् का सबसे सुखी आदमी हो जाऊँगा; लेकिन जब तक आपके हाथ में कोहिनूर हीरा नहीं है, तभी तक ये सम्मोहन काम कर सकता है। कोहिनूर हीरा आपके हाथ में आ जाये, तो सम्मोहन नहीं बचेगा; क्योंकि कोहिनूर हीरा हाथ में आ जायेगा और सुख का कोई पता नहीं चलेगा; तो सम्मोहन तत्काल टूट जायेगा। सम्मोहन टूटेगा, तो दुख शुरू हो जायेगा; और जितनी बड़ी अपेक्षा बाँधी थी सुख की, उतने ही बड़े दुख के गर्त में गिर जाएँगे। अपेक्षा के अनुकूल दुख होता है; ठीक उसी अनुपात में। अगर आपने सोचा था कि कोहिनूर के मिलते ही मोक्ष मिल जायेगा, तो फिर कोहिनूर के मिलते ही आपसे बड़ा दुखी आदमी दुनिया में दूसरा नहीं होगा; इसलिए धनी आदमी दुखी हो जाता है। गरीब आदमी इतना दुखी नहीं होता। यह जरा अजीब लगेगी मेरी बात।

गरीब आदमी कष्ट में होता है, दुख में नहीं होता। अमीर आदमी कष्ट में नहीं होता, दुख में होता है। कष्ट का मतलब है—अभाव और दुख का मतलब है—भाव। कष्ट हम उस चीज से उठाते हैं, जो हमें नहीं मिली है; जिसमें हमें आशा है कि मिल जाये, तो सुख मिलेगा; इसलिए गरीब आदमी हमेशा आशा में होता है; सुख मिलेगा। आज नहीं कल, कल नहीं परसों, इस जन्म में नहीं अगले जन्म में; मगर सुख मिलेगा। यह आशा उसके भीतर एक थिरकन बनी रहती है। कितना ही कष्ट हो, अभाव हो, वह झेल लेता है—इस आशा के सहारे कि आज है कष्ट, कल होगा सुख; आज को गुजार देना है। कल की आशा उसे खींचे चली जाती है। फिर एक दिन यही आदमी अमीर हो जाता है।

अमीर का मतलब : जो-जो उसने सोचा था अपनी आशा में, वह सब हाथ में आ जाता है। इस जगत् में इससे बड़ी कोई दुर्घटना नहीं है, जब आशा आपके हाथ में आ जाती है, तब तत्क्षण सब फ्रस्ट्रेशन हो जाता है, सब विषाद हो जाता है; क्योंकि इतनी आशाएँ बाँधी थी, इतने लम्बे-लम्बे सपने देखे थे, वे सब तिरोहित हो जाते हैं। हाथ में कोहिनूर आ जाता है, सिर्फ पत्थर का एक टुकड़ा मालूम पड़ता है। सब आशाएँ खो जाती हैं; अब क्या होगा ?

अमीर आदमी इस दुख में पड़ जाता है कि अब क्या होगा ! अब क्या करना है ? कोई आशा नहीं दिखाई पड़ती आगे।

धन बड़े विषाद में गिरा देता है—कष्ट में नहीं, दुख में गिरा देता है। इसलिए दुख जो है, वह समृद्ध आदमी का लक्षण है। कष्ट जो है, वह गरीब आदमी का लक्षण है। कष्ट और दुख, भाषा-कोष में भला उनका एक ही अर्थ लिखा हो, जीवन के कोष में उनका बिलकुल विपरीत अर्थ है; और मजा यह है कि कष्ट कभी इतना कष्टपूर्ण नहीं है, जितना दुख; क्योंकि दुख आन्तरिक हताशा है और कष्ट बाहरी अभाव है; लेकिन भीतर आशा भरी रहती है।

आपको पता नहीं है कि आप खोज रहे हैं कि ईश्वर का दर्शन हो जाये। ईश्वर का दर्शन हो जाये किसी दिन तो उससे बड़ा दुख फिर आपको कभी न होगा। अगर आपने सारी आशाएँ इसी पर बांध रखी है कि ईश्वर का दर्शन हो जाये···।

समझ लो कि किसी दिन ईश्वर आपसे मजाक कर दे; (ऐसे वह कभी ऐसा करता नहीं) और मोर-मुकुट बांध कर बांसुरी बजाता हुआ आपके सामने खड़ा हो जाये, तो थोड़ी-बहुत देर देखिएगा; फिर ! फिर क्या करिएगा ? फिर करने को क्या है ! फिर आप उससे कहेंगे कि आप तिरोधान हो जाओ। अब आप फिर पहले जैसे लुप्त हो जाओ, ताकि हम खोजेंगे।

रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि ईश्वर को खोजा मैंने बहुत-बहुत जन्मों तक। कभी किसी दूर तारे के किनारे उसकी झलक दिखाई पड़ी; लेकिन जब तक मैं अपनी धीमी सी गति से चलता-चलता वहाँ तक पहुँचा, तब तक वह दूर निकल गया था, कहीं और जा चुका था। कभी किसी सूरज के पास उसकी छाया दिखी और मैं जन्मों-जन्मों उसको खोजता रहा। खोज बड़ी आनन्दपूर्ण थी, क्योंकि सदा वह दिखाई पड़ता था कि कहीं है।

फासला था। फासला पूरा हो सकता था। फिर एक दिन बड़ी मुश्किल हो गयी। मैं उसके द्वार पर पहुँच गया, जहाँ तख्ती लगी थी कि भगवान यहीं रहता है। चित्त बड़ा प्रसन्न हुआ। छलांग लगा कर, सीढ़ियाँ चढ़ गया। हाथ में सांकल लेकर ठोकने जाता ही था दरवाजे पर···।

पुराने किस्म का दरवाजा होगा; कॉलबेल नहीं रही होगी। रवीन्द्रनाथ ने कविता लिखी है। उसको काफी समय हो गया है। कॉलबेल होती, तो वे मुश्किल में पड़ जाते; क्योंकि वह एकदम से बज जाती···।

सांकल हाथ में लेकर ठोकने ही जाता था, मुझे ख्याल आया कि अगर आवाज मैंने कर दी और दरवाजा खुल गया; और ईश्वर सामने खड़ा हो गया,

तो फिर ! फिर क्या करियेगा ? फिर तो सब अन्त हो गया : फिर तो मरण ही रह गया हाथ में। फिर तो खोज न बची; क्योंकि कोई आशा न बची। फिर कोई भविष्य न बचा; क्योंकि कुछ पाने को न बचा।

ईश्वर को पाने के बाद और क्या पाइयेगा ? फिर मैं क्या करूँगा ? फिर मेरा अस्तित्व क्या होगा ? सारा अस्तित्व तो तनाव है—आशा का, आकांक्षा का, भविष्य का। जब कोई भविष्य नहीं, कोई आशा नहीं, कोई तनाव नहीं, तो फिर मैं क्या करूँगा ? मेरे होने का क्या प्रयोजन है ? फिर मैं होऊँगा भी कैसे ? वह होना तो बहुत बदतर हो जायेगा।

रवीन्द्रनाथ ने लिखा है, धीमे से छोड़ दी मैंने वह सांकल; कि कहीं आवाज हो ही न पाये। पैर के जूते निकाल कर हाथ में ले लिये; कहीं सीढ़ियों से उतरते वक्त पग-ध्वनि सुनाई न पड़े; और जो मैं भागा हूँ उस दरवाजे से, तो फिर मैंने लौट कर नहीं देखा। हालांकि अब भी मैं फिर ईश्वर को खोज रहा हूँ; और मुझे पता है कि उसका घर कहाँ है। उस जगह को भर छोड़ कर, सब जगह खोजता हूँ।

बहुत मनोवैज्ञानिक है, सार्थक है, बात अर्थ-पूर्ण है। आप जहाँ-जहाँ सम्मोहन रखते हैं; सम्मोहन का अर्थ—जहाँ-जहाँ आप सोचते हैं कि सुख छिपा है, वहाँ-वहाँ पहुँच कर दुखी होंगे; क्योंकि वह आप की आशा थी, जगत् का अस्तित्व नहीं था। वह जगत् का आश्वासन नहीं था, आपकी कामना थी। वह आपने ही सोचा था। वह आपने ही कल्पित किया था। वह सुख आपने आरोपित किया था। दूर-दूर रहना, उसके पास मत जाना; नहीं तो वह नष्ट हो जायेगा। जितने पास जायेंगे, उतनी मुसीबत होने लगेगी।

इन्द्र-धनुष जैसा है सुख। पास जायें तो खो जाता है, दूर रहें, तो बहुत बहुत रंगीन दिखाई पड़ता है।

महावीर कहते हैं: इस मूर्छा को मैं परिग्रह कहता हूँ। यह जो वस्तुओं में सुख रखने की और खोजने की चेष्टा है, इसे मूर्छा कहता हूँ। पहले हम वस्तुओं में अपनी आत्मा को रख देते हैं, फिर उसको खोजने निकल जाते हैं। जब वस्तु मिल जाती है, तो आत्मा को पाते नहीं; वस्तु हाथ में रह जाती है, तब हम छाती पीटकर रोते हैं। थोड़ी-बहुत देर रोना होता है, फिर तत्काल हम किसी दूसरी वस्तु में आत्मा को रख लेते हैं। वस्तुओं का कोई अन्त नहीं है; इसलिए जीवन की यात्रा का भी कोई अन्त नहीं है। चलती जाती है यात्रा। आज यहाँ, कल वहाँ।

बच्चों की पुरानी कहानियों में आपने पढ़ा होगा कि सम्राट अपनी आत्मा को पक्षियों में छिपा देते थे। कोई तोते में अपनी आत्मा को रख देता है। जब तक तोता न मारा जाये, तब तक सम्राट नहीं मरता। सम्राट रखते हों, न रखते हों, लेकिन यह कहानी बड़ी प्रतीकात्मक है। हम सब भी अपनी आत्मा को वस्तुओं में रख देते हैं। जब तक हम उन वस्तुओं को पा न लें, तब तक जिन्दगी बड़े मजे से चलती है। उन वस्तुओं को पाते ही, आत्मा उन वस्तुओं से खिसक जाती है। नष्ट हो जाती है। तब जिन्दगी मुश्किल में पड़ जाती है।

यह जो मुसीबत है; यह एक आत्म-सम्मोहन, 'ऑटो-हिप्नोसिस' का परिणाम है। इसको महावीर ने मूर्च्छा कहा है। कैसे इसे तोड़ें ? वस्तुओं से कैसे मुक्त हों ? इसका यह मतलब नहीं कि महावीर को प्यास लगेगी, तो पानी नहीं पियेंगे। महावीर पानी के प्रति मूर्च्छित नहीं हैं। वे ऐसा नहीं सोचते कि पानी पीने से प्यास मिट जायेगी। वे जानते हैं कि प्यास तो फिर दो घड़ी बाद पैदा हो जायेगी। पानी प्यास को थोड़ी देर 'पोस्टपोन' करता है, स्थगित करता है। वह यह नहीं सोचते कि खाना खाने से पेट भर जायेगा। खाना खाने से पेट का जो गैर भरा-पन है, वह थोड़ी देर के लिए सरक जायेगा। इसका यह मतलब नहीं कि वे पेट को खाली रखते हैं या पानी नहीं पीते। वे पानी भी पीते हैं। पेट को जब जरूरत होती है, तो भोजन भी देते हैं। लेकिन उनका कोई सम्मोहन नहीं होता कि पानी स्वर्ग ले जायेगा।

हम सब ऐसी हालत में हैं, जैसे एक आदमी रेगिस्तान में पड़ा हो, प्यासा तड़प रहा हो। उस वक्त उसको ऐसा लगता है कि अगर पानी मिल जाए, तो सब मिल गया। हमारी हालत ऐसी है कि हम सोच रहे हैं, अगर पानी मिल जाये, तो सब मिल गया।

एक मित्र एक राज्य के मिनिस्टर हैं। वह मेरे पास आते थे। मुझसे आकर बोले कि मुझे सिर्फ नींद आ जाये, तो मुझे स्वर्ग मिल गया; और कुछ नहीं चाहिए। मैं आपके पास न आत्मा जानने आया, न परमात्मा की खोज के लिए आया; मैं तो सिर्फ एक ही आशा से आया हूँ कि मुझे नींद आ जाये, तो मुझे सब मिल गया। मैंने उन्हें कुछ श्वास के ध्यान के प्रयोग बताये। मैंने कहा यह तो मिल जायेगा, कोई तकलीफ नहीं है। उन्होंने कहा : बस, अगर मुझे यह मिल जाय, तो मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये।

यह रेगिस्तान में पड़े हुए आदमी की हालत है कि पानी मिल जाये, तो सब मिल जाये; और आप सबको पानी मिला हुआ है। कुछ नहीं मिलता,

पानी मिलने से; लेकिन रेगिस्तान में ऐसा लगता है कि पानी मिल जाये, तो सब मिल जाये। रेगिस्तान पानी के प्रति इतना बड़ा सम्मोहन पैदा कर देता है कि वह पड़ा हुआ आदमी सोच भी नहीं सकता कि पानी के मिलने के बाद दुनिया में कुछ और भी पाने को चीज रह जायेगी।

उन मित्र ने कुछ दिन ध्यान का प्रयोग किया, उनको नींद आ गई। महीने भर बाद वह आये, और आकर बोले कि नींद तो आने लगी और कुछ भी नहीं हुआ।

मैंने, जब वह पहले आये थे, तो टेप कर लिया था। मैंने टेप लगवाया और उन्हें कहा कि सुनिये; आप कहते थे नींद मिल जाये, तो सब मिल जाये। नींद मिल जाये, तो न मुझे ईश्वर चाहिए, न आत्मा चाहिए; और अब जब नींद मिल गई है, तो आप कहते हैं कि नींद तो मिल गई, और कुछ भी नहीं मिला।

उन्होंने मुझे धन्यवाद तक नहीं दिया। स्वर्ग वगैरह तो दूर, बल्कि मुझे उनकी बात सुनकर ऐसा लगा कि मुझसे कोई अपराध हो गया है। उन्होंने कहा, नींद तो मिल गई और कुछ भी नहीं मिला। वह मुझसे शिकायत करने आये हैं; ऐसा उनका भाव कि और कुछ भी नहीं मिला।

मैंने उनसे पूछा, और क्या चाहिए? जिस दिन वह भी मिल जायेगा, आप ऐसा आकर कहेंगे, ईश्वर तो मिल गया है और कुछ भी नहीं मिला।

वह 'और' है क्या? वह 'और' कब मिलेगा? वह 'और' कहीं है नहीं। वह हटता हुआ क्षितिज है, 'होरिझन' है। जो भी चीज मिल जाती है, उससे हट जाता है। वह आगे निकल जाता है। हम कहते हैं—'वह'। 'वह'—कुछ है नहीं। 'वह'—हमारा सम्मोहन है, जो आगे खिसक जाता है।

हम वस्तुओं में नहीं जीते, हम उस 'और' के सम्मोहन में जीते हैं। 'वह' मिल जाये, तो सब मिल जाये। जब 'वह' मिल जाता है, तो हमारा 'और' और आगे सरक जाता है। आकाश छूता दिखता है जमीन को, उसे हम क्षितिज कहते हैं। कहीं छूता नहीं आकाश जमीन को, लेकिन दिखता है छूता हुआ। आँख से ही देखने से कुछ सच नहीं होता दुनिया में। लोग कहते हैं: हम तो प्रत्यक्ष को मानते हैं। वह आकाश प्रत्यक्ष छूता दिखाई पड़ता है जमीन को। आँखें भी बड़ा धोखा देती हैं। जाएँ खोजने उस क्षितिज को, आगे बढ़ेंगे, क्षितिज भी आगे बढ़ता जायेगा। पूरी जमीन का चक्कर लगा आएँ, कहीं जमीन आकाश को छूती हुई न मिलेगी। लेकिन कहीं भी खड़े रहें, तो आगे

आकाश छूता हुआ दिखाई पड़ता रहेगा। वह है—'और'। क्षितिज कहीं छूता नहीं। कहीं भी मनुष्य की वासना तृप्ति को नहीं छूती। कहीं भी आकाश पृथ्वी को नहीं छूता। वासना आगे बढ़ती है, तृप्ति आगे हट जाती है—'और'। और ये 'और' कभी नहीं मिलता।

इसे महावीर मूर्च्छा कहते हैं। मूर्च्छा परिग्रह है। वस्तुओं का होना नहीं, वस्तुओं में स्वर्ग का दिखाई देना। मकान का होना परिग्रह नहीं है, लेकिन मकान में अगर किसी को मोक्ष दिखाई पड़ रहा है, तो परिग्रह है। धन परिग्रह नहीं है; लेकिन धन में अगर दिखाई पड़ रहा है परमात्मा, तो परिग्रह है। धन, धन है; मगर बड़े मजे के लोग हैं—हम सब। या तो हम कहते हैं, धन परमात्मा है या तो हम कहते हैं, धन मिट्टी है। लेकिन 'धन' धन है, ऐसा कोई कहनेवाला नहीं मिलता।

'धन' सिर्फ धन है; न मिट्टी, न परमात्मा। धन को हम शिखर पर रखते हैं, वह झूठ है। और जब हम झूठ से परेशान हो जाते हैं, तो हम दूसरा झूठ पैदा करते हैं कि धन मिट्टी है। धन मिट्टी भी नहीं है। धन, सिर्फ धन है। वस्तुएँ जो हैं, वही हैं। लेकिन हम कुछ न कुछ करेंगे। या तो स्वर्ग से जोड़ेंगे, या तो नर्क से जोड़ेंगे। हम नर्क से क्यों जोड़ना चाहते हैं? स्वर्ग से जोड़ जोड़ के जब हम ऊब जाते हैं, और कोई स्वर्ग नहीं पाते, तो क्रोध में हम नर्क से जोड़ना शुरू कर देते हैं: जिसको हम पहले कहते थे—स्वर्ग, वह जब नहीं मिलता, तब हम अपने को समझाने के लिए कहने लगते हैं कि वह तो नर्क है; पाने योग्य नहीं है। पहले हम कहते थे कि धन मिल जायेगा, तो सब कुछ मिल जायेगा। अब हम कहते हैं, धन में क्या रखा है! हाथ का मैल है, मिट्टी है; मगर यह भी तरकीबें हैं मन की। धन, सिर्फ धन है।

धन-विनिमय का साधन है। मिट्टी विनिमय का साधन नहीं है। उससे चीजें बदली जा सकती हैं; मिट्टी से नहीं बदली जा सकती। वह चीजों के बदलने का उपयोगी माध्यम है। ठीक है। उतना काफी है। उससे ज्यादा आशा रखना गलत है। आशा जब हार जाती है, तो हम नीचे गिरा कर देखना शुरू करते हैं। हम दूसरी अति पर हट जाते हैं। एक अति से दूसरी अति पर जाना बहुत आसान है; लेकिन वस्तु के सत्य पर रुक जाना बहुत कठिन है।

धन, सिर्फ धन है, उपयोगी है। न उसमें स्वर्ग है, न उसमें नर्क है। हाँ, जो उसमें स्वर्ग देखेगा, उसे उसमें नर्क मिलेगा। जो उसमें नर्क देखने की

कोशिश कर रहा है, उसे भीतर कहीं न कहीं अभी भी उसमें स्वर्ग दिखाई पड़ रहा है। जो वही देख लेता है, जो धन है, उतना जितना है, उसकी मूर्छा टूट जाती है।

महावीर का अति जोर सम्यक् बोध पर है, 'राइट अण्डरस्टैंडिंग' पर है—हर चीज को वह जैसी है, वैसा ही जान लेना। इंच भर अपने मन को न जोड़ना। इंच भर अपनी आकांक्षाओं, आशाओं को स्थापित न करना—जो जितना है, जैसा है, उतना ही जान लेना। अपने 'प्रोजेक्शन', अपने प्रक्षेप संयुक्त न करना। लेकिन हम नहीं बच सकते। किसी को हम कहेंगे कि सुन्दर है; किसी को हम कहेंगे कि कुरूप है। किसी को कहेंगे मित्र है; किसी को हम कहेंगे कि शत्रु है। और जब हम यह वक्तव्य देते हैं, तब हमने आकांक्षाएँ जोड़नी शुरू कर दी।

मित्र जब आप किसी को कहते हैं, तो क्या मतलब है आपका? आपका मतलब है कि इससे कुछ अपेक्षाएँ पूरी हो सकती हैं। मित्र है; मुसीबत में काम पड़ेगा। मित्र है; इससे हम आशा रख सकते हैं कि कल ऐसा करेगा। शत्रु से भी आपकी आशाएँ हैं कि वह क्या-क्या करेगा। विपरीत आशाएँ हैं। आप में बाधा डालेगा। लेकिन आपने कुछ जोड़ दी आशाएँ।

जब आपने किसी को कहा—मित्र, तो आपने आशाएँ जोड़ ली। जब आपने किसी को कहा—शत्रु, तो आपने आशाएँ जोड़ ली। आप सम्मोहन के जगत् में प्रवेश गये। जब आपने अ को अ कहा, ब को ब कहा। न मित्र को मित्र कहा; न शत्रु को शत्रु कहा—जब आपने जो है, उतना ही जाना, उसमें कुछ अपनी तरफ से भविष्य न जोड़ा, तो आप मूर्छा के बाहर हो गये।

मूर्छा के बाहर होने की तीन विधियाँ हैं, तीन सूत्र हैं।

एक—वस्तुओं को उनके तथ्य में देखना, आशाओं में नहीं।

दो—वस्तुओं को कभी भी साध्य न समझना, साधन समझना।

तीन—स्वयं की मालकियत कभी भी वस्तुओं के मरुस्थल में न खो जाएँ; इसके लिए सचेत रहना।

'सामग्रियों में आसक्ति ममता व मूर्छा रखना ही परिग्रह है, ऐसा उन महर्षि ने बताया है। संग्रह करना, यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है।'

बाहर हम जो भी करते हैं, वह भीतर की झलक है। बाहर का हमारा सारा व्यवहार हमारे अन्तस् का फैलाव है। आप बाहर जो भी करते हैं, वह

आपके भीतर की खबर देता है। जरा सी भी बात आप बाहर करते हैं, वह भीतर की खबर देती है। आप बैठे हैं; या बैठे-बैठे टाँग भी हिला रहे हैं कुर्सी पर, तो वह आपके भीतर की खबर दे रहा है; क्योंकि टाँग ऐसे नहीं हिलती, उसे हिलाना पड़ता है। आप हिला रहे हैं। आपको पता भी न हो; पता हो जाए, तो तत्काल टाँग रुक जाएगी। लेकिन हिल रही थी; और आपको पता चला, तो रुक भी गई। इसका मतलब क्या हुआ? इसका मतलब हुआ कि आपके भीतर बहुत कुछ चल रहा है, जिसका आपको पता नहीं; और आपके भीतर बहुत कुछ हो रहा है, जो बाहर भी प्रकट हो रहा है; लेकिन आपको पता नहीं है। इसलिए बड़े मजे की घटना घटती है।

दूसरों के दोष हमें जल्दी दिखाई पड़ जाते हैं। अपने दोष मुश्किल से दिखाई पड़ते हैं; क्योंकि खुद के दोष अचेतन चलते रहते हैं। ऐसा कोई जानकर नहीं करता कि अपने दोष नहीं देखना चाहता, लेकिन खुद के दोष इतने अचेतन हो गये होते हैं; इतने हम आदी होते हैं कि दिखाई नहीं पड़ता। दूसरे के तत्काल दिखाई पड़ जाते हैं; क्योंकि दूसरा सामने खड़ा होता है। फिर अपने दोषों के साथ हमारे लगाव होते हैं; मूर्छाएँ होती हैं; अन्धापन होता है। दूसरे के दोष के प्रति हम शुद्ध निरीक्षक होते हैं।

इसलिए ध्यान रखना आपके सम्बन्ध में दूसरे जो कहें, उसे बहुत गौर से सोचना। जल्दी उसे इन्कार मत कर देना, क्योंकि बहुत मौकों पर वे सही होंगे। अपने सम्बन्ध में आप जो मानते चले आये हैं, उसको जल्दी स्वीकार मत कर लेना। अपने सम्बन्ध में, अपनी जो धारणा हो, उस पर बहुत सोच-विचार करना; बहुत कठोरता से; और दूसरे आपके बाबत को जो कहते हों, उस पर बहुत विनम्रता से, जल्दबाजी किये बिना, सोच-विचार करना। अक्सर दूसरे सही पाये जाएँगे और आप गलत पाए जाओगे; क्योंकि आपको अपने होने का अधिक हिस्सा अचेतन है। आपको पता ही नहीं कि आप क्या कर रहे हैं।

यह जो हमारी स्थिति है; इसमें प्रतिपल हमारा जो भीतर है, वह बाहर आ रहा है। हमारे द्वार पर उसकी झलक दिखाई पड़ती है।

एक आदमी धन संग्रह करता है। धन मूल्यवान नहीं है। धन न हो, तो आप 'पोस्टल स्टेम्प' इकट्ठे कर सकते हैं। उसमें कोई अड़चन नहीं पड़ती। वही काम हो जायेगा। सिगरेट की डिब्बियाँ इकट्ठी कर सकते हैं; वहीं काम हो जायेगा। कई दफा हमें लगता है कि बड़ी 'इनोसेन्ट हॉबी' है—बड़ी निर्दोष

कि पोस्टल-स्टेम्प' इकट्ठा करता है। सवाल यह नहीं कि आप क्या इकट्ठा करते हैं; सवाल यह है कि आप इकट्ठा करते हैं। भीतर कहीं कोई चीज खालीपन अनुभव कर रही है, उसको आप भरते चले जाते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि आप कुछ भी इकट्ठा मत करें। इसका कुल मतलब इतना है कि आप लोभ के कारण इकट्ठा मत करें।

जरूरत और लोभ में बड़ा फर्क है। बड़े मजे की बात है कि लोभी अक्सर अपनी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पाता; क्योंकि लोभ के कारण आवश्यकता पूरी करने में जो खर्च करना होता है, वह उसकी हिम्मत के बाहर होता है। अक्सर ऐसा होता है कि एक धनी आदमी है, लेकिन अपनी बिमारी का इलाज नहीं करता; क्योंकि उसमें खर्च करना पड़ता है। वह खर्च करना उसे कठिन मालूम पड़ता है; तो यह तो हद हो गई। आवश्यकता के लिए धन उपयोगी हो सकता है, लेकिन इस आदमी के लिए आवश्यकता से भी कोई बड़ी चीज है। वह भीतर का गड्ढा, लोभ। वहाँ चीजें भरी होनी चाहिए। वहाँ जरा सी भी कोई चीज हट जाए, तो उसे खालीपन लगता है। खालीपन में बेचैनी मालूम पड़ती है।

धनी अक्सर कंजूस हो जाते हैं; गरीब कंजूस नहीं होते। इसका मतलब यह नहीं कि अगर यह गरीब कल अमीर हो जाये, तो कंजूस नहीं होगा। गरीब कंजूस नहीं होते, उसका कुल कारण इतना है कि भीतर वैसे ही। खाली है। थोड़ा बचाने से भी कोई फर्क नहीं पड़ता। खाली तो रहेंगे ही इसलिए गरीब आदमी सहज खर्च कर लेता है। अमीर आदमी को लगता है कि सब तो भर गया, जरा सा कोना खाली है, इसको भर लें, तो तृप्ति हो जायेगी। वह कोना कभी नहीं भरता। वह कोना बड़ा होता जाता है। एक कोना सदा खाली रह जाता है; क्योंकि हम अपनी आत्मा को वस्तुओं से भर नहीं सकते, सिर्फ धोखा दे सकते हैं भरने का। कोई वस्तु भीतर नहीं जाती; वस्तु तो बाहर रह जाती है। इसलिए भीतर के खालीपन को भर नहीं सकती।

यह भीतर का खालीपन, महावीर कहते हैं; यह लोभ है। जब एक आदमी बाहर संग्रह करता है, तो इतनी खबर देता है कि भीतर खाली है। यह खालीपन गड्ढे की तरह पुकारता है कि भरो। वह लोभ है। इस लोभ को हम हजार ढंग दे सकते हैं। इस लोभ को कोई आदमी धन से भर सकता है। कोई आदमी ज्ञान से भर सकता है, कोई आदमी त्याग से भर सकता है। बड़ा मुश्किल होगा मामला, क्योंकि हम त्यागी को कभी लोभी नहीं कहते।

आपने चार उपवास किये, फिर सोचा कि आठ कर लें; तो पुण्य और ज्यादा होगा; तो यह लोभ है। चार करने वाला सोचता है कि अगले साल आठ कर लूँ, तो क्या फर्क हुआ ? चार लाख जिसके पास हों, वह सोचता है, अगले साल आठ लाख हो जायेंगे। गणित में कहाँ भेद है ? इस वर्ष आपने इतनी तपश्चर्या की, सोचते हैं अगले वर्ष दुगुनी कर लें। कहाँ भेद है ?

ज्यादा और ज्यादा, लोभ की माँग है। त्याग से भी कोई अपने को भर सकता है, धन से भी भर सकता है, ज्ञान से भी भर सकता है। और जान लूँ, और जान लूँ—तो उससे भी भराव शुरू हो जायेगा।

महावीर कहते हैं : बाहर की संग्रह अन्दर के लोभ की झलक है। संग्रह को छोड़कर भाग जाने से लोभ नहीं मिटेगा।

आईने में आपका चेहरा दिखाई पड़ रहा है। कुरूप है, तो कुरूप दिखाई पड़ रहा है। एक डंडा उठा के मारें आईना तोड़ दें झलक नदारद हो जायेगी। लेकिन आप नदारद नहीं हो जायेंगे; और आपका कुरूप चेहरा भी नदारद नहीं हो जायेगा; सिर्फ झलक नदारद हो जायेगी।

मेरे भीतर लोभ है। मैं धन इकट्ठा कर कहा हूँ। धन दर्पण है। समझ में आ गया मुझे कि धन का संग्रह लोभ है। धन छोड़कर मैं भाग गया। दर्पण मैंने तोड़ दिया। जब भी मैं वहीं का वहीं हूँ। सिर्फ झलक टूट गई।

ये समझ लेना कि महावीर कहते हैं, बाहर का संग्रह अन्दर के लोभ की झलक है। झलक को तोड़ने से लोभ नहीं टूटेगा। सिर्फ झलक दिखाई पड़नी बन्द हो जायेगी।

मैं भाग गया जंगल में। अब मैं तपश्चर्या कर रहा हूँ; त्याग कर रहा हूँ; और जब मैं त्याग का संग्रह कर रहा हूँ। आदमी मैं वही हूँ। इससे फर्क नहीं पड़ता। घर छोड़कर चला जाऊँगा आश्रम। घर के मुकदमें नहीं लड़ूँगा, तो आश्रम के मुकदमें लड़ूँगा। लेकिन अदालत जाऊँगा। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

मेरा मकान, मेरा बेटा, मेरी पत्नी, मेरा पति इनको छोड़ दूँगा, तो कहूँगा मेरा धर्म, मेरा शास्त्र, मेरा वेद, मेरे महावीर, मेरे बुद्ध। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। लाठियाँ उठ जायेंगी और सिर खुल जायेंगे।

एक मित्र मुझे मिलने आये थे। उनकी पत्नी धार्मिक है, जैसे कि लोग धार्मिक होते हैं। मुझसे पूछने लगे, यहाँ पास में कोई जैन मन्दिर है ? मेरी

पत्नी बिना नमस्कार किये भोजन नहीं करती। तो मैंने कहा कि यहाँ बहुत जैन-मन्दिर हैं। चले जाएँ; जो भी जैन-मन्दिर मिले, नमस्कार करा दें। वे गये। एक मित्र को मैंने साथ कर दिया कि उनको किसी जैन-मन्दिर पहुँचा दें। उस बेचारे को क्या पता कि जैन-मन्दिर में भी बड़े फर्क होते हैं। मित्र थे दिगम्बर, वे ले गया श्वेताम्बर मन्दिर में। उसने बता दिया कि यह रहा मन्दिर। आप अन्दर जाकर नमस्कार कर लें, लेकिन वह देवी उदास होकर वहीं सीढ़ियों पर बैठ गई। उसने कहा कि यह हमारा मन्दिर नहीं है। ये हमारे महावीर नहीं हैं। हमें तो दिगम्बर मन्दिर ले चलो। ये तो श्वेताम्बर मन्दिर है। वह सज्जन अब तक यही सोचते रहे थे कि जैन-मन्दिर, यानी जैन-मन्दिर। उनको कभी ख्याल न था कि इसमें भी, महावीर में भी 'टाइप', प्रकार होते हैं।

उस स्त्री ने उस मन्दिर में जाकर नमस्कार करने से इन्कार कर दिया। वे उनके महावीर नहीं हैं। ऐसे मन्दिर हैं जैनियों के, जहाँ सुबह से दस बजे तक महावीर श्वेताम्बर रहते हैं, दस के बाद दिगम्बर हो जाते हैं। दस बजे तक श्वेताम्बर नमस्कार करते हैं, दस के बाद दिगम्बर नमस्कार करते हैं।

आदमी गुड्डा-गुड़ियों के खेलों के ऊपर कभी नहीं उठ पाता। मुकदमें चलते हैं; क्योंकि अगर दस से साढ़े दस बजे तक, महावीर अगर श्वेताम्बर ही रह गए, तो ये जो दूसरे उपासक हैं, वे लट्ठ लेकर खड़े हो जाएँगे। न मालूम कितने जैनियों के मन्दिरों पर पुलिस ने ताला डाल रखा है। भक्त तय नहीं कर पाते। महावीर ताले में बन्द हैं; क्योंकि भक्त नहीं तय कर पाते कि कैसे बाँटें! कैसे आधा-आधा करें! फिर मेरे महावीर, मेरे बुद्ध और मेरे राम और मेरे कृष्ण। मगर वह मेरा खड़ा ही रहता है। ममता खड़ी रहती है, मूर्छा खड़ी रहती है। आदमी झलक को तोड़ दे, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता; जब तक आदमी अपने भीतर की स्थिति को न बदले।

दर्पणों को मिटाने में कोई भी सार नहीं है। दर्पण बड़े मित्र हैं; झलक देते हैं; आपकी खबर देते हैं। अच्छा होगा दर्पणों को रहने दें। भीतर जो कुरूपता है, उसे मिटाएँ। तो दर्पण, जिस दिन कुरूपता नहीं होगी भीतर, उस दिन बता देंगे कि अब आप सुन्दर हो गए। अब भीतर लोभ नहीं है।

धन छोड़ने से कोई प्रयोजन हल नहीं होता, लोभ छोड़ने से प्रयोजन हल होता है। लोभ बड़ी अलग बात है और एक आन्तरिक क्रान्ति है। लोभ कब छूटता है? लोभ है क्यों?

लोभ है इसलिए, कि हम भीतर खाली हैं। अर्थहीन, एम्पटी, रिक्त कुछ भी वहाँ नहीं हैं। इसीलिए लोभ हैं। किसी भी चीज से भर दें, यह वात बुरी नहीं है। भरने की कठिनाई खड़ी हो जाती है। जिन चीजों से हम भरने जाते हैं, वे भीतर जा नहीं सकती। क्या है जो भीतर जा सकता है ? उसकी खोज करनी चाहिए। या कहीं ऐसा तो नहीं है कि भीतर हम खाली हैं ही नहीं। यह हमारा ख्याल ही है। और यह ख्याल इसलिए है कि हम भीतर कभी गये नहीं। हमने ठीक जाँच-पड़ताल नहीं की। या यह ख्याल इसलिए है कि वाहर के जगत् में खालीपन का जो अर्थ होता है, भीतर के जगत् में वही नहीं होता।

एक कमरा खाली है। लाओत्से ने कहा है, एक कमरा खाली है, तो हम कहते हैं, खाली है। लेकिन लाओत्से कहता है, तुम ऐसा भी तो कह सकते हो कमरा अपने से भरा है। किसी चीज से नहीं भरा, अपने से भरा है। तुम ऐसा भी कह सकते हो कि कमरा खालीपन से भरा है। खालीपन भी एक भरावट है, लेकिन जो फर्नीचर को ही भरावट समझते हैं, उनको कमरा खाली दिखाई पड़ेगा। खाली दिखाई पड़ने का कारण यह नहीं कि कमरा खाली है, खाली दिखाई पड़ने का कारण यह है कि आपके भरेपन की परिभाषा दूसरी है। हमने अव तक चीजों को ही भरापन समझा है। आत्मा में कोई चीज नहीं है, इसलिए हमको आत्मा खाली दिखाई पड़ती है। फिर हम चीजों से ही भरते चले जाते हैं। फिर लोभ का पागलपन पैदा हो जाता है, कभी कोई भराव पैदा नहीं होता।

महावीर कहते हैं कि भीतर जाग कर जो देख ले, वह पाता है कि आत्मा तो भरी ही है। अपने से भरी है, किसी और से नहीं। जिस दिन उसका भरापन हमें पता चलता है, उस दिन लोभ तिरोहित हो जाता है; क्योंकि फिर भरने की कोई जरूरत नहीं रह जाती। जिस दिन लोभ हट जाता है, उस दिन संग्रह की पागल दौड़ समाप्त हो जाती है।

यह जो संग्रह करने की वृत्ति रखते हैं, ऐसे लोग ग्राहस्थ्य हैं—साधु नहीं; फिर यह वृत्ति कुछ भी हो। किसी चीज का आप संग्रह करते हैं, इससे भेद नहीं पड़ता। आप संग्रह करते हैं, तो आप ग्राहस्थ्य हैं। अगर आप संग्रह नहीं करते हैं, तो आप साधु हैं। इसलिए साधु या ग्राहस्थ्य होना ऊपरी घटना नहीं है, वड़ी आन्तरिक क्रान्ति है।

'मैंने सुना है, एस्किमो परिवार में एक रिवाज है। एक फ्रेंच यात्री जब पहली दफा, ध्रुवीय देशों में गया, तो उसे कुछ पता नहीं था। बहुत गरीब हैं एस्किमो। गरीब से गरीब हैं। लेकिन उनसे सम्पन्न आदमी मिलना भी शायद बहुत मुश्किल है। उसे फ्रेंच लेखक ने लिखा है कि मैंने उनसे ज्यादा समृद्ध लोग नहीं देखे। पता उसे कैसे चला ? जिस घर में भी वह ठहरा, फ्रेंच आदतों के कारण उसे कुछ पता नहीं था कि वहाँ का रिवाज क्या है ! किसी एस्किमो को उसने कह दिया कि तुम्हारे जूते तो खूबसूरत हैं ! उसने तत्काल जूते भेंट कर दिए। उस एस्किमो के पास दूसरी जोड़ी नहीं है बर्फीली जगह है। नंगे पैर चलना जीवन को जोखम में डालना है, लेकिन यह सवाल नहीं है। दो-चार दिन बाद उसे बड़ी हैरानी हुई कि वह जिससे भी कुछ कह दे कि यह चीज़ बड़ी अच्छी है, वह तत्काल उसे भेंट कर देता था। तब उसे पता चला कि एस्किमो मानते हैं कि जो चीज किसी को पसन्द आ गई, वह उसकी हो गई। उसने पूछा ऐसा मानने के कारण क्या हैं ? तो जिस वृद्ध से उसने पूछा, उस वृद्ध ने कहा : इसके दो कारण हैं एक तो चीज किसी की नहीं है। चीजें हैं। दूसरा इसके मानने का कारण है कि जिसके पास हैं, उसके लिए तो अब व्यर्थ हो गई और जिसके पास नहीं हैं वह सम्मोहित हो रहा है। अगर उसे न मिले, तो उसका सम्मोहन लम्बा हो जाएगा, इसलिए उसे तत्काल दे देना जरूरी है। ताकि उसका सम्मोहन टूट जाए। और तीसरा कारण यह है कि जिस चीज के हम मालिक हैं, उसकी मालकियत का मौका तभी आता है, जब हम किसी को देते हैं। नहीं तो कोई मौका नहीं आता।

चीजों का होना आपको ग्राहस्थ्य नहीं बनाता; चीजों का पकड़ना 'क्लिंगिग' आपको ग्रहस्थ बनाता है। ये एस्किमो संन्यासी हैं, साधु हैं। जिसे हम साधु कहते हैं; अगर उसके भीतर झाकें, तो वहाँ मौजूद रहता है, बना रहता है— तो फिर वह ग्राहस्थ्य है। बाहर से आप क्या हैं; यह बहुत मूल्य का नहीं है। भीतर से आप क्या है, यही मूल्य का है। लेकिन भीतर से आप क्या हैं, ये आपके अतिरिक्त कौन जानेगा ? कैसे जानेगा ? इसलिए सदा अपने भीतर पर एक आंख रखनी चाहिए, निरीक्षण की, कि मैं भीतर क्या हूँ। चीज को पकड़ता हूँ ? चीज मूल्यवान है बहुत ? चीज न होगी, तो मैं मर जाऊँगा ? मिट

जाऊँगा ? मैं चीजों का एक जोड़ हूँ, तो मैं एक ग्राहस्थ्य हूँ ! फिर भागकर जंगल में जाने से कुछ भी न होगा। फिर इस ग्राहस्थ्य होने की भीतरी व्यवस्था को तोड़ना पड़ेगा।

संन्यासी होना एक आन्तरिक क्रांति है। ये भीतर घटित हो जाए, तो फिर बाहर वस्तुएँ हों या न हों, गौण है।

महावीर ने मूर्छा को परिग्रह कहा है। अमूर्च्छा को संन्यास कहा है। महावीर का जो सूत्र है : जो सोता है, वह असाधु है। सुत्ता अमुनि। जो जागता है, वह साधु है। असुत्ता मुनि ! जो सोया नहीं है, जागा हुआ है, वह साधु है।

भीतरी जागरण साधुता है। भीतरी बेहोशी असाधुता है।

आज इतना ही। कीर्तन में सम्मिलित हों, फिर जायें।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१० सितम्बर, १९७२

सातवां प्रवचन

अरात्रि भोजन-सूत्र

अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ।।
पाणिवह - मुसावाया—
दत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ ।
राइभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ।।

सूर्योदय के पहले और सूर्यास्त के बाद श्रेयार्थी को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिए ।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से जो जीव विरत रहता है, वह निराश्रव अर्थात् निर्दोष हो जाता है ।

सूत्र के पहले एक प्रश्न।

एक मित्र ने पूछा है : पाने योग्य चीज अधिक मात्रा में पाने की चेष्टा करना भी क्या लोभ है? अधिक धन प्राप्त करके अधिक दान करने को आप क्या कहेंगे?

काम, क्रोधादि शत्रुओं में आमतौर से लोभ के प्रति हमने थोड़ा अन्याय किया है। क्रोध और मोह से भी अधिक : अनिष्टकारी है लोभ। लोभ के सम्बन्ध में थोड़ी बातें ख्याल में ले लेना जरूरी हैं। काम, क्रोध और मोह, लोभ के मुकाबले कुछ भी नहीं हैं। लोभ बहुत गहरी घटना है।

छोटे बच्चे के भीतर काम नहीं होता, पर लोभ होता है। काम तो आयेगा बाद में, लेकिन लोभ जन्म के साथ होता है।

क्रोध प्रासंगिक है। जब परिस्थिति प्रतिकूल होती है, तब उठता है। लेकिन परिस्थिति प्रतिकूल ही इसलिए मालूम पड़ती है कि लोभ भीतर है।

क्रोध लोभ का अनुसंग है। अगर भीतर लोभ न हो, तो क्रोध नहीं होगा। जब आपके लोभ में कोई बाधा डालता है, तो आपमें क्रोध पैदा होता है। जब आपके लोभ में कोई सहयोगी नहीं होता, विरोधी हो जाता है तब आपमें क्रोध पैदा होता है।

लोभ ही क्रोध के मूल में है। गहरे देखें तो काम का, वासना का विस्तार भी, लोभ का ही विस्तार है। 'बायोलॉजिस्ट', जीवशास्त्री कहते हैं कि मनुष्य की मृत्यु व्यक्ति की तरह निश्चित है, लेकिन व्यक्ति मरना नहीं चाहता। अमरता भी एक लोभ है—मैं रहूँ सदा, मैं कभी मिट न जाऊँ। लेकिन इस शरीर को हम मिटते देखते हैं। अब तक कोई उपाय नहीं हुआ इस शरीर को बचाने का।

जीवशास्त्री कहते हैं—इसलिए मनुष्य कामवासना को पकड़ता है कि मैं नहीं बचूंगा, तो कोई हर्ज नहीं, पर मेरा कोई बचेगा—मेरा यह शरीर नष्ट हो जाएगा, लेकिन इस शरीर के जीवाणु किसी और में जीवित रहेंगे।

पुत्र की इच्छा, अमरता की ही इच्छा है। मेरा कोई हिस्सा जीता रहे, बना रहे—यह भी लोभ है।

काम, लोभ का विस्तार है। क्रोध, काम और लोभ के मार्ग में आए अवरोध से पैदा हुई वितृष्णा है। मोह—जहाँ-जहाँ लोभ रुक जाता है, जिस-जिस पर लोभ रुक जाता है—उसका नाम है।

समझ लें, क्रोध है बाधा, मोह है सहयोग। जो मेरे लोभ में बाधा डालता है, उस पर मुझे क्रोध आता है। जो मेरे लोभ में सहयोगी बनता है, उस पर मुझे मोह आता है—वह मेरा लगता है, उस पर ममता जगती है।

क्रोध, मोह और काम गहरे में 'ग्रीड,' लोभ के ही विस्तार हैं। जिस व्यक्ति का लोभ गिर जाता है, उसके ये तीनों—जिनको हम शत्रु कहते हैं, ये भी गिर जाते हैं।

लोभ के बिना क्रोध नहीं हो सकता। हाँ, यह हो सकता है कि क्रोध के बिना भी लोभ रहे, पर यह असम्भव है कि क्रोध के बिना कामवासना हो। लेकिन कामवासना के बिना भी लोभ हो सकता है।

ब्रह्मचर्य में भी लोभ हो सकता है। मैं, और ब्रह्मचारी—और ब्रह्मचारी हो जाऊँगा—यह भी लोभ का हिस्सा हो सकता है।

आत्मा में भी लोभ हो सकता है और परमात्मा में भी लोभ हो सकता है। अक्सर ऐसा होता है कि लोभी अपने लोभ के लिए, जब संसार हाथ से छूटने लगता है, तो दूसरे लोभ की चीजों को पकड़ना शुरू कर देता है। जो यहाँ धन को पकड़ता था, वह वहाँ धर्म को पकड़ने लगता है; लेकिन पकड़ वही है, लोभ का भाव वही है—संसार खो गया कोई हर्ज नहीं, पर स्वर्ग न खो जाए; यहाँ यश न मिला, प्रतिष्ठा न मिली, कोई हर्ज नहीं, पर उस लोक में कहीं आनन्द न खो जाए। कहीं ऐसा न हो कि ये संसार तो खो ही दिया, दूसरा संसार भी न खो जाए—ऐसा लोभ पकड़ता है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि अधिक लोग बूढ़े होकर धार्मिक होने शुरू हो जाते हैं—लोभ के कारण। जवान आदमी से मौत जरा दूर होती है; अभी दूसरे लोक की इतनी चिंता नहीं होती; अभी आशा होती है कि यहीं पा लें, जो पाने योग्य है—यहीं कर लेंगे इकट्ठा। लेकिन मौत जब करीब आने लगती है, तो हाथ-पैर शिथिल होने लगते हैं और संसार पर पकड़ ढीली होने लगती है इन्द्रियों की। तो भीतर का लोभ कहता है कि यह संसार तो गया ही, अब

दूसरे को मत छोड़ देना—माया मिली न राम—कहीं ऐसा भी न हो कि माया भी गयी और राम भी गए—तो अब राम को जोर से पकड़ लो।

इसलिए बूढ़े लोग मन्दिरों-मस्जिदों की तरफ यात्रा करने लगते हैं। तीर्थ-यात्रियों को देखें—बूढ़े लोग तीर्थ की यात्रा करने लगते हैं। ये वही लोग हैं, जिन्होंने जवानी में तीर्थ के विपरीत यात्रा की है।

कार्ल गुस्ताव जुंग ने, इस सदी के बड़े से बड़े मनोचिकित्सक ने कहा है कि मानसिक रूप से रुग्ण व्यक्तियों में, जिन लोगों की मैंने चिकित्सा की है, उनमें अधिकतम लोग चालीस वर्ष के ऊपर थे। और उनकी निरन्तर चिकित्सा के बाद मेरा यह निष्कर्ष है कि उनकी बीमारी का एक ही कारण था कि पश्चिम में धर्म खो गया है। चालीस साल के बाद आदमी को धर्म की वैसी ही जरूरत है, जुंग ने कहा, जैसे जवान आदमी को विवाह की। जवान को जैसे कामवासना चाहिए, वैसे बूढ़े को धर्म वासना चाहिए।

जुंग ने कहा है कि अधिक लोगों की परेशानी यह है कि उनको धर्म नहीं मिल रहा है। इसलिए पूर्व में कम लोग पागल होते हैं और पश्चिम में ज्यादा। पूर्व में जवान आदमी भला पागल हो जाए, पर बूढ़ा आदमी पागल नहीं होता। पश्चिम में जवान आदमी पागल नहीं होता, बूढ़ा आदमी पागल हो जाता है। जैसे-जैसे जवानी हटती है, वैसे-वैसे रिक्तता आती है। यौवन की वासना खो जाती है और बुढ़ापे की वासना को कोई जगह नहीं मिलती। मन बेचैन और व्यथित हो जाता है।

पूर्व का बूढ़ा सोचता है कि आत्मा अमर है—इससे उसे आश्वासन होता है। पूर्व का बूढ़ा सोचता है कि माला जप रहे हैं, राम-नाम ले रहे हैं, इसलिए स्वर्ग निश्चित है—इससे उसे सान्त्वना मिलती है। पश्चिम के बूढ़े को कोई भी सान्त्वना नहीं रही। पश्चिम का बूढ़ा बड़े कष्ट में है, बड़ी पीड़ा में है, आगे सिवाय मौत के उसे कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता—उस पार।

उस पार लोभ को कोई मौका नहीं—जवानी के लोभ के विषय खो गये और बुढ़ापे के लोभ के लिए कोई 'ऑब्जेक्ट', कोई विषय नहीं मिल रहे हैं। मौत का तो लोभ हो नहीं सकता, अमरता का हो सकता है। बूढ़ा आदमी शरीर का क्या लोभ करेगा! शरीर तो खो रहा है, हाथ से खिसक रहा है, तो शरीर के ऊपर—पार कोई चीज हो, तो लोभ करें।

लोभ अद्भुत है। लोभ विषय बदल ले सकता है। धन ही पर लोभ हो, ऐसा आवश्यक नहीं—लोभ किसी भी चीज पर हो सकता है। वासना छूट जाये काम की, तो लोभ मोक्ष की वासना बन जाता है।

तो लोभ की गहराई हम समझ लें, क्योंकि लोभ के साथ न्याय नहीं हुआ है। जिन्होंने भी समझा है लोभ को, उन्होंने उसे मूल में पाया है। ग्रीड मूल है। लोभ शब्द से हमें समझ में नहीं आता, क्योंकि सुन-सुन कर हम बहरे हो गये हैं। इस शब्द में हमें बहुत ज्यादा दिखाई नहीं पड़ता।

लोभ का मतलब है कि भीतर मैं खाली हूँ और मुझे अपने को भरना है, और यह खालीपन ऐसा है कि भरा नहीं जा सकता। यह खालीपन हमारा स्वभाव है, खाली होना हमारा स्वभाव है। भरने की वासना लोभ है। इसलिए लोभ सदा असफल होगा—कितना ही सफल हो जाये, तब भी असफल रहेगा। हम अपने को भर न पायेंगे—चाहे धन से, चाहे पद से, यश से, ज्ञान से, त्याग से, व्रत से, नियम से, साधना से—इन सबसे भी भरते रहें, तो भी अपने को न भर पायेंगे।

भीतर विराट शून्य है, इस विराट शून्य का नाम ही आत्मा है। जब तक कोई व्यक्ति शून्य होने को राजी नहीं हो जाता, तब तक उसे आत्मा का कोई दर्शन नहीं होता।

लोभ हमें शून्य नहीं होने देता; और लोभ हमें भटकाये रखता है, दौड़ाए रखता है। और जब तक हम भीतर शून्य न हो जायें, तब तक स्वयं का कोई साक्षात्कार नहीं होता। क्योंकि शून्य होना ही स्वयं होना है।

जब मैं भरा हूँ, तो मैं किसी और चीज से भरा हूँ—इसे ठीक से समझ लें।

भरने का मतलब ही किसी और चीज से भरे होना है। हम कहते हैं, बरतन भरा है। बरतन भरा है—इसका मतलब है किसी और चीज से भरा है। अगर बरतन स्वयं है, तो खाली होगा, भरा नहीं हो सकता। हम कहते हैं, मकान भरा है—इसका मतलब है किसी और चीज से भरा है। अगर मकान स्वयं है, तो खाली होगा, भरा नहीं हो सकता। हम कहते हैं, आकाश बादलों से भरा है—इसका मतलब है कि बादल कुछ और हैं। जब बादल न होंगे, तब आकाश स्वयं होगा।

भराव सदा पराये से होता है, स्वयं का कोई भराव नहीं होता। जब भी आप स्वयं होंगे—शून्य होंगे, और जब भी भरे होंगे—किसी 'और' से भरे होंगे, वह 'और'—धन हो, प्रेम हो, मित्र हो, शत्रु हो, संसार हो, मोक्ष हो—इससे कोई फर्क नहीं पड़ता—'वट द अदर' वह हमेशा दूसरा होगा, जिससे आप भरते हैं।

जिसको भरना है, वह दूसरे से भरेगा। जिसको खाली होना है, वह स्वयं हो सकता है। इसका मतलब हुआ : लोभ, स्वयं को भरने की आकांक्षा है। अलोभ स्वयं के खालीपन में जीने का साहस है। इसलिए लोभ भयंकर है, लोभ ही हमारा संसार है—मैं सोचता हूँ कि किसी चीज से अपने को भर लूं; मुझे ऐसा लगता है कि भरे बिना मैं चैन में नहीं हूँ।

आप अकेले में कभी चैन में नहीं होते हैं। हर आदमी तलाश कर रहा है साथी की, मित्र की, क्लब की, सभा की, समाज की। हर आदमी खोज कर रहा है दूसरे की। अकेला होने को कोई राजी नहीं। अपने साथ किसी को भी चैन नहीं मिलता।

और बड़े मजेदार हैं हम लोग!

हम खुद अपने साथ चैन नहीं पाते और सोचते हैं कि दूसरे हमारे साथ चैन पायें! हम खुद अपने को अकेले में बर्दास्त नहीं कर पाते और हम सोचते हैं कि दूसरे हमें न केवल बर्दास्त करें, बल्कि अहोभाव मानें! हम खुद अपने साथ रहने को राजी नहीं हैं, लेकिन हम चाहते हैं, दूसरे समझें कि हमारा साथ उनके लिए स्वर्ग है।

अकेला आदमी भागता है, जल्दी किसी से मिलने को।

मार्क ट्वैन ने मजाक में एक बहुत बढ़िया बात कही है। मार्क ट्वैन बीमार था। किसी मित्र ने पूछा कि ट्वैन तुम स्वर्ग जाना चाहोगे कि नर्क। मार्क ट्वैन ने कहा कि इसी चिन्तन में मैं भी पड़ा हूँ। लेकिन बड़ी दुविधा है, फॉर क्लाइमेट हेवेन इज बेस्ट, बट फॉर कम्पनी हैल इज बेटर (अगर सिर्फ स्वास्थ्य सुधार करना हो, तो स्वर्ग में आब-हवा बहुत अच्छी है; लेकिन वहाँ 'कम्पनी' (संग) बिल्कुल नहीं है)।

महावीर स्वामी बगल में बैठे हों आपके तो भी 'कम्पनी' नहीं होगी। 'कम्पनी' चाहिये तो नर्क ठीक है। वहाँ शानदार रंगीले लोग हैं—वहाँ 'कम्पनी' है, चर्चा है, मजाक है, बातचीत है।

ट्वैन ने तो मजाक में कहा था, लेकिन बात में थोड़ी सच्चाई है। इसे दूसरे पहलू से देखें, तो यह मजाक गम्भीर हो जाता है। असल में जो लोग भी भीतर नर्क में हैं, वे हमेशा 'कम्पनी' की खोज में होते हैं। जो लोग भीतर खुद से दुखी हैं, वे साथी खोजते हैं। जो भीतर आनन्दित है, वह अपना साथी काफी है। उसे किसी और के साथ की कोई जरूरत नहीं।

सुना है मैंने इकहार्ट के बाबत, जो एक ईसाई फकीर हुआ है। पश्चिम में जो थोड़े से कीमती आदमी हुए हैं, महावीर और बुद्ध की हैसियत के, उनमें से वह एक है। इकहार्ट अकेला बैठा है। एक मित्र रास्ते से गुजरता था, उसने सोचा—बेचारा अकेला बैठा है, ऊब गया होगा। वह मित्र आया और उसने आकर कहा कि आप अकेले बैठे हैं, मैंने सोचा, जाता तो हूँ जरूरी काम से, लेकिन थोड़ा साथ दे दूँ—'टू गिव यू कम्पनी'।

इकहार्ट ने कहा—हे परमात्मा! 'आइ वाज अप टु नाऊ विथ मी, यू मेड मी एलोन'। (अब तक मैं अपने साथ था, तुमने आकर मुझे अकेला कर दिया।) तुम्हारी बड़ी कृपा होगी, अगर तुम यह अपनी 'कम्पनी' कहीं और ले जाओ, तुम किसी और को साथ दो, हम अपने साथ में काफी हैं, पर्याप्त हैं।

जो अपने भीतर सोचता है कि अपर्याप्त हूँ, वह दूसरे का साथ खोजता है।

लोभ अपने से अतृप्ति है। लोभ का मतलब है—मैं अपने से राजी नहीं हूँ—कुछ और चाहिये राजी होने के लिए, और जो अपने से राजी नहीं है, उसे कुछ भी मिल जाये, वह कभी राजी नहीं हो सकता। क्योंकि जो भी मिल जाये, वह मुझसे दूर ही रहेगा, मेरे निकट तो मैं ही हूँ। कितनी ही सुन्दर पत्नी खोज ले कोई, फासला रहेगा; और कितना ही अच्छा मकान बना ले कोई, फासला रहेगा; और कितना ही धन का अम्बार लग जाये, फासला रहेगा। मेरे पास मेरे अतिरिक्त कोई भी नहीं आ सकता। मैं अपने साथ तो रहूँगा ही—धन हो कि गरीबी, साथी हो कि अकेलापन—मैं अपने साथ तो रहूँगा ही; और अगर मैं अपने से ही राजी नहीं हूँ, तो मैं जगत् में कभी भी राजी नहीं हो सकता।

लोभ का मतलब है, अपने से राजी न होना। किसी और से राजी होने की कोशिश है, लोभ। जब कोई इस कोशिश में सफलता दे देता है, तो मोह बन जाता है। तब हम कहते हैं, इसके बिना मैं नहीं जी सकता—यह है मोह। कहते हैं अगर यह हट गया, तो मेरी जिन्दगी बेकार है—यह है मोह। फिर कोई बाधा डालता है और इस लोभ की खोज में अवरोध बन जाता है, तो क्रोध उठता है कि मिटा डालूँगा इसे। जिससे मोह बनता है, अगर वह मिट जाये, तो हम कहते हैं कि उसके बिना मैं जी न सकूँगा और जिससे हमारा क्रोध बनता है, तो हम कहते हैं कि जब तक यह है, तब तक मैं जी न सकूँगा।

मोह और क्रोध, विपरीत पहलू हैं, एक ही घटना के। और यह जो लोभ है हमारे भीतर, दूसरे की तलाश का—उसमें हमारी शक्तियों का जो नियोजन है, उसका नाम काम है, उसका नाम 'सेक्स' है।

हमारे भीतर जो जीवन की ऊर्जा है, जब वह दूसरे की तलाश में निकल जाती है, तो काम बन जाती है। यह मजे की बात है और थोड़ी दुरूह भी। हमें ख्याल में नहीं आता है कि जब एक आदमी धन का दिवाना होता है, तो धन की दिवानगी उसके लिए वैसे ही काम-वासना होती है, जैसे कोई स्त्री का दिवाना हो। वह रुपये को हाथ में रख कर वैसे ही देखता है, जैसे कोई सुन्दर चेहरे को देखें। तिजोरी को वह वैसे ही प्रेम से खोलता है, जैसे कोई अपनी प्रेयसी को प्रेम से बिठाए। रात सपने में उसे प्रेयसी नहीं आती, तिजोरी आती है। यह धन जो है, इसके लिए 'सेक्स ऑब्जेक्ट' है। यह धन के साथ मैथुन-रत है।

जो आदमी धन का दिवाना होता है, वह किसी को प्रेम नहीं कर सकता। इसलिए धन का दिवाना पत्नी को प्रेम नहीं कर सकता, बच्चों को प्रेम नहीं कर सकता। सभी प्रेम बड़े इर्ष्यालु हैं। अगर धन से प्रेम हो गया, तो धन दूसरे से प्रेम नहीं होने देगा। प्रेम 'जेलस' है, धन ने अगर पकड़ लिया, तो प्रेम नहीं होने देगा।

फैराडे नामक वैज्ञानिक को कोई पूछता था कि तुमने विवाह क्यों नहीं किया! उसने कहा कि जिस दिन विज्ञान से विवाह कर लिया, उस दिन से सौतेली पत्नी घर में लाने की हिम्मत फिर मैंने न जुटाई।

अक्सर—वैज्ञानिक हों, चित्रकार हों, कवि हों, संगीतज्ञ हों—पत्नी से बचते हैं, नहीं बचते, तो पछताते हैं। पछताना पड़ेगा, क्योंकि दो पत्नी ?....

मुल्ला नसरुद्दीन से उसका बेटा पूछ रहा है कि पिताजी कानून ने दो विवाह पर रोक क्यों लगा रखी है! तो नसरुद्दीन ने कहा कि जो अपनी रक्षा खुद नहीं कर सकते, कानून को उनकी रक्षा करनी पड़ती है। एक ही पत्नी काफी है। मगर आदमी कमजोर है, दो, चार, दस इकट्ठी कर ले सकता है। कानून को उसकी रक्षा करनी पड़ती है। तुम ऐसी भूल मत करना।

अक्सर, जिनको किसी खोज में लीन होना है, वे विवाह से बच जाते हैं। क्योंकि वह खोज ही उनके लिए 'सेक्स ऑब्जेक्ट' है। उसका और कोई कारण नहीं है। जो संगीत का दिवाना है, उसके लिए संगीत प्रेयसी है। जो काव्य का दिवाना है, कविता उसकी प्रेयसी है। अब दूसरी पत्नी कठिनाई खड़ी कर देगी। और पत्नियाँ इसे भली भाँति जानती हैं। कभी-कभी ऐसी भूल-चूक हो जाती है कि कोई कवि शादी कर लेता है, तो पत्नी के बर्दास्त के बाहर हो जाता है कि वह उसके सामने कविता बैठ के लिखें। पत्नी मौजूद हो और पति कविता लिखे, तो पत्नी छीनकर फेंक देगी उसकी कविता।

वैज्ञानिकों के हाथ से उनके उपकरण छीन लिये हैं। दार्शनिकों के हाथ से उनके शास्त्र छीन लिये हैं। हमें हैरानी लगती है कि आखिर यह पत्नी को क्या हो रहा है। अगर सुकरात अपनी किताब पढ़ रहा है तो ये झिनथोपे सुकरात की पत्नी उसे किताब पढ़ने क्यों नहीं देती !

हमें लगता है कि पागल औरत है। पागल नहीं है, वह। जाने-अनजाने वह समझ गई है कि किताब ज्यादा महत्त्वपूर्ण है सुकरात के लिए—पत्नी के बजाय। पत्नी मौजूद है और पति अखबार पढ़ रहा है, तो बात साफ है कि वहाँ महत्त्वपूर्ण कौन है ! अगर पत्नी अखबार को छीन कर फाड़कर फेंक देती है, तो पत्नी की अन्तःप्रज्ञा उसको ठीक-ठीक दिशा दे रही है—वह ठीक समझ रही है।

जो व्यक्ति जिसमें लीन हो जाता है, वही उसके लिए कामविषय हो जाता है। लीनता, काम-विषय का लक्षण है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि आपकी लीनता पुरुष और स्त्री के प्रति ही हो। आपकी लीनता किसी भी चीज के प्रति हो जाये, तो जो सम्बन्ध है, वह काम का है।

लोभ काम की ही यात्रा पर निकल जाता है—फिर चाहे धन हो, चाहे यश हो, चाहे पद हो, चाहे पुण्य हो—इससे कोई फर्क नहीं पडता।

लोभ का एक ही लक्षण है—अपने से बाहर जाना। दूसरे की खोज। दूसरे के बिना जीना मुश्किल। दूसरा स्वयं से ज्यादा महत्वपूर्ण है। दूसरे की महिमा ज्यादा और स्वयं की महिमा गौण है। और जिसकी स्वयं की महिमा गौण है, वह कहीं भी भटके भिखारी ही रहेगा।

इसलिए लोभी सदा भिखारी है। सम्राट हो जाए, तो भी उसका भिक्षा-पात्र खाली ही रहता है। और फिर लोभ से पैदा होती है सारी संततियाँ—क्रोध की, मोह की।

इसलिए लोभ को पाप का मूल कहा है।

मित्र ने पूछा है कि ज्यादा धन कमाकर ज्यादा दान करने को आप क्या कहेंगे ?

धन से लोभ का सम्बन्ध नहीं है। दान से भी लोभ का सम्बन्ध नहीं है। लोभ का सम्बन्ध ज्यादा से है। ज्यादा धन कमाने वाला, ज्यादा में अटका है। कल ये ज्यादा दान भी कर सकता है, तब भी ज्यादा में ही अटका होगा।

दान अच्छा है, लेकिन प्रायश्चित की तरह। और उसका कोई विधायक मूल्य नहीं है। जैसे माफी माँगना अच्छा है, लेकिन उसका यह मतलब नहीं कि

ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे माफी माँगनी पड़े; कि पहले गाली देना चाहिये, फिर माफी माँग लेनी चाहिये; क्योंकि माफी माँगना बहुत अच्छा है। माफी माँगना अच्छा है, लेकिन प्रायश्चित्त की तरह।

माफी कोई पुण्य नहीं है। माफी केवल पाप का प्रायश्चित है।

दान कोई पुण्य नहीं है। वह जो इकट्ठा किया था धन, केवल उसका प्रायश्चित है। दान की कोई विधायकता नहीं है, कोई पॉजिटिविटी नहीं है दान की। इसलिए जो कहते हैं कि खूब दान करो, अगर उनका मतलब यह है कि पहले खूब धन इकट्ठा करो और फिर दान करो, तो यह चालाक तरकीब है उनकी कि पहले खूब पाप करो और फिर पुण्य करो।

एक पादरी अपने स्कूल के बच्चों से पूछ रहा था। उसने बहुत समझाया था बच्चों को कि मुक्ति के लिए क्या आवश्यक है—सालवेशन के लिए, छुटकारे के लिए—समझाया था कि जीसस की प्रार्थना, पूजा, भगवान् का स्मरण, यह सब जरूरी है, जिसको मुक्त होना है। फिर उसने सब समझाने के बाद पूछा कि मुक्त होने के लिए सबसे जरूरी चीज क्या है। एक छोटे से बच्चे ने हाथ उठाया, हाथ हिलाया, वह पादरी बहुत खुश हुआ। वह बच्चा खड़ा हुआ। पादरी ने पूछा : 'क्या है सबसे जरूरी चीज ?' उस बच्चे ने कहा : 'पाप करना'।

जब तक पाप न करो, छूटना किससे है ? छुटकारे का क्या अर्थ है ? छुटकारे के लिए पाप करना पहली जरूरत है। दान के लिए, धन इकट्ठा करना पहली जरूरत है। लेकिन यह जाल समझने जैसा है।

जो आदमी ज्यादा धन इकट्ठा कर रहा है, वह दान कर कैसे पायेगा ! ज्यादा पर जितना उसका जोर होगा, उतना ही छोड़ना मुश्किल होगा; क्योंकि ज्यादा को पकड़ने की आदत हो जायेगी। तो वह दान कर सकता है, अगर यह दान 'इनव्हेस्टमेंट' हो। अगर उसको यह पक्का भरोसा हो जाये कि जितना मैं देता हूँ, उससे ज्यादा मुझे मिलेगा। वह दान कर सकता है, अगर उसे पक्का हो जाये कि यहाँ देता हूँ, और वहाँ स्वर्ग में मिलेगा।

आजकल दान करने में लोग उतने तत्पर नहीं दिखाई पड़ते—उसका कारण, स्वर्ग संदिग्ध हो गया है। और कोई कारण नहीं है। और उतना भरोसा अब नहीं रहा साफ-साफ की है भी।

अगर पुराने लोग दानी थे, तो आप यह मत समझना कि आपसे कम लोभी थे ! उनका स्वर्ग सुनिश्चित था। उसमें कोई शक की बात ही नहीं थी। यहां देना और वहाँ लेना नगद था। उसमें कहीं कोई उधारी का मामला

न था। अब सब गड़बड़ है। यहाँ हाथ से जाता हुआ नगद मालूम पड़ता है। वहाँ स्वर्ग में नगद मिलता हुआ मालूम नहीं पड़ता।

जिन्होंने दान किये हैं, पुराने लोगों ने, लोभ के कारण ही किये हैं, लोभ के विपरीत नहीं।

लोभ के विपरीत दान बड़ी और बात है; लोभ के कारण दान और बात है।

क्या फर्क होगा दोनों में ?

फर्क यह होगा कि ज्यादा मौजूद नहीं रहेगा दान में।

अगर यह लगता है कि ज्यादा दान करूं, तो क्यों लगता है !

ताकि ज्यादा पा लूँ।

यह ज्यादा की दौड़ क्या है ?

यही दौड़ कल थी कि ज्यादा धन इकट्ठा करूँ, अब वही दौड़ है कि ज्यादा दान करूँ।

क्यों ? तुम ज्यादा के बिना क्यों नहीं हो सकते हो ?

यह बुखार ज्यादा का आवश्यक नहीं है। जब कोई व्यक्ति ज्यादा से मुक्त हो जाता है, तो उसका लोभ शान्त हो जाता है।

तो जिन्होंने वस्तुतः दान किया है, उन्होंने कुछ पाने के लिए दान नहीं किया है। वह सिर्फ प्रायश्चित है। जो व्यर्थ इकट्ठा कर लिया था, वह वापस लौटा दिया है दान से। आगे कोई पुण्य मिलने वाला नहीं है। दान पीछे के किये गये पाप का निपटारा है। यह सिर्फ हिसाब साफ कर लेना है, और कुछ भी नहीं।

मित्र ने पूछा है—पाने योग्य चीज को अधिकतर मात्रा में पाने की चेष्टा में भी क्या लोभ है ?

असल में पाने योग्य क्या है ? जो पाने योग्य है, वह भीतर पहले से ही मिला हुआ है। उसका कोई लोभ नहीं किया जा सकता। और जो भी हम पाने योग्य मानते हैं, वह पाने योग्य नहीं होता। लोभ पहले आ जाता है, इसलिए पाने योग्य मालूम पड़ता है।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लें

हम कहते हैं—जो पाने योग्य है, उसके लोभ में क्या हर्ज है ! लेकिन वह पाने योग्य होता ही इसलिए है कि लोभ ने पकड़ लिया है। नहीं तो पाने योग्य नहीं होता।

जो चीज आपको पाने योग्य लगती है, वह आपके पड़ोसी को पाने योग्य नहीं लगती। पड़ोसी का लोभ कहीं और है, आपका लोभ कहीं और है—यही फर्क है।

कोई चीज अपने आप में पाने योग्य नहीं है। जिस दिन आपका लोभ उस चीज से जुड़ जाता है, वह पाने योग्य दिखाई पड़ने लगती है। जब तक उस चीज में लोभ नहीं जुड़ा था, तब तक वह पाने योग्य नहीं थी। पाने योग्य का मतलब ही यह है कि लोभ जुड़ गया। तब एक 'विसियस सर्कल' (दुष्ट-चक्र) पैदा हो जाता है। लोभ पहले जुड़ गया, इसलिए चीज पाने योग्य मालूम पड़ती है। और फिर हम कहते हैं कि जो पाने योग्य है, उसके लोभ में हर्ज क्या है! यह लोभ जो है, यह धोखा दे रहा है।

इसे दूसरे ढंग से समझें, तो आसान हो जायेगा।

हम कहते हैं, सुन्दर व्यक्ति पाने योग्य मालूम पड़ता है। लेकिन वह सुन्दर ही क्यों मालूम पड़ता है ? आप जब कहते हैं कि फलां व्यक्ति सुन्दर है, तो आप सोचते हैं, कि सौन्दर्य कोई गुण है, जो वहाँ व्यक्ति में मौजूद है। लेकिन मनसविद् कहते हैं, जिसको आप पाना चाहते हैं, वह आप को सुन्दर दिखाई पड़ने लगता है।

जो आज हमें सुन्दर दिखाई पड़ता है, जरूरी नहीं कि कल भी सुन्दर दिखाई पड़े। जो हमें सुन्दर दिखाई पड़ता है, वह हमारी मन की तरकीब है। हम कहते हैं : सुन्दर है, इसलिए हम पाना चाहते हैं। असलियत और है। हम पाना चाहते हैं, इसलिए वह सुन्दर दिखाई पड़ता है। हमारी चाह पहले है। और जहाँ हमारी चाह जुड़ जाती है, वहीं सौन्दर्य दिखाई पड़ने लगता है। जहाँ हमारा लोभ जुड़ जाता वही पाने योग्य मालूम पड़ने लगता है।

पाने योग्य क्या है ?

पाने योग्य केवल वही है, जो मिला ही हुआ है। जिसे पाने की कोई जरूरत ही नहीं है। जिसे पाने की जरूरत है, वह पाने योग्य ही नहीं है।

यह 'कन्ट्राडिक्टरी' मालूम पड़ेगा, विरोधी मालूम पड़ेगा कि जो पाने योग्य मालूम पड़ता है, वह पाने योग्य है ही नहीं।

क्योंकि वह पराया है, इसलिए उसे पाना पड़ेगा। और जिसे भी हम पा लेंगे, उसे छोड़ना पड़ेगा।

संसार का अर्थ इतना ही है कि कितना ही पाओ, उसे छोड़ना ही पड़ेगा। सिर्फ एक चीज मुझसे नहीं छीनी जा सकती, वह मेरा होना है। उसे मैंने कभी

पाया नहीं, वह मुझे मिला ही हुआ है—'ऑलरेडी गिवन'। जब भी मैंने जाना, वह मुझे मिला हुआ है। उसे मैंने कभी पाया नहीं, बाकी जो भी चीजें मैंने पा ली हैं, वह सब छीन जायेंगी।

जो पाया जाता है, वह छिन जाता है। क्योंकि वह हमारा नहीं है, इसीलिए तो पाना पड़ता है। एक दिन वह छिन जाता है, जो हमारा नहीं है। जो मेरा है, उसे मैंने कभी पाया नहीं। वह तो मैं ही हूँ।

धर्म की दृष्टि में पाने योग्य सिर्फ एक ही बात है। और वह है, स्वयं का स्वरूप। उसको हम आत्मा कहें, परमात्मा कहें, मोक्ष कहें—यह शब्दों का भेद है। बाकी कोई भी चीज पाने योग्य नहीं है।

लोभ दिखाता है कि यह पाने योग्य है। लोभ दिखा देता है, तो वासना दौड़ पड़ती है, सफलता मिल जाती है, तो मोह बन जाता है, असफलता मिल जाती है, तो क्रोध बन जाता है।

इसलिए लोभ अधर्म का मूल है।

अब सूत्र।

'सूर्योदय के पहले और सूर्यास्त के बाद श्रेयार्थी को सभी प्रकार के भोजन, पान आदि की मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिये'।

इस सम्बन्ध में थोड़ा विचारणीय है। क्योंकि महावीर को मानने वालों ने इस सूत्र को बुरी तरह से विकृत कर दिया है। जैनों की धारणा केवल इतनी ही रह गई है कि रात्रि में भोजन करने से हिंसा होती है, इसलिए नहीं करना चाहिए। तो यह बड़ा गौण हिस्सा है, यह मूल हिस्सा नहीं है। और अगर यही सच है, तो अब रात्रि भोजन करने में कोई अड़चन नहीं होनी चाहिये। क्योंकि महावीर के वक्त में न बिजली थी, न प्रकाश था—जो आज है। अगर महावीर ने इसीलिये कहा था (जैसे कि जैन-साधु समझाते रहते हैं।) कि रात्री में भोजन करने से हिंसा होती है, तो अब इस सूत्र की कोई सार्थकता नहीं है। अब तो बिजली का प्रकाश है, जो दिन से भी ज्यादा हो सकता है। अब तो इसमें कोई अड़चन नहीं है। अगर यही कारण है, तब तो यह परिस्थितिगत बात थी और अब इसका कोई मूल्य नहीं रह जाता है। लेकिन यही कारण नहीं है, पर इसका आन्तरिक मूल्य कायम रहेगा। उस मूल्य को हम समझें।

सूर्योदय के साथ ही जीवन फैलता है। सुबह होती है, तो सोये हुए पक्षी जग जाते हैं, सोए हुये पौधे जग जाते हैं, फूल खिलने लगते हैं, पक्षी गीत गाने लगते हैं, आकाश में उड़ान शुरू हो जाती है—सारा जीवन फैलने लगता है।

सूर्योदय का अर्थ सिर्फ सूरज का निकलना नहीं, जीवन का जागना, जीवन का फैलना भी है। सूर्यास्त का अर्थ है—जीवन का सिकुड़ना, विश्राम में लीन हो जाना।

दिन जागरण है, रात्रि निद्रा है। दिन फैलाव है, रात्रि विश्राम है। दिन श्रम है, रात्रि श्रम से वापस लौट आना है।

सूर्योदय की इस घटना को समझने से ख्याल में आयेगा कि रात्रि-भोजन के लिए महावीर का निषेध क्यों है।

भोजन है जीवन का फैलाव।

सूर्योदय के साथ भोजन की सार्थकता है, क्योंकि शक्ति की जरूरत है। लेकिन सूर्यास्त के बाद भोजन की जरा भी आवश्यकता नहीं है। सूर्यास्त के बाद किया गया भोजन बाधा बनता है—सिकुड़ाव में, विश्राम में; क्योंकि भोजन भी एक श्रम है।

आप भोजन ले लेते हैं, तो आप सोचते हैं कि काम समाप्त हो गया। इधर गले के नीचे भोजन गया और उधर आप समझे कि काम समाप्त हुआ। गले तक तो काम शुरू ही नहीं होता। गले के नीचे ही काम शुरू होता है।

भोजन लेने का अर्थ होता है—शरीर को भीतरी श्रम में लगा देना; अब शरीर का रोआँ-रोआँ भोजन को पचाने में लग जायेगा।

अगर आपकी निद्रा क्षीण हो गई है, रात विश्राम नहीं मिलता, नींद नहीं मालूम पड़ती, करवट ही करवट बदलनी पड़ती है, स्वप्न ही स्वप्न आते हैं, तो उसमें अस्सी प्रतिशत कारण शरीर को दिया गया काम है, जो कि रात में नहीं दिया जाना चाहिये और भोजन लेने का अर्थ है, शरीर को श्रम देना।

जब सूरज उगता है, तो 'ऑक्सीजन' की, प्राणवायु की मात्रा बढ़ती है। प्राणवायु जरूरी है श्रम करने के लिए। जब रात्रि आती है, तो सूर्य डूब जाता है और प्राणवायु का औसत गिर जाता है। 'कार्बन-डाई-ऑक्साइड' की, कार्बन द्वि औषद् की मात्रा बढ़ जाती है, जो कि विश्राम के लिए जरूरी है। 'आक्सीजन' जरूरी है भोजन को पचाने के लिए, कार्बन द्वि औषद् के साथ भोजन मुश्किल से पचेगा।

मनोवैज्ञानिक अब कहते हैं कि हमारे अधिकतर दुख-स्वप्नों का कारण हमारे पेट में पड़ा हुआ भोजन है। हमारी निद्रा की जो अस्त-व्यस्तता है, अराजकता है, इसका कारण पेट में पड़ा हुआ भोजन है। आपके सपने अधिक

मात्रा में आपके भोजन से पैदा हुए हैं। आपका पेट परेशान है, काम में लीन है। पूरा दिन चुक गया, काम का समय बीत गया और अब भी आपका पेट काम में लीन है।

हम बड़े अद्भुत लोग हैं! हमारा असली भोजन रात में ही होता है। दिन भर हम काम चला लेते हैं—असली भोजन, बड़ा भोजन, 'डिनर', वह हम रात में लेते हैं। इससे ज्यादा दुष्टता शरीर के साथ दूसरी नहीं हो सकती। इसलिए अगर महावीर ने रात्रि-भोजन को हिंसा कहा है, तो मैं कहता हूँ कीड़े-मकोड़ों के मरने के कारण नहीं, अपने साथ हिंसा करने के कारण कहा है। वह आत्म-हिंसा है, आप अपने शरीर के साथ दुर्व्यवहार कर रहे हैं।

भोजन की जरूरत है। सुबह सूर्य के उगने के साथ जीवन की आवश्यकता है, शक्ति की आवश्यकता है; क्योंकि श्रम होगा, इसलिए शक्ति चाहिये, विश्राम के लिए शक्ति नहीं चाहिए। पेट साँझ होते-होते मुक्त हो जाये भोजन से, तो रात्रि में निद्रा शान्त होगी, मौन होगी, गहरी होगी। निद्रा एक सुख होगा और सुबह आप ताजे उठेंगे। रात्रि भर भी आपके पेट को श्रम करना पड़े, तो सुबह आप थके-माँदे उठेंगे।

आपने ख्याल किया होगा कि जैसे ही पेट में भोजन पड़ जाता है, वैसे ही आपका मस्तिष्क ढीला हो जाता है! इसलिए भोजन के बाद नींद सताने लगती है। लगता है, लेट जाओ। लेट जाने का मतलब है कि कुछ मत करो अब। क्योंकि अब शरीर की सारी ऊर्जा भोजन को पचाने में लग जायेगी। मस्तिष्क बहुत दूर है पेट से। जैसे ही भोजन पेट में पड़ता है वैसे ही मस्तिष्क की सारी ऊर्जा भोजन को पचाने पेट में आ जाती है, आँख झपकने लगती है और नींद मालूम होने लगती है। इसलिए जिसने दिन को उपवास किया हो, उसे रात को नींद नहीं आती। क्योंकि सारी ऊर्जा मस्तिष्क की तरफ दौड़ती रहती है।

...जैसे ही आप पेट भर लेते हैं, तत्काल नींद मालूम होने लगती है। नींद इसलिए मालूम होने लगती है कि मस्तिष्क के पास जो ऊर्जा थी, वह पेट ने ले ली।

पेट स्थूल है। पेट पहली जरूरत है। मस्तिष्क विलास है, 'लक्ज़री' है। जब पेट के पास ज्यादा ऊर्जा होती है, तब वह मस्तिष्क को दे देता है; अन्यथा पेट में ही मस्तिष्क की ऊर्जा घूमती रहती है।

महावीर ने कहा है—दिन है श्रम और रात्रि है विश्राम। ध्यान भी विश्राम है। पूरी रात्रि विश्राम बन सकती है, अगर थोड़ा सा भोजन के साथ समझ

का उपयोग किया जाए। अगर रात्रि पेट में भोजन पड़ा हो, तो रात्रि ध्यान नहीं बन सकती, निद्रा ही रह जाएगी। निद्रा भी उखड़ी-उखड़ी, गहरी नहीं।

आदमी साठ साल तक जिये, तो बीस साल सोता है। बीस साल बड़ा लम्बा वक्त है। और हम सारे लोग यह कहते सुन पाये गये हैं कि कब करें ध्यान, समय नहीं है! महावीर कहते हैं यह बीस साल ध्यान में बदले जा सकते हैं। यह जो रात्रि की निद्रा है, (जब आप कुछ भी नहीं कर रहे हैं) उसे ध्यान में बदला जा सकता है।

ध्यान श्रम नहीं है। ध्यान विश्राम है। इसलिए ध्यान का नींद से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। और नींद ध्यान में रूपान्तरित हो जाती है। लेकिन नींद ध्यान में तभी रूपान्तरित हो सकती है, जब पेट ऊर्जा न माँग रहा हो—जब पेट माँग न कर रहा हो कि शक्ति मुझे चाहिए पचाने के लिए, जब पेट शान्त हो और ऊर्जा मस्तिष्क में हो। इस ऊर्जा को ध्यान में बदला जा सकता है। अगर इसको ध्यान में न बदला जाए, तो यह ऊर्जा नींद को तोड़ने वाली हो जाएगी, जैसे कि आम उपवास करने वालों में होती है। अगर ध्यान में बदल जाये यह ऊर्जा, तो नींद को बाधा नहीं देगी; नींद अपने तल पर चलती रहेगी और एक नया आयाम, एक नया 'डायमेन्शन' ऊर्जा का शुरू हो जाएगा—ध्यान।

कृष्ण ने कहा है कि योगी रात सोकर भी सोता नहीं है। महावीर ने भी कहा है कि शरीर ही सोता है, चेतना नहीं सोती। यह एक भीतरी कीमिया है। इस कीमिया के तीन हिस्से हैं। अगर ऊर्जा पेट में जाये, तो मस्तिष्क में नहीं जाती—पहली बात। अगर ऊर्जा मस्तिष्क में जाए और ध्यान न बनाई जाए, तो नींद असम्भव हो जाएगी—दूसरी बात और तीसरी बात ऊर्जा पेट में न जाये, मस्तिष्क में जाये और मस्तिष्क में ध्यान की यात्रा पर निकल जाये, तो मस्तिष्क सो सकेगा और ऊर्जा ध्यान बन जाएगी।

योगी रात में सोता नहीं, इसका यह मतलब नहीं कि योगी का शरीर नहीं सोता। शरीर भली भाँति सोता है, आपसे ज्यादा अच्छी तरह सोता है। शायद योगी ही इस अर्थ में ठीक से सोता है। लेकिन फिर भी नहीं सोता, भीतर कोई जागता रहता है। वह जो ऊर्जा पेट के काम नहीं आ रही है, वह जो ऊर्जा मस्तिष्क के काम नहीं आ रही है, वही ऊर्जा बूंद-बूंद ध्यान में टपकती रहती है, और भीतर एक जागरण की ज्योति जलनी शुरू हो जाती है।

रात्रि से ज्यादा सम्यक्-अवसर ध्यान के लिए दूसरा नहीं है। इसलिए महावीर ने कहा है कि रात्रि भोजन उचित नहीं है।

जैन-साधुओं की बातें वहुत वचकानी लगती हैं। उनकी बातें सुनकर ऐसा लगता है कि 'एब्सर्ड' है, उनका दिमाग खराब है। 'रात्रि-भोजन नहीं करना'— इसे ऐसा नियम बना लिया है, जैसे इसके बिना मोक्ष न हो सकेगा। उनकी बात बड़ी टुच्ची मालूम पड़ती है—कहाँ मोक्ष और कहाँ रात्रि-भोजन ! रात्रि भोजन छोड़ दिया, तो मुक्ति हो गई ! इतना सस्ता है मोक्ष ?

बीच के सूत्र खो गए हैं, जिनकी वजह से अड़चन है। बीच की सीढ़ियाँ खो गई हैं। वह सीढ़ी है—ध्यान के लिए रात्रि का सबसे ज्यादा सम्यक्-अवसर होना।

सूर्य के डूबते ही समस्त अस्तित्व विश्राम में चला जाता है। सूर्य डूबने के साथ हमें भी विश्राम में चले जाना चाहिए। हमें सूरज के साथ यात्रा करनी चाहिए। शरीर भी विश्राम में जाना चाहिए और मन भी विश्राम में जाना चाहिए।

मन के विश्राम का नाम ध्यान है और शरीर के विश्राम का नाम निद्रा है। आप का मन अगर विश्राम में नहीं जाता, तो आप ध्यान में नहीं जा सकते। लेकिन जिनका शरीर ही विश्राम में नहीं जाता, उनका मन कैसे विश्राम में जा सकेगा।

महावीर ने कहा—'रात्रि-भोजन बिलकुल नहीं'। इसका रात्रि से सम्बन्ध नहीं है, इसका आप से सम्बन्ध है, ध्यान से सम्बन्ध है।

जैनी कहते हैं कि रात्रि-भोजन बिलकुल नहीं, इसलिए वे शाम को ठूँस-ठूँस कर खा लेते हैं। देखते जाते हैं कि सूरज तो नहीं डूब रहा और खाते भी जाते हैं।

एक घर में मैं ठहरा हुआ था। जो मेरे अतिथेय थे वे मेरे साथ खाना खाने बैठे। कमरे में भीतर अँधेरा उतरने लगा, तो उन्होंने जल्दी से अपनी थाली ली और कहा कि मैं बाहर जाकर भोजन करता हूँ। मैंने पूछा कि क्या हुआ ! तो उन्होंने कहा कि अभी जरा रोशनी है। कमरे से बाहर उन्होंने जल्दी-जल्दी भोजन कर लिया।

बड़े मजे की बात है कि कभी-कभी हम सूत्रों का पालन करने में, सूत्रों का जो मूल है, उसकी हत्या कर देते हैं। जिस आदमी ने जल्दी-जल्दी भोजन किया है, उसकी रात बड़ी बेचैन गुजरेगी। क्योंकि जल्दी-जल्दी भोजन करने का मतलब है कि भोजन कचरे की तरह पेट में डाल दिया गया—बिना चबाए।

अब पेट को ज्यादा अड़चन होगी भोजन पचाने में। इससे तो बेहतर था अँधेरे में बैठ कर ठीक से चबा लिया होता; क्योंकि पेट के पास दाँत नहीं हैं, दाँत का काम मुँह में ही हो सकता है। फिर पेट को इसे पचाने में अथक कष्ट झेलना पड़ेगा और रात्रि और मुश्किल हो जाएगी।

समझ हाथ में न हो और सूत्र हो, तो ऐसे ही अन्धापन पैदा होता है। फिर चूँकि रात भर भोजन नहीं करना है, इसलिए खूब कर लेना है! रात पानी नहीं पीना है, इसलिए सूरज डूबते-डूबते खूब पानी पी लेना है! यह हत्या हो गई मूल सूत्र की। लेकिन यह होगी। क्योंकि हमारा कुल ख्याल इतना है कि रात्रि-भोजन छूट गया, तो सब कुछ मिल गया। उसके पीछे के पूरे विज्ञान का कोई बोध नहीं है।

रात्रि-भोजन जिसे छोड़ना हो, उसे पूरी जीवन-चर्या बदलनी पड़ेगी। इतना आसान नहीं है रात्रि-भोजन को छोड़ देना। रात्रि-भोजन तो कोई भी छोड़ सकता है, लेकिन पूरी जीवन-चर्या बदलनी पड़ेगी।

महावीर ने तो साधक के लिए एक बार भोजन को कहा है। क्योंकि एक बार भोजन लिया गया हो, तो उसके पचने में छः से आठ घण्टे लगते हैं। दोपहर में अगर भोजन ले लिया हो, तो ही रात्रि-भोजन से बचा जा सकता है; नहीं तो नहीं बचा जा सकता। इसका मतलब यह हुआ कि ग्यारह बजे जो भोजन लिया है, वह साँझ सूरज के डूबते-डूबते पच जाएगा, पेट में नहीं रह जाएगा, पचाने की कोई क्रिया जारी नहीं रहेगी और रात को आसानी से सोया जा सकेगा। और अगर, सिर्फ इतनी ही मान्यता है, तो रात में नींद मुश्किल हो जाएगी; और जब नींद मुश्किल होगी, तो भोजन के बाबत ही चिन्तन चलेगा।

जो उपवास करता है, वह रात भर भोजन करता है। भोजन का मजा लेना हो, तो उपवास करना चाहिए। फिर ऐसा रस भोजन में आता है, जैसा कभी आया ही नहीं। ऐसी-ऐसी चीजें याद आती हैं, जो कई जमाने हुए भूल गई थीं। मन बड़ा ताजा हो जाता है। जब व्रत चलते हैं, तो कई लोगों का मन भोजन के प्रति बड़ा ताजा हो जाता है। आठ-दस दिन के बाद जब व्रत छूटेंगे, तब वे जेलखाने से छूटे हुए कैदियों की भाँति अपने चौकों में प्रवेश कर जाएँगे। योजना अभी से तैयार हो रही है उनके मन में कि क्या-क्या करना है।

महावीर आदमी को भोजन से छुड़ाना चाहते हैं। जैनों को जितना भोजन से वँधा मैं देखता हूँ, किसी और को नहीं देखता। सूत्र की हत्या हो जाती है, समझ की कमी से।

भोजन महत्वपूर्ण नहीं है और न रात्रि महत्वपूर्ण है। महत्वपूर्ण है—शरीर की ऊर्जा का सन्तुलन; शरीर की ऊर्जा का रूपान्तरण—वह 'अल्केमी,' वह कीमिया।

महावीर निश्चित ही मनुष्य के शरीर में गहरे उतरे हैं। कम लोग इतने गहरे गये हैं। उन्होंने ठीक जड़ पकड़ ली है कि कहाँ से जड़ें शुरू होती हैं। शरीर का काम शुरू हो जाता है भोजन से, और शरीर चाहता है कि भोजन के पास रुके रहो; क्योंकि शरीर का काम भोजन से पूरा हो जाता है। उसकी और कोई जरूरत नहीं है।

भोजन से जो ऊपर न उठ सके, वह शरीर से भी ऊपर न उठ सकेगा। शरीर अर्थात् भोजन। आपका शरीर है क्या? भोजन का संग्रह है। आपने जो भोजन किया—उसका, आपकी माँ ने, आपके पिता ने, जो भोजन किया—उसका, उनके माता पिता ने भोजन किया—उसका, आपका शरीर जो है, वह भोजन का एक लम्बा सार-निचोड़ है। इसलिए भोजन के प्रति इतना आकर्षण स्वाभाविक है; क्योंकि वह हमारे शरीर का मूल आधार है, उससे ही शरीर चल रहा है। अब सवाल यह है कि हमें शरीर को ही अगर चलाते रहना है, भोजन को ही अगर करते और निकालते रहना है, सिर्फ यही काम करते रहना है, तो हम शरीर के ऊपर कभी न उठ सकेंगे।

यूनान में लोग भोजन के टेबल पर, जैसे आप सींकें रखते हैं, दाँत साफ करने के लिए, वैसे वे पक्षियों के पंख रखते थे। भोजन कर लिया फिर गले में पंख फिराया और 'वोमिट' कर दी और फिर भोजन कर लिया। मेहमान को अगर आपने दो-चार दफे उल्टी न करवायी, तो आपने ठीक स्वागत नहीं किया। मेहमान के लिए वे पक्षी का बड़ा पंख रखते थे और दो आदमी पास खड़े रहते थे; जल्दी से मेहमान का भोजन उगलवाने के लिए। जब वह कहता कि बस, अब और नहीं, तो जल्दी से वे बरतन ले आयेंगे और पंख चला देंगे उसके गले में और उसे 'वोमिट' करवा देंगे।

सम्राट नीरो ने दो डॉक्टर रख छोड़े थे, जो दिन में उसे आठ दफा उल्टियां करवाते थे, ताकि वह और भोजन कर सके। मगर आप क्या कह रहे

हैं ? आप न पंखा चला रहे हैं गले में और न आपने डॉक्टर रख छोड़े हैं, लेकिन आप भी वही कर रहे हैं कि डालो-निकालो, डालो-निकालो।

आप सिर्फ एक यन्त्र हैं, जिसमें भोजन डाला और निकाला जाता है। एक वृत्त है—जब निकल जाये, तो फिर डाल लो; जब डल जाये, तो फिर निकलने की प्रतिक्षा करो।

आप जिन्दगी भर भोजन डालने और निकालने का एक क्रम हैं। यही है जीवन। अगर इस ऊर्जा में से कुछ ऊर्जा मुक्त नहीं होती और ऊपर नहीं जाती, तो आपको शरीर के अतिरिक्त किसी चीज का कभी अनुभव नहीं होगा।

महावीर भोजन के शत्रु नहीं हैं, भोजन के दुश्मन नहीं हैं, जैसे कि उनके साधु हो गये हैं।

केवल भोजन ही जीवन नहीं है। भोजन के पार जीवन का विस्तार भी है—महावीर इसके उद्‌घाटक हैं।

रात्रि-भोजन न करने पर महावीर का बहुत आग्रह है। यह आग्रह इस बात की सूचना है कि यह मामला सिर्फ भोजन का नहीं है, यह मामला किसी भीतरी गहरी क्रान्ति का मामला है।

'सूर्योदय के पहले और सूर्योदय के बाद श्रेयार्थी को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिये।'

यह भी जोड़ा है साथ में कि 'मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिए।' भोजन आपने किया या नहीं किया, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना यह कि मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिये। मैं तो कहूँगा कि अगर कर लेने से मन की इच्छा मिटती हो, तो करना बेहतर है। अगर न करने से मन की इच्छा बढ़ती हो, तो खतरनाक है। अगर थोड़ा सा भोजन पेट में डालने से रात भर भोजन करने की मन की वासना क्षीण होती हो, तो बेहतर है—बजाय उपवासे रहने के। रात भर मन भोजन के आस पास घूमे, वह ज्यादा खतरनाक है।

महावीर कहते हैं कि रात्रि-भोजन तो करना ही नहीं है, रात्रि मन में वासना भी न उठे भोजन की, यह कैसे होगा ? यह हमें मुश्किल मालूम पड़ता है।

भोजन न करें, यह कोई बड़ी कठिन बात नहीं है। उपवास कोई भी कर सकता है। थोड़ा जिद्दी स्वभाव हो, तो और आसान मामला है।

अभी पर्युषण चलता है, तो जो बच्चे जिद्दी हैं, वे भी उपवास कर लेंगे। उनके माँ-बाप समझते हैं कि उनका बच्चा बड़ा धार्मिक है। पर यह बच्चा धार्मिक नहीं है। यह बच्चा उपद्रवी है और पीछे सतायेगा। यह बच्चा जिद्दी है, बहुत अहंकारी है और देखता है कि बड़े उपवास कर रहे हैं, तो सोचता है हम भी करके दिखा दें। और उसे जितना समझाते हैं कि मत करो बेटे—तुम अभी छोटे हो, बड़े होकर करना—उतना ही उसका अहंकार मजबूत होता है कि अच्छा! अगर छोटे हैं, तो करके दिखा देते हैं।

यह बच्चा आज नहीं कल उपद्रवी सिद्ध होने वाला है। जरूरी नहीं है कि साधु हो जाये, तो उपद्रवी नहीं होगा। अधिकतर साधु तो उपद्रवी होते ही हैं। उपद्रव का मतलब ही इतना है कि अहंकार से रस मिलना शुरू हो गया।

आप भी थोड़े अहंकारी हों, तो बराबर भोजन छोड़ सकते हैं। भोजन छोड़ने में क्या अड़चन है! लेकिन मन की वासना कैसे छूटेगी? वह जो मन रात को दौड़ेगा भोजन की तरफ, उसका क्या करियेगा? उसको कैसे रोकियेगा? उसे रोका नहीं जा सकता।

जब तक आप मन की ऊर्जा को नई दिशा में प्रवाहित न कर दें, तब तक वह उन्हीं दिशाओं में दौड़ेगा जिन दिशाओं में दौड़ने की उसकी आदत है। पेट कहेगा भूख लगी है, तो मन पेट की तरफ दौड़ेगा। गला कहेगा कि प्यास लगी है, तो मन गले की तरफ दौड़ेगा। मन का काम ही यही है कि शरीर में कहाँ क्या हो रहा है, इससे आपको सूचित रखे।

एक ही उपाय है कि मन किसी और आयाम में नियोजित हो जाये कि उसे पता ही न चले कि पेट को भूख लगी है या गले को प्यास लगी है, तो इसका नाम ही ध्यान है। शरीर को मन भूल जाये, तो फिर उसे भूख-प्यास का पता नहीं चलता।

घर में आग लग गई हो, तो फिर आपको पता ही नहीं चलता कि भूख लगी है। अभी आप बिलकुल सुस्त होकर बैठे थे कि कदम उठाये नहीं उठता था और जब घर में आग लग गई है, तो आप ऐसे दौड़ रहे हैं, जैसे कि गलती हो गई कि आपको ओलम्पिक क्यों न भेजा गया! सारी ताकत लगा दी है आपने। मिल्खासिंह अब आपसे जीत नहीं सकता दौड़ में!

मैंने सुना है मिल्खासिंह के सम्बन्ध में कि एक रात उसके घर में चोर घुसे। विश्व-विजेता दौड़ाक था—मिल्खासिंह और उसके घर में चोर घुसे,

तो वह जोश में आ गया और चोरों के पीछे भागा। पुलिस स्टेशन पहुँच गया। जाकर इन्सपेक्टर से पूछा कि चोर कहाँ हैं, मैं उनके ठीक पीछे था !

चोर तो वहां कोई थे नहीं, इन्सपेक्टर ने कहा : 'कहाँ के चोर, आप अकेले दौड़े चले आ रहे हैं !'

मिल्खा सिंह ने कहा कि गलती हो गई, 'आइ मस्ट हैव ओवर टेकेन थेम ।' रास्ते में मैं भूल गया कि मैं चोरों का पीछा कर रहा हूँ, मैं समझा कि दौड़ चल रही है।

आपका मस्तिष्क अगर नियोजित हो जाये तो, फिर सब भूल जाता है। चित्त एकाग्र हो जाये कहीं भी, तो शेष सब विस्मृत हो जाता है। क्योंकि स्मरण के लिए चित्त का संस्पर्श जरूरी है। पैर में दर्द हो रहा है, लेकिन चित्त पैर तक जाये तो ही पता चलता है। पेट में भूख लगी है लेकिन चित्त पेट तक जाये, तो ही पता चलता है। पेट को कभी पता नहीं चलता भूख लगने का। पता तो चित्त को ही चलता है। लेकिन चित्त पेट तक जाये, तो ही पता चलता है। अगर चित्त और कहीं चला जाये, तो फिर पेट तक नहीं जा सकता।

…घर में आग लगी है, तो चित्त वहाँ चला गया। एक धारा में चित्त वह जाये, तो शेष सारा जगत् अनुपस्थित हो जाता है।

काशी के नरेश के पेट का 'ऑपरेशन' होना था, तो उन्होंने कहा कि मैं बेहोशी की कोई दवा नहीं लूंगा। डॉक्टरों ने कहा—'लेकिन ऑपरेशन होगा कैसे ? बेहोश तो करना ही पड़ेगा।' तो नरेश ने कहा : 'मुझे बेहोश करने की कोई जरूरत नहीं है, बस मुझे गीता पढ़ने दी जाये। मैं गीता पढ़ता रहूँगा और तुम पेट का ऑपरेशन कर डालना।'

डॉक्टर बड़े चिन्तित हुए कि बड़ा असम्भव मामला दिखता है—कैसे गीता पढ़ने में चित्त इतना एकाग्र हो पायेगा ? अगर ऑपरेशन नहीं करते हैं, तो नरेश मरेगा। अगर करते हैं, तो बचने की एक सम्भावना भी है !

कोई उपाय नहीं था इसलिए ऑपरेशन किया गया। काशी नरेश गीता पढ़ते रहे और उनके पेट का ऑपरेशन किया गया। यह पहला बड़ा ऑपरेशन था, जो बिना किसी अनेस्थेसिया के, बिना किसी बेहोशी की दवा से किया गया। डॉक्टर तो चकित हो गये। उन्होंने कहा कि यह तो चमत्कार है। नरेश ने कहा—कोई भी चमत्कार नहीं है; क्योंकि पेट तक मेरी चेतना का जाना जरूरी है, तभी तो मुझे पता चलेगा कि वहाँ दर्द हो रहा है। जब मेरी चेतना गीता की तरफ जा रही है, तो फिर दर्द का पता नहीं चलता।

ध्यान की तरफ जाये बिना रात्रि-भोजन से बचने का कोई अर्थ नहीं है। तब उपवास का भी कोई अर्थ नहीं हैं। अनशन उपवास नहीं है। उपवास शब्द का अर्थ होता है : आत्मा के निकट होना। आत्मा के पास होने का अर्थ ही ध्यान है। जो ध्यान नहीं कर सकता, वह उपवास भी नहीं कर सकता।

इसलिए मैं नहीं कहता कि उपवास की फिक्र करो। पहले ध्यान की फिक्र करो। ध्यान जिसे आता है, उसका अनशन उपवास बन जाता है। जिसे ध्यान नहीं आता, उसका उपवास सिर्फ भूख-हड़ताल है—अपने ही खिलाफ, उससे कोई आनन्द उत्पन्न होने वाला नहीं है। इसलिए महावीर ने इतना जोर दिया है।

क्या करें ? कैसे मन ध्यान बन जाये ? कहाँ मन को ले जायें ?

मन को धीरे-धीरे शरीर से हटाने का अभ्यास करना पड़ता है। कभी प्रयोग करें तो ख्याल में आना शुरू हो जायेगा।

खड़े हैं, तो आँख बन्द कर लें और बाएँ पैर के अंगूठे तक मन को जाने दें। दाएँ पैर को बिलकुल भूल जायें। सारी चेतना बाएँ पैर में घूमने लगेगी। जब बाएँ पैर में चेतना घूमने लगे तो फिर हटा लें वहाँ से और चेतना को दाएँ पैर में ले जाएँ। फिर बाएँ पैर को बिलकुल भूल जाएँ और दाएँ पैर में चेतना को घूमने दें।

यह कठिन नहीं है। इसे हर अंग पर बदलें, तो आपको फौरन एक बात का पता चल जायेगा कि चेतना भी एक प्रवाह है आपके भीतर; और जहाँ आप ले जाना चाहते हैं इसे, वहाँ जा सकता है; और जहाँ से आप हटाना चाहते हैं, वहाँ से हट सकता है। कभी आपने इसका अभ्यास नहीं किया। इसलिए आप के ख्याल में नहीं है।

आपका शरीर जहाँ चाहता है, आपकी चेतना वहाँ चली जाती है। आप जहाँ चाहते हैं, वहाँ नहीं जाती। क्योंकि आपने उसका कभी कोई अभ्यास नहीं किया। भूख लगती है, तो चेतना तत्काल पेट में चली जाती है। वह आप से आज्ञा नहीं लेती कि पेट की तरफ जाऊँ या नहीं। वह चली जाती है, आप कुछ कर नहीं पाते। क्योंकि आपने कभी यह सोचा ही नहीं अब तक कि चेतना का प्रवाह, मेरी 'इन्टेन्शन,' मेरी अभीप्सा पर निर्भर है। इसका कभी कोई प्रयोग करें।

रात बिस्तर पर पड़े हैं, सारी चेतना को पैर के अंगूठे पर ले जाएँ। सब भूल जाएँ, सिर्फ अंगूठा रह जाए। ले जाएँ भीतर...भीतर...भीतर...जैसे

आपकी आत्मा अंगूठे में ठहर गई। बहुत लाभ होगा इससे और नींद भी तत्काल आ जाएगी। क्योंकि मस्तिष्क से अंगूठा बहुत दूर है। जब सारी चेतना वहाँ पहुँच जाएगी, तो मस्तिष्क खाली हो जाएगा। आप एकदम गहरी नींद में गिर जाएँ।

चेतना को थोड़ा हटाना सीखें। आँखें बन्द कर लें। कहीं भी एक बिन्दु पर चेतना को थिर करने की कोशिश करें। तो जिस बिन्दु पर आप चेतना को ले जाएँगे, वहीं प्रकाश पैदा हो जाएगा।

आँख बन्द कर लें और सोचें कि सारी चेतना हृदय पर आ गई है। 'इन्टेन्शनली,' अभिप्राय से सारी चेतना को हृदय पर ले आएँ, तो आप अचानक पाएँगे कि हृदय के पास धीमा सा प्रकाश होना शुरू हो गया है।

चेतना को बदलने के ये प्रयोग करते रहें। कभी भी कर सकते हैं, इसमें कोई अड़चन नहीं है। कुर्सी पर खाली बैठे हैं, ट्रेन में, बस में, कार में—कहीं भी कर सकते हैं। कहीं कोई अलग समय निकालने की जरूरत नहीं है। धीरे-धीरे आपको लगेगा कि आपकी मास्टरी हो गई। मास्टरी वैसे ही, जैसे कोई कार की 'ड्राइविंग' का मास्टर होता है। ऐसे ही चेतना की 'ड्राइविंग' भी सीखनी पड़ती है।

एक आदमी साइकिल चलाना सीखता है। आप भी साइकिल चलाना जानते हैं। लेकिन अब कोई बता नहीं सका कि साइकिल कैसे चलाई जाती है! चलाकर बता सकते हैं आप, लेकिन कैसे चलाई जाती है? क्या है ट्रिक? क्या है सीक्रेट? यह अभी तक कोई बता नहीं सका।

सीक्रेट सूक्ष्म है, अभ्यास से आ जाता है, लेकिन ख्याल में नहीं है। साइकिल चलाना एक बड़ी दुर्लभ घटना है। क्योंकि पूरे समय 'ग्रेविटेशन' आपको गिराने की कोशिश कर रहा है। जमीन आपको पटकने की कोशिश कर रही है। दो चक्कों पर सीधे आप खड़े हैं, लेकिन प्रतिपल गति आप इतनी रख रहे हैं कि इसके पहले कि आपको इस जमीन का 'ग्रेविटेशन' गिराए, आप आगे हट जाते हैं। इसके पहले कि वहाँ का गुरुत्वाकर्षण आपको पटके, आप आगे हट जाते हैं। गति और गुरुत्वाकर्षण के बीच में आप एक सन्तुलन बनाए हुए हैं। इसके पहले कि बाएँ तरफ का गुरुत्वाकर्षण आपको गिराए, आप दाएँ झुक गए। इसके पहले कि दाएँ गिरें, बाएँ झुक गए। एक गहन संतुलन साइकिल पर चल रहा है।

ध्यान की तरफ जाये बिना रात्रि-भोजन से बचने का कोई अर्थ नहीं है। तब उपवास का भी कोई अर्थ नहीं हैं। अनशन उपवास नहीं है। उपवास शब्द का अर्थ होता है : आत्मा के निकट होना। आत्मा के पास होने का अर्थ ही ध्यान है। जो ध्यान नहीं कर सकता, वह उपवास भी नहीं कर सकता।

इसलिए मैं नहीं कहता कि उपवास की फिक्र करो। पहले ध्यान की फिक्र करो। ध्यान जिसे आता है, उसका अनशन उपवास बन जाता है। जिसे ध्यान नहीं आता, उसका उपवास सिर्फ भूख-हड़ताल है—अपने ही खिलाफ, उससे कोई आनन्द उत्पन्न होने वाला नहीं है। इसलिए महावीर ने इतना जोर दिया है।

क्या करें? कैसे मन ध्यान बन जाये? कहाँ मन को ले जायें?

मन को धीरे-धीरे शरीर से हटाने का अभ्यास करना पड़ता है। कभी प्रयोग करें तो ख्याल में आना शुरू हो जायेगा।

खड़े हैं, तो आँख बन्द कर लें और बाएँ पैर के अंगूठे तक मन को जाने दें। दाएँ पैर को बिलकुल भूल जायें। सारी चेतना बाएँ पैर में घूमने लगेगी। जब बाएँ पैर में चेतना घूमने लगे तो फिर हटा लें वहाँ से और चेतना को दाएँ पैर में ले जाएँ। फिर बाएँ पैर को बिलकुल भूल जाएँ और दाएँ पैर में चेतना को घूमने दें।

यह कठिन नहीं है। इसे हर अंग पर बदलें, तो आपको फौरन एक बात का पता चल जायेगा कि चेतना भी एक प्रवाह है आपके भीतर; और जहाँ आप ले जाना चाहते हैं इसे, वहाँ जा सकता है; और जहाँ से आप हटाना चाहते हैं, वहाँ से हट सकता है। कभी आपने इसका अभ्यास नहीं किया। इसलिए आप के ख्याल में नहीं है।

आपका शरीर जहाँ चाहता है, आपकी चेतना वहाँ चली जाती है। आप जहाँ चाहते हैं, वहाँ नहीं जाती। क्योंकि आपने उसका कभी कोई अभ्यास नहीं किया। भूख लगती है, तो चेतना तत्काल पेट में चली जाती है। वह आप से आज्ञा नहीं लेती कि पेट की तरफ जाऊँ या नहीं। वह चली जाती है, आप कुछ कर नहीं पाते। क्योंकि आपने कभी यह सोचा ही नहीं अब तक कि चेतना का प्रवाह, मेरी 'इन्टेन्शन,' मेरी अभीप्सा पर निर्भर है। इसका कभी कोई प्रयोग करें।

रात बिस्तर पर पड़े हैं, सारी चेतना को पैर के अंगूठे पर ले जाएँ। सब भूल जाएँ, सिर्फ अंगूठा रह जाए। ले जाएँ भीतर···भीतर···भीतर···जैसे

आपकी आत्मा अंगूठे में ठहर गई। बहुत लाभ होगा इससे और नींद भी तत्काल आ जाएगी। क्योंकि मस्तिष्क से अंगूठा बहुत दूर है। जब सारी चेतना वहाँ पहुँच जाएगी, तो मस्तिष्क खाली हो जाएगा। आप एकदम गहरी नींद में गिर जाएँ।

चेतना को थोड़ा हटाना सीखें। आँखें बन्द कर लें। कहीं भी एक बिन्दु पर चेतना को थिर करने की कोशिश करें। तो जिस बिन्दु पर आप चेतना को ले जाएँगे, वहीं प्रकाश पैदा हो जाएगा।

आँख बन्द कर लें और सोचें कि सारी चेतना हृदय पर आ गई है। 'इन्टेन्शनली,' अभिप्राय से सारी चेतना को हृदय पर ले आएँ, तो आप अचानक पाएँगे कि हृदय के पास धीमा सा प्रकाश होना शुरू हो गया है।

चेतना को बदलने के ये प्रयोग करते रहें। कभी भी कर सकते हैं, इसमें कोई अड़चन नहीं है। कुर्सी पर खाली बैठे हैं, ट्रेन में, बस में, कार में—कहीं भी कर सकते हैं। कहीं कोई अलग समय निकालने की जरूरत नहीं है। धीरे-धीरे आपको लगेगा कि आपकी मास्टरी हो गई। मास्टरी वैसे ही, जैसे कोई कार की 'ड्राइविंग' का मास्टर होता है। ऐसे ही चेतना की 'ड्राईविंग' भी सीखनी पड़ती है।

एक आदमी साइकिल चलाना सीखता है। आप भी साइकिल चलाना जानते हैं। लेकिन अब कोई बता नहीं सका कि साइकिल कैसे चलाई जाती है! चलाकर बता सकते हैं आप, लेकिन कैसे चलाई जाती है? क्या है ट्रिक? क्या है सीक्रेट? यह अभी तक कोई बता नहीं सका।

सीक्रेट सूक्ष्म है, अभ्यास से आ जाता है, लेकिन ख्याल में नहीं है। साइकिल चलाना एक बड़ी दुर्लभ घटना है। क्योंकि पूरे समय 'ग्रेविटेशन' आपको गिराने की कोशिश कर रहा है। जमीन आपको पटकने की कोशिश कर रही है। दो चक्कों पर सीधे आप खड़े हैं, लेकिन प्रतिपल गति आप इतनी रख रहे हैं कि इसके पहले कि आपको इस जमीन का 'ग्रेविटेशन' गिराए, आप आगे हट जाते हैं। इसके पहले कि वहाँ का गुरुत्वाकर्षण आपको पटके, आप आगे हट जाते हैं। गति और गुरुत्वाकर्षण के बीच में आप एक सन्तुलन बनाए हुए हैं। इसके पहले कि बाएँ तरफ का गुरुत्वाकर्षण आपको गिराए, आप दाएँ झुक गए। इसके पहले कि दाएँ गिरें, बाएँ झुक गए। एक गहन संतुलन साइकिल पर चल रहा है।

पहली दफे आप साइकिल क्यों नहीं चला पाते ? बिठा दिया आपको और धक्का दे दिया, चला लें ! क्योंकि दुबारा भी कुछ ज्यादा नहीं करेंगे, आप अभी से ही कर सकते हैं—यहीं । अभी भय है । और पता नहीं कि क्या होगा ! उस भय के कारण आप गिर जाते हैं । दो चार दफा गिरकर, दो चार दफा धक्के खा कर अकल आ जाती है । आप साइकिल चलाने लगते हैं ।

चेतना एक भीतरी नियन्त्रण है, एक सन्तुलन है । अपने शरीर में चेतना को गतिमान करना सीखें । तीन महीने के निरन्तर अभ्यास से आप समर्थ हो जाएँगे कि जहाँ चाहे चेतना को ले जाएँ । फिर अगर आपके बाएँ हाथ में दर्द हो रहा है, तो आप चेतना को दाएँ हाथ में ले जाएँ, दर्द विलीन हो जाएगा । आपके पैर में काँटा गड़ गया है, आप चेतना को पैर से हटा लें, तो भीतर काँटा विलीन हो जाएगा ।

जिस दिन आपको यह समझ आ जाए, उसी दिन अनशन उपवास बन सकता है, उसके पहले नहीं । उसके पहले भूखे मरते रहें, उससे कुछ होनेवाला नहीं है । खुद को सताने में भले ही कुछ मजा आए । या कोई जुलूस-यात्रा वगैरह आपकी निकाल दें, तो बात अलग ।

नासमझ मिल जाते हैं, शोभा-यात्रा निकालने वाले । उसका कारण है कि ये सब म्युचुअल मामले हैं । कल जब वे नासमझी करेंगे, तब आप उनकी यात्रा में सम्मिलित हो जाना । आदमी इसलिए यात्राओं में सम्मिलित हो जाता है ताकि कल जब उसकी शोभा-यात्रा निकलेगी तब दूसरे सम्मिलित हों ।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन अपनी पत्नी से कह रहा था कि नहीं, आज मैं जाऊँगा ही नहीं । मुल्ला नसरुद्दीन के मित्र की पत्नी मर गई है, तो नसरुद्दीन कहता है कि आज मैं नहीं जाऊँगा, तो उसकी पत्नी कहती है—क्या आप पागल हो गये हैं ! जाना ही पड़ेगा ।

नसरुद्दीन ने कहा कि तीन दफे मौका दे चुका है मुझे, तीन पत्नियाँ मर चुकी है उसकी । मैंने उसे अब तक एक भी अवसर नहीं दिया है । ऐसे बड़ी हीनता मालूम पड़ती है । हमने अब तक कोई मौका ही नहीं दिया और वह है कि दिये चला जा रहा है ।

पारस्परिक म्युचुअल है सब लेन-देन का हिसाब है । यहां सब लेन-देन का हिसाब है । यहां सारा खेल लेन-देन पर टिका हुआ है ।

तो नासमझ आपको मिल जाएँगे आपके जुलूस में जाने को । क्योंकि वह भी आशा लगाए बैठे हैं कि कभी न कभी आप भी उनके जुलूस में जाएँगे ।

शायद इस प्रकार कुछ रस आ जाए, तो बात अलग, लेकिन आपका अनशन ही रहेगा, उपवास नहीं बन सकता। उपवास तो एक भीतरी विज्ञान है। इस विज्ञान का पहला सूत्र है—चेतना को शरीर के अन्य अंगों में प्रवाहित करने की क्षमता—सचेतन, स्वेच्छा से। जब यह क्षमता आ जाती है तो फिर चेतना को शरीर के बाहर ले जाने की दूसरी प्रक्रिया है। जब शरीर के बाहर चेतना जाने लगती है, तभी भूख-प्यास, दुख-पीड़ा का कोई पता नहीं चलता।

महावीर कहते हैं—'हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से जो जीव विरक्त रहता है, वह निराश्रव अर्थात् निर्दोष हो जाता है।'

निराश्रव महावीर का अपना शब्द है और बड़ा कीमती है। आश्रव महावीर कहते हैं उन द्वारों को जिनसे हमारे भीतर बाहर से चीजें आती हैं। आश्रव अर्थात् आना, निराश्रव अर्थात् बाहर से हमारे भीतर कुछ भी नहीं आता। अब हम अपने में आप्त-काम हैं, अब हम अपने में पूरे हैं। अब कोई माँग न रही बाहर। अब सारा संसार इस क्षण बिल्कुल खो जाये, तो ऐसा ही लगेगा, जैसे एक स्वप्न समाप्त हुआ। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, इससे कोई भेद नहीं पड़ेगा।

निराश्रव का अर्थ है कि बाहर से आने का जो भी यात्रा पथ था, वह समाप्त हो गया। किसी यात्री को हम भीतर नहीं बुलाते। अब हमारे भीतर कोई भी नहीं आता—न धन, न प्रेम, न घृणा, न क्रोध—अब कुछ भी भीतर हम नहीं आने देते। न मित्र, न शत्रु—अब कोई हमारे भीतर प्रवेश नहीं करता। अब हम अपने में पूरे हैं लेकिन हम तो आश्रव में ही जीते हैं! पूरे वक्त बाहर से हमें कुछ चाहिये!

एक आदमी आ जाता है और आपसे कहता है कि बड़े सुन्दर हैं आप, तो आपका चित्त प्रफुल्लित हो जाता है। फूल खिल जाते हैं, पक्षी उड़ने लगते हैं भीतर। लोगों की आँखों में आप खोजते रहते हैं कि लोग आपको सुन्दर कह रहे हैं कि नहीं। अगर कोई आपकी तरफ ध्यान नहीं देता है, तो आपका चित्त बड़ा उदास हो जाता है।

मैं एक 'यूनिवर्सिटी' में था। वहाँ कुछ लड़कियाँ आकर मुझे शिकायत करती थीं कि किसी ने कंकड़ मार दिया! किसी ने धक्का मार दिया! मैंने उनसे कहा कि मारने भी दो! अगर कोई धक्का न मारे, कोई कंकड़ न मारे, तो भी मुसीबत! तो भी चित्त उदास होता है।

जिस लड़की को कोई भी कंकड़ नहीं मारता 'यूनिवर्सिटी' में उसके कष्ट का आपको पता है ? वह कष्ट, जिसको कंकड़ मारे जाते हैं, उससे बहुत ज्यादा है। सच तो यह है कि जिस लड़की ने आकर मुझसे शिकायत की है कि मुझे फलाँ लड़के ने कंकड़ मारा; कि उस प्रोफेसर तक ने मुझे धक्का दे दिया, वह असल में, इसको कहने में रस भी ले रही है ! उस रस का उसे पता नहीं है, भीतर उसे मजा भी आ रहा है।

इसलिए जब कोई आकर बताता है कि रास्ते में भीड़ का बड़ा धक्का पड़ा, तो उसकी आँखों में चमक देखें। अगर भीड़ धक्का न मारती; कोई देखता ही नहीं कि आप थे भी; कि आप थीं भी तो, तो उदासी चित्त को पकड़ लेती है। कोई ध्यान नहीं दे रहा।

हम पूरे समय बाहर से जी रहे हैं कि बाहर कौन क्या कर रहा है—यह हमारा 'आश्रव' चित्त है। सिर्फ बाहर के सहारे ही हमारा अस्तित्व है। सब सहारे खींच लो, तो हम ऐसे गिर पड़ेंगे, जैसे कि खेत में खड़ा हुआ झूठा पुतला गिर जाये।

नास्तिक यही कहता है कि तुम्हारे भीतर कुछ है नहीं, जो बाहर से आया है, वही है। तुम भीतर कुछ भी नहीं हो, सिर्फ बाहर के जोड़ हो।

चार्वाक ने यही कहा है। यही उसका निवेदन है कि तुम बाहर के ही जोड़ हो। तुम्हारे शरीर में जो खून दौड़ रहा है, वह बाहर से आया है। तुम्हारा जो जीव-कोष है, सेल है, वह बाहर से आया है। तुम्हारी हड्डी, मांस-मज्जा, सब बाहर से आई है। तुम जो भी हो, सब बाहर से आया हुआ है। भीतर तो तुम कुछ भी नहीं हो। भीतर होने जैसी कोई बात ही नहीं है, 'धेर इज नो इनरनेस।' सब कुछ बाहर से आया हुआ है। भीतर झूठा शब्द है।

इसलिए चार्वाक कहता है बाहर से सब चीजें अलग कर लो, तो भीतर कुछ नहीं बचता। हालत वैसी ही हो जाती है, जैसे प्याज के छिलके निकालते जाओ, तो आखिर में कुछ हाथ नहीं आता।

प्याज हाथ में नहीं आता। प्याज छिलकों का जोड़ा था।

चार्वाक कहता है, तुम भी सिर्फ एक जोड़ा हो। बाहर का सब हटा लें और तुम खो जाओगे।

तुम्हारी आत्मा वगैरह कुछ भी नहीं, सिर्फ एक जोड़ है, 'एक कम्पाउण्ड' है।

महावीर इनके विपरीत हैं, वे कहते हैं कि तुम भीतर भी कुछ हो। तुम्हारा भीतरी होना भी तत्व है।

लेकिन इस भीतरी तत्व को तुम जानोगे कैसे ?

तुम तभी जान पाओगे, जब तुम बाहर से सब लेना बंद कर दो। शरीर तो बाहर से लेगा ही।

इसलिए महावीर कहते हैं, शरीर का कोई भीतरीपन नहीं है। शरीर का सब कुछ बाहरी है। मन भी बाहर से ही लेता है।

महावीर कहते हैं, शरीर से ऊपर उठो। चेतना को शरीर से पूरा हटा लो। मन को जो बाहर से मिलता है—विचार, क्रोध, लोभ, मोह। जो-जो बाहर से मन को प्रभावित करता है, आंदोलित करता है, वहाँ से भी चेतना को हटा लो। हटाते जाओ चेतना को उस समय तक, जब तक कि तुम्हें कुछ भी दिखाई पड़े कि यह बाहर का है।

इसको महावीर ने भेद-विज्ञान कहा है—'द साइन्स ऑफ डिस्क्रिमिनेशन।' तुम अपने को उससे तोड़ते चले जाओ, जो भी पराया मालूम पड़ता है, बाहर से आया मालूम पड़ता है। एक दिन ऐसा आयेगा कि बाहर से आया हुआ कुछ भी न बचेगा, तुम 'अनाश्रव' हो जाओगे, तुम्हारे भीतर कुछ भी बाहर से आया हुआ न होगा। उसी दिन अगर तुम बचते हो, तो समझना कि आत्मा है। अगर उस दिन नहीं बचे तो समझना आत्मा नहीं है।

आदमी के भीतर अगर आत्मा है, तो उसे जानने का एक ही उपाय है कि बाहर से जो भी मिला है, उसका त्याग कर दिया जाये। जिस दिन मैं ही भीतर रह जाऊँ और मैं कह सकूँ कि यह मेरी माँ से नहीं आया है, मेरे पिता से नहीं आया, समाज से नहीं आया, शिक्षा से नहीं आया—यह किसी ने मुझे नहीं दिया, यह मेरा भीतरीपन है, यह मेरा अन्तस् है, उसी दिन समझना कि मैंने आत्मा पा ली।

अनाश्रव मार्ग है—हटा देने का उसे, जो बाहर से आया है।

हम जोड़ हैं, बाहर के और भीतर के। चार्वाक या नास्तिक कहते हैं कि हम सिर्फ बाहर के जोड़ हैं।

महावीर कहते हैं, हम बाहर और भीतर दोनों के जोड़ हैं।

जो बाहर से आया हुआ है, उसके संग्रह का नाम शरीर है और जो बाहर से नहीं आया हुआ है, उसका नाम आत्मा है। लेकिन उस आत्मा को खोजना पड़ेगा, क्योंकि हम बाहर में ही जी रहे हैं। हमें उसका कोई पता नहीं है।

हम कहते हैं, सुनते हैं, पढ़ते हैं कि आत्मा है, पर यह शब्द कोरा आकाश में खो जाता है, धुएँ की तरह, इसका कोई बहुत अर्थ नहीं है। इसका अर्थ तो

जो भी बाहर दिखाई पड़ता है, वह आपका है। लेकिन मेरे भीतर वह भी है, जो आपको दिखाई नहीं पड़ता और मुझे दिखाई पड़ता है, वह आपका नहीं है।

इस बिन्दु का नाम ही आत्मा है।

लेकिन अनाश्रव हुए बिना इसका कोई अनुभव नहीं है।

इसलिए महावीर कहते हैं: जो अनाश्रव हो जाता है, वह निर्दोष हो जाता है।

सब दोष बाहर से आए हुए हैं। और निर्दोषता भीतरी घटना है।

सब दोष शरीर के संग के कारण हैं।

महावीर यह निरन्तर कहते हैं कि अगर हम नील-मणि को पानी में डाल दें, तो सारा पानी नीला हो जाता है। नीला होता नहीं सिर्फ दिखाई पड़ने लगता है। मणि को बाहर कर लें, तो पानी का रंग खो जाता है। मणि को भीतर डाल दें, तो पानी फिर नीला हो जाता है, संग दोष के कारण।

महावीर कहते हैं, सिर्फ संग दोष के कारण पानी नीला दिखाई पड़ने लगता है।

आत्मा पर वस्तुतः कोई दोष लगते नहीं। आत्मा कभी दोषी होती नहीं, आत्मा का होना निर्दोष है। वह 'इनोसेन्ट' है ही, लेकिन शरीर के संग-साथ के कारण शरीर का रंग उस पर पड़ जाता है। शरीर की वजह से रंग उसको घेर लेते हैं। शरीर की वजह से लगता है कि मेरी सीमा है, शरीर की वजह से लगता है कि बीमार हुआ। शरीर की वजह से लगता है कि भूख लगी। शरीर की वजह से लगता है कि सिर में दर्द हो रहा है। शरीर की वजह से सब कुछ पकड़ लेता है।

आत्मा जैसे-जैसे शरीर को अपने से अलग जानती है, वैसे-वैसे निर्दोषता का अनुभव करने लगती है। सब संग-दोष है, न शरीर दोषी है, न आत्मा दोषी है। दोनों के संग-साथ में एक दूसरे पर छाया पड़ती है और संग-दोष हो जाता है।

आज इतना ही।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
११ सितम्बर, १९७२

आठवाँ प्रवचन

विनय-सूत्र

०

आणा - निद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियाऽऽगारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई ।
नीयावत्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥
अप्पं च अहिक्खिवई, पबन्धं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धं न मज्जई ॥
नय पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई ।
अपियस्साऽवि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥
कलहडमरवज्जिए, बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ॥

जो मनुष्य गुरु की आज्ञा पालता हो, उनके पास रहता हो, गुरु के इंगितों को ठीक-ठीक समझता हो तथा कार्य-विशेष में गुरु की शारीरिक अथवा मौखिक मुद्राओं को ठीक-ठीक समझ लेता हो, वह मनुष्य विनय-सम्पन्न कहलाता है।

निम्नलिखित पन्द्रह लक्षणों से मनुष्य सुविनीत कहलाता है : उद्धत न हो, नम्र हो; चपल न हो, स्थिर हो; मायावी न हो, सरल हो; कुतूहली न हो, गम्भीर हो; किसी का तिरस्कार न करता हो; क्रोध को अधिक देर टिकने देता न हो; मित्रों के प्रति पूरा सद्भाव रखता हो; शास्त्रों से ज्ञान पाकर गर्व न करता हो; किसी के दोषों का भण्डा-फोड़ न करता हो; मित्रों पर क्रोधित न होता हो; अप्रिय मित्र की भी पीठ-पीछे भलाई ही गाता हो; किसी प्रकार का झगड़ा-फसाद न करता हो; बुद्धिमान् हो; अभिजात अर्थात् कुलीन हो; आँख की शर्म रखने वाला एवं स्थिरवृत्ति हो।

●

पहले एक प्रश्न।

एक मित्र ने पूछा है, 'कल के सूत्र में कहे गये श्रेयार्थी का क्या अर्थ है ? क्या श्रेयार्थी और साधक एक ही हैं ?'

श्रेयार्थी शब्द बहुत अर्थपूर्ण है। इस देश ने दो तरह के लोग माने हैं: एक को कहा है : प्रेयार्थी—जो प्रिय की तलाश में है और दूसरे को कहा है : श्रेयार्थी—जो श्रेय की तलाश में है।

दो ही तरह के लोग हैं जगत् में। एक वे, जो प्रिय की खोज करते हैं। जो प्रीतिकर है, वही उनके जीवन का लक्ष्य है। लेकिन अनन्त-अनन्त काल तक प्रीतिकर की खोज की जाए, तो भी प्रीतिकर मिलता नहीं; या जब मिल जाता है, तो अप्रीतिकर सिद्ध होता है। जब तक नहीं मिलता, तब तक प्रीतिकर की संभावना बनी रहती है और मिलते ही जो प्रीतिकर मालूम होता था, वह विलीन हो जाता है, तिरोहित हो जाता है। प्रीतिकर की ओर चलते हैं तो आशा बनी रहती है और पा लेते हैं, तो आशा खण्डित हो जाती है; 'डिसइल्यूजनमेन्ट' के अतिरिक्त, सब भ्रमों के टूट जाने के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं लगता।

प्रेयार्थी इन्द्रियों को मान कर चलता है; जो इन्द्रियों को प्रीतिकर है उसे खोजने निकल पड़ता है।

श्रेयार्थी की खोज बिलकुल अलग है। वह यह नहीं कहता कि 'जो प्रीतिकर है उसे खोजूंगा।' वह कहता है, 'जो श्रेयस्कर है, जो ठीक है, जो सत्य है, जो शिव है उसे खोजूंगा; चाहे वह अप्रीतिकर ही क्यों न आज मालूम पड़े।'

यह बड़े मजे की बात है और जीवन की गहनतम पहेलियों में से एक कि जो प्रीतिकर को खोजने निकलता है, वह अप्रीतिकर को उपलब्ध होता है। जो सुख को खोजने निकलता है, वह दुख में उतर जाता है। जो स्वर्ग की आकांक्षा

रखता है, वह नर्क का द्वार खोल देता है। यह हमारा निरन्तर सभी का अनुभव है; दूसरी घटना ही अनिवार्यरूपेण घटती है।

श्रेयार्थी हम उसे कहते हैं; जो प्रीतिकर को खोजने नहीं निकलता, जो यह सोचता ही नहीं कि प्रीतिकर है या अप्रीतिकर है, सुखद है या दुखद है; वह उसे खोजने निकलता है, जो सत्य है।

श्रेयार्थी की खोज पहले अप्रीतिकर होती है, श्रेयार्थी के पहले कदम दुख में पड़ते हैं; उन्हीं का नाम तप है।

तप का अर्थ है—श्रेय की खोज में जो प्रथम ही दुख का मिलन होता है। होगा ही। क्योंकि इन्द्रियाँ इनकार करेंगी। इन्द्रियाँ कहेंगी कि यह प्रीतिकर नहीं है; छोड़ो इसे। अगर फिर भी आपने श्रेयस्कर को पकड़ना चाहा, तो इन्द्रियाँ दुख उत्पन्न करेंगी। वे कहेंगी कि 'यह दुखद है; छोड़ो इसे; सुखद कहीं और है।'

इन्द्रियों के द्वारा खड़ा किया गया उत्पात ही तप बन जाता है।

तप का अर्थ है कि इन्द्रियाँ अपने मार्ग से नहीं हटना चाहतीं और अगर आप किसी नये मार्ग को खोजते हैं, जो इन्द्रियों के लिए प्रीतिकर नहीं है, तो इन्द्रियाँ बगावत करेंगी। वह बगावत दुख है। इसलिए श्रेय की खोज में पहले दुख मिलेगा, लेकिन जैसे-जैसे खोज बढ़ती है, दुख क्षीण होता चला जाता है।

दुख क्षीण होता है; इसका अर्थ है कि इन्द्रियाँ धीरे-धीरे···धीरे-धीरे नये मार्ग पर चेतना का अनुगमन करने लगती हैं और जिस दिन इन्द्रियाँ चेतना का पूरा अनुगमन करने लगती हैं, उसी दिन सुख का अनुभव होता है।

(श्रेयार्थी की खोज में पहले दुख है और पीछे आनन्द है; प्रेयार्थी की खोज में पहले सुख का आभास है और पीछे दुख है। इन्द्रियों की मान कर जो चलता है वह पहले सुख पाता हुआ मालूम पड़ता है, पीछे दुख में उतर जाता है; इन्द्रियों की मालकियत करके जो चलता है उसे पहले दुख मालूम पड़ता है, पीछे दुख आनन्द में बदल जाता है।)

श्रेयार्थी का अर्थ है : जिसने जीवन के इस रहस्य को समझ लिया कि जो खोजो वह नहीं मिलता, जिसे खोजने निकलो वह हाथ से खो जाता है, जिसे पकड़ना चाहो वह छूट जाता है; अगर सुख खोजते हो तो सुख नहीं मिलेगा, इतना निश्चित है। लेकिन अगर कोई व्यक्ति दुख के लिए राजी हो जाये, और दुख के लिए स्वयं को तत्पर कर ले और दुख के प्रति वह जो सहज विरोध है मन का उसे छोड़ दे, तो सुख मिल जाता है।

ऐसा क्यों होता होगा ? ऐसा होने का कारण क्या होगा ? होना तो यही चाहिये नियमानुसार कि हम जो खोजें, वह मिल जाये; होना तो यही चाहिये कि जो हम न खोजें, वह न मिले।

ऐसा क्यों है ? इसे थोड़ा हम समझ लें।

इन्द्रियाँ अपना रस रखती हैं। आँख सुख पाती है कुछ देखने में। अगर रूप दिखाई पड़े, तो आँख आनन्दित होती है। लेकिन, अगर वही रूप निरन्तर दिखाई पड़ने लगे, तो आनन्द क्रमशः खोता चला जाता है; क्योंकि जो चीज निरन्तर उपलब्ध होती है वह देखने योग्य नहीं रह जाती। दर्शनीय तो वही है जो कभी-कभी (आकस्मिक, मुश्किल से) दिखाई पड़ता हो।

आप जाते हैं कश्मीर, तो डल झील आपको सुखद मालूम पड़ती है, लेकिन वह जो आप जी नौका खे रहा है उसे डल झील दिखाई ही नहीं पड़ती; और कई वार उसे हैरानी भी होती है कि लोग कैसे पागल हैं जो इतनी दूर-दूर से इस डल झील को देखने आते हैं !

इन्द्रियाँ नवीन आघात में सुख पाती हैं। आघात, जब सुनिश्चित पुराना पड़ जाता है, तो उबानेवाला हो जाता है। आज जो भोजन आप ने किया है, वह सुखद है; कल भी वही, परसों भी वही, तो दुखद हो जायेगा।

इन्द्रियों के सभी सुख दुख बन जाते हैं। किसी से आपका प्रेम हो तो लगता है कि चौबीस घण्टे उसके पास बैठे रहें। भूल कर भी मत बैठना; क्योंकि चौबीस घण्टे उसके पास बैठे रहे तो, आज नहीं कल यह उबानेवाला हो जाने वाला है; और आज नहीं कल ऐसा होगा कि कैसे छुटकारा हो ? इन्द्रियाँ जो कहती थीं, पास बैठे रहो, वहीं इन्द्रियाँ कहेंगी, 'भाग जाओ; दूर निकल जाओ।'

जो पुराना पड़ जाता है, इन्द्रियों का उसमें रस खो जाता है। पुराने के साथ ऊब पैदा हो जाती है। इसलिए इन्द्रियाँ आज जिसे प्रीतिकर कहती हैं, कल उसी को अप्रीतिकर कहने लगती हैं।

इन्द्रियों की तलाश में प्रीति से प्रारम्भ होता है और अप्रीति पर अन्त होता है। यह प्रेयार्थी का स्वभाव हुआ। इससे ठीक विपरीत स्थिति श्रेयार्थी की है। श्रेयार्थी जो परिवर्तनशील है उसकी खोज नहीं करता; जो नया है उसकी खोज नहीं करता; श्रेयार्थी तो उसकी खोज कर रहा है जो शाश्वत है, जो सदा है।

प्रेयार्थी नये की खोज कर रहा है—नया 'सेनसेशन'। नई संवेदना, नया सुख। श्रेयार्थी खोज कर रहा है न नये की, न पुराने की; क्योंकि श्रेयार्थी जानता है

कि जो नया है क्षण भर बाद पुराना हो जायेगा। जो भी नया है, वह पुराना होगा ही। जिसको हम आज पुराना कह रहे हैं, कल वह भी नया था। सब नया पुराना हो जाता है। नये में सुख था, पुराने में दुख हो जाता है। नये के कारण सुख था, तो पुराने के कारण दुख हो जाता है।

श्रेयार्थी उसकी खोज कर रहा है जो सदा है, शाश्वत है, नित्य है; वह नया और पुराना नहीं है; बस है। इन्द्रियाँ उसकी तलाश में कोई रस नहीं लेतीं। इन्द्रियों को नए का सुख है। इसलिए जब कोई श्रेय की खोज में निकलता है तो इन्द्रियाँ मार्ग में बाधा बन जाती हैं। वे कहती है, 'कहाँ व्यर्थ की खोज पर जा रहे हो! सुख वहाँ नहीं है, सुख नये में है।'

श्रेयार्थी इन्द्रियों की इस आवाज पर ध्यान नहीं देता, वह खोज में लगा रहता है। जो सत्य है उसके प्रारम्भ में दुख मालूम पड़ता है। धीरे-धीरे इन्द्रियाँ बगावत छोड़ देती हैं। जिस दिन इन्द्रियों की बगावत छूट जाती है, उसी दिन शाश्वत से सम्बन्ध जुड़ना शुरू हो जाता है। इन्द्रियाँ जिस दिन बीच से हट जाती हैं, उसी दिन 'जो सदा है' उससे हमारा पहला सम्बन्ध होता है। वह सम्बन्ध, बुद्ध ने कहा है, 'सदा ही सुखदायी है'। महा-सुखदाई है; क्योंकि वह कभी पुराना नहीं पड़ता; क्योंकि वह कभी नया नहीं था। वह सनातन है।

श्रेयार्थी का अर्थ है : जो सत्य की, शाश्वत की तलाश में लगा है; साधक ही उसका अर्थ है।

प्रेयार्थी हम सब हैं; और अगर हम कभी श्रेय की खोज में भी जाते हैं तो प्रिय के लिए जाते हैं, अगर हम कभी सत्य को खोजते हैं तो इसीलिए कि स्वर्ग मिल जाये। अगर हम कभी ध्यान करने बैठते हैं तो इसीलिए कि सुख मिल जाए। जो व्यक्ति सुख के लिए सत्य की खोज कर रहा है तो वह अभी श्रेयार्थी नहीं है, वह अभी प्रेयार्थी है; अगर परमात्मा का दर्शन भी कोई इसलिए खोज रहा है कि आँखों को तृप्ति हो जायेगी तो वह श्रेयार्थी नहीं है, प्रेयार्थी है। और प्रेयार्थी दुख पाएगा; परमात्मा भी मिल जाए तो भी दुख पाएगा; मोक्ष भी मिल जाए तो भी दुख पाएगा; क्या मिलता है, इससे सम्बन्ध नहीं है।

प्रेयार्थी का जो ढंग है जीवन को देखने का वह दुख में उतारने वाला है; श्रेयार्थी का जो ढंग है जीवन को देखने का वह आनन्द में उतारने वाला है।

क्योंकि अपेक्षा ही पीड़ा का मार्ग है इसलिए नहीं करेंगे अपेक्षा, नहीं बांधेंगे आशा; उसकी ही तलाश करेंगे, 'जो है'।

यह तलाश कठोर, 'आर्डुअस', दुर्गम है; क्योंकि हम वह नहीं जानना चाहते जो है। हम वह जानना चाहते हैं, जो हमारी इन्द्रियां कहती हैं, 'होना चाहिए'। इसलिए हम सत्य के ऊपर इन्द्रियों का एक मोह आवरण डाले रहते हैं। हम यह नहीं जानना चाहते, क्या है? हम जानना चाहते हैं वही, जो होना चाहिए।

अगर मैं किसी व्यक्ति को देखता हूँ, तो मैं उसको नहीं देखता, जो कि वह है। मैं वही देखता हूँ, जो कि वह होना चाहिए। इसी से झंझट खड़ी होती है। आप मुझे मिलते हैं, आपको मैं नहीं देखता। मैं आपमें उस सौन्दर्य को देख लेता हूँ, जो मेरी इन्द्रियां चाहती हैं कि हो; वह सत्य नहीं है। आपकी आंखों में वह काव्य देख लेता हूँ, जो वहां नहीं है; लेकिन मेरी मनोवासना देखना चाहती है, कि हो।

कल वह काव्य तिरोहित हो जायेगा, परिचय से टूट जायेगा, जानकारी से, पहचान से, आँखें साधारण आंखें हो जायेगी और तब मैं पछताऊँगा कि धोखा हो गया। लेकिन किसी ने मुझे धोखा दिया नहीं, धोखा मैंने खाया है। मैंने वह देखना ही नहीं चाहा, जो था; मैंने वह देख लिया जो होना चाहिए।

मैंने अपना सपना आप में देख लिया। अब यह सपना टूटेगा। सपने टूटने के लिए ही होते हैं। और जब वास्तविकता उघड़ कर सामने आएगी, तो लगेगा कि मैं किसी धोखे में डाल दिया गया। और तब हमारी इन्द्रियां कहती हैं कि धोखा दूसरे ने दिया। जहां काव्य नहीं था, वहां काव्य दिखलाया; जहां सौन्दर्य नहीं था वहां सौन्दर्य दिखलाया।

दूसरा आपको धोखा नहीं दे रहा है। इस जगत् में सब धोखे अपने हैं। हम धोखा खाना चाहते हैं। हम धोखा निर्मित करते हैं। हम दूसरे के ऊपर धोखे को खड़ा करके, धोखा खा लेते हैं। फिर धोखे टूट जाते हैं, और तब दुख है।

श्रेयार्थी का अर्थ है। जो है, वही मैं जानूंगा। कुछ भी मैं जोड़ूंगा नहीं। वह जो है, 'धेट व्हिच इज,' उसको उघाड़ लूंगा, उसको खोल लूंगा, उसको नग्न देख लूंगा—जैसा है; उसमें जरा भी अपनी वासना, अपनी कामना, अपनी

कि जो नया है क्षण भर बाद पुराना हो जायेगा। जो भी नया है, वह पुराना होगा ही। जिसको हम आज पुराना कह रहे हैं, कल वह भी नया था। सब नया पुराना हो जाता है। नये में सुख था, पुराने में दुख हो जाता है। नये के कारण सुख था, तो पुराने के कारण दुख हो जाता है।

श्रेयार्थी उसकी खोज कर रहा है जो सदा है, शाश्वत है, नित्य है; वह नया और पुराना नहीं है; बस है। इन्द्रियां उसकी तलाश में कोई रस नहीं लेतीं। इन्द्रियों को नए का सुख है। इसलिए जब कोई श्रेय की खोज में निकलता है तो इन्द्रियां मार्ग में बाधा बन जाती हैं। वे कहती है, 'कहां व्यर्थ की खोज पर जा रहे हो! सुख वहां नहीं है, सुख नये में है।'

श्रेयार्थी इन्द्रियों की इस आवाज पर ध्यान नहीं देता, वह खोज में लगा रहता है। जो सत्य है उसके प्रारम्भ में दुख मालूम पड़ता है। धीरे-धीरे इन्द्रियां बगावत छोड़ देती हैं। जिस दिन इन्द्रियों की बगावत छूट जाती है, उसी दिन शाश्वत से सम्बन्ध जुड़ना शुरू हो जाता है। इन्द्रियां जिस दिन बीच से हट जाती हैं, उसी दिन 'जो सदा है' उससे हमारा पहला सम्बन्ध होता है। वह सम्बन्ध, बुद्ध ने कहा है, 'सदा ही सुखदायी है'। महा-सुखदाई है; क्योंकि वह कभी पुराना नहीं पड़ता; क्योंकि वह कभी नया नहीं था। वह सनातन है।

श्रेयार्थी का अर्थ है : जो सत्य की, शाश्वत की तलाश में लगा है; साधक ही उसका अर्थ है।

प्रेयार्थी हम सब हैं; और अगर हम कभी श्रेय की खोज में भी जाते हैं तो प्रिय के लिए जाते हैं, अगर हम कभी सत्य को खोजते हैं तो इसीलिए कि स्वर्ग मिल जाये। अगर हम कभी ध्यान करने बैठते हैं तो इसीलिए कि सुख मिल जाए। जो व्यक्ति सुख के लिए सत्य की खोज कर रहा है तो वह अभी श्रेयार्थी नहीं है, वह अभी प्रेयार्थी है; अगर परमात्मा का दर्शन भी कोई इसलिए खोज रहा है कि आँखों को तृप्ति हो जायेगी तो वह श्रेयार्थी नहीं है, प्रेयार्थी है। और प्रेयार्थी दुख पाएगा; परमात्मा भी मिल जाए तो भी दुख पाएगा; मोक्ष भी मिल जाए तो भी दुख पाएगा; क्या मिलता है, इससे सम्बन्ध नहीं है।

प्रेयार्थी का जो ढंग है जीवन को देखने का वह दुख में उतारने वाला है; श्रेयार्थी का जो ढंग है जीवन को देखने का वह आनन्द में उतारने वाला है। सुख को खोजेंगे, दुख पाएँगे। सुख को खोजनेवाला मन ही दुख का निर्माता है।

शेरे। मन०। रसवेधित अय जेमरे ।भवि.।६॥

अर्थः-कठोर अने कुरुप एवुं अय कहेतां लोढुं ते रस वेधित थवाथी जेम सुंदर अने कोमल एहवा सुवर्णपणाने प्राप्त थई जाय छे. तेम जिनेश्वरनी भक्तिमां चित्त लीन थाय ते चित्तने ते जिनेश्वरना गुण रागरूप वेधकरसनो योग थाय तो ते चित्त पूर्ण निर्मलपणाने प्राप्त थाय. एम सेवक आप समान अरिहंत पदने प्राप्त करे. ॥ ५ ॥

नाथ भक्तिरस भावथीरे। मन०। तृण जाणुं पर देवरे। भवि०। चिंतामणि सुरतरु थकीरे। मन०। अधिकी अरिहंत सेवरे। भवि० ।६।

अर्थः-आ घोर भवाटवीमां भ्रमण करता अशरण प्राणीओने हे भगवंत! मात्र एक आपज शरण छो, शिवपुरीए दोरवावाला छो. माटे आपज नाथ छो तथी हे प्रभु! आपनीज भक्तिरुपरसमां माहरुं चित्त लीन थाय छे. विषय कषाययुक्त कुदेवो तरफ तृणनी पेटे त्याग भाव उपजे छे. चिंतामणी तथा कल्पवृक्षथी पण प्रभुनी सेवाने अत्यंत आदरणीय मानुं छुं. आपनी सेवा आगल ते चिंतामणी तथा कल्पवृक्षादि अतिशय तुच्छ पदार्थ भासन थाय छे.।६।

कि जो नया है क्षण भर बाद पुराना हो जायेगा। जो भी नया है, वह पुराना होगा ही। जिसको हम आज पुराना कह रहे हैं, कल वह भी नया था। सब नया पुराना हो जाता है। नये में सुख था, पुराने में दुख हो जाता है। नये के कारण सुख था, तो पुराने के कारण दुख हो जाता है।

श्रेयार्थी उसकी खोज कर रहा है जो सदा है, शाश्वत है, नित्य है; वह नया और पुराना नहीं है; बस है। इन्द्रियाँ उसकी तलाश में कोई रस नहीं लेतीं। इन्द्रियों को नए का सुख है। इसलिए जब कोई श्रेय की खोज में निकलता है तो इन्द्रियाँ मार्ग में बाधा बन जाती हैं। वे कहती हैं, 'कहाँ व्यर्थ की खोज पर जा रहे हो! सुख वहाँ नहीं है, सुख नये में है।'

श्रेयार्थी इन्द्रियों की इस आवाज पर ध्यान नहीं देता, वह खोज में लगा रहता है। जो सत्य है उसके प्रारम्भ में दुख मालूम पड़ता है। धीरे-धीरे इन्द्रियाँ बगावत छोड़ देती हैं। जिस दिन इन्द्रियों की बगावत छूट जाती है, उसी दिन शाश्वत से सम्बन्ध जुड़ना शुरू हो जाता है। इन्द्रियाँ जिस दिन बीच से हट जाती हैं, उसी दिन 'जो सदा है' उससे हमारा पहला सम्बन्ध होता है। वह सम्बन्ध, बुद्ध ने कहा है, 'सदा ही सुखदायी है'। महा-सुखदाई है; क्योंकि वह कभी पुराना नहीं पड़ता; क्योंकि वह कभी नया नहीं था। वह सनातन है।

श्रेयार्थी का अर्थ है : जो सत्य की, शाश्वत की तलाश में लगा है; साधक ही उसका अर्थ है।

प्रेयार्थी हम सब हैं; और अगर हम कभी श्रेय की खोज में भी जाते हैं तो प्रिय के लिए जाते हैं, अगर हम कभी सत्य को खोजते हैं तो इसीलिए कि स्वर्ग मिल जाये। अगर हम कभी ध्यान करने बैठते हैं तो इसीलिए कि सुख मिल जाए। जो व्यक्ति सुख के लिए सत्य की खोज कर रहा है तो वह अभी श्रेयार्थी नहीं है, वह अभी प्रेयार्थी है; अगर परमात्मा का दर्शन भी कोई इसलिए खोज रहा है कि आँखों को तृप्ति हो जायेगी तो वह श्रेयार्थी नहीं है, प्रेयार्थी है। और प्रेयार्थी दुख पाएगा; परमात्मा भी मिल जाए तो भी दुख पाएगा; मोक्ष भी मिल जाए तो भी दुख पाएगा; क्या मिलता है, इससे सम्बन्ध नहीं है।

प्रेयार्थी का जो ढंग है जीवन को देखने का वह दुख में उतारने वाला है; श्रेयार्थी का जो ढंग है जीवन को देखने का वह आनन्द में उतारने वाला है। सुख को खोजेंगे, दुख पाएँगे। सुख को खोजनेवाला मन ही दुख का निर्माता है।

आशंसा तजी, मात्र एक शुद्धात्म तत्त्वना रुचिवान थई, ओघसंज्ञा तथा लोक संज्ञा परिहरी, विधि विवेक पूर्वक सर्व जिनमां शिरोमणि श्री अरिहंत भगवंतनी भक्तिमां आणा सेववामां लीन थजो तो सर्व देवोमां चंद्रम समान अरिहंत भगवंत सदृश परमात्म पदने पामशो. एज उत्कृष्ट स्वाधीन अविनश्वर महोदय प्राप्त करवानी युक्ति छे ॥८॥

॥ संपूर्ण ॥

॥ कलश ॥ राग धन्याश्री ॥

वंदो वंदोरे जिनवर विचरंता वंदो, कीर्तन स्तवन नमन अनुसरतां ॥ पूरव पाप निकंदोरे जिनवर विचरंता वंदो ॥ १ ॥

अर्थः—विहरमान जिनेश्वरने हे भव्यो ! भाव सहित वंदो, तेओना सद्गुणोनु कीर्तन करो, तेओनु स्तवन करो, मार्दव परिणामी थई तरण तारण जिनेश्वरने नमो, तेओनी आज्ञाने अनुसरो, जेथी पूर्वे बांधेलां अनेक प्रकारनां कर्मो निर्मूल थाय ॥ १ ॥

शिक्षक के पास जब हम जाते हैं (और जाना बहुत आसान है।) तो हम वही लौटते हैं, जो हम गये थे; बल्कि थोड़े से और समृद्ध होकर लौटते हैं; थोड़ा सा और जानकर लौटते हैं। हम जो थे, उसी में शिक्षक जोड़ देता है। हम जो थे उसी में थोड़ा रंगरूप लगा देता है, वस्त्र ओढ़ा देता है। हम जो थे, और शिक्षक के द्वारा जो हम निर्मित होते हैं—इन दोनों के बीच में कोई 'डिस्कन्टीन्यूटी', कोई 'गैप', कोई खाली जगह नहीं होती है।

गुरु के पास जब हम जाते हैं, तो हम जो गये थे वह और आदमी था। और जो हम लौटते हैं वह और आदमी होता है। गुरु हममें जोड़ता नहीं, हमें मिटाता है और नया निर्मित करता है। गुरु हमको ही सँवारता नहीं, हमें मिटाता है और नया जीवन देता है। गुरु के पास जाने के बाद, हमारे अतीत में और हमारे भविष्य में एक 'गैप', एक अन्तराल हो जाता है। लौटकर आप देखेंगे, तो अपनी ही कथा ऐसी लगेगी कि किसी और की कहानी है—अगर गुरु के पास गये हों। अगर शिक्षक के पास गये तो अपनी कथा अपनी ही कथा है; बीच में कोई खाली जगह नहीं हैं, जहाँ चीजें टूट गई हों, जहाँ आपका पुराना रूप बिखर गया हो और नये का जन्म हुआ हो।

इसलिए हमने इस मुल्क में एक शब्द खोजा था; वह था द्विज। द्विज का अर्थ है 'ट्वाइस बॉर्न', दोबारा जन्मा हुआ। दोबारा जन्मा हुआ आदमी वही है जिसे गुरु मिल गया; नहीं तो दोबारा जन्मा हुआ आदमी नहीं है।

एक बार माँ-बाप जन्म देते हैं, वह शरीर का जन्म है। एक जन्म गुरु के निकट घटित होता है, वह आत्मा का जन्म है। जब वह जन्म घटित होता है, तो आदमी द्विज हो जाता है। उसके पहले आदमी इक जन्मा है। उसके बाद दोहरा जन्म होता है, 'ट्वाइस बॉर्न' हो जाता है।

गुरु के लिए हमने जैसी श्रद्धा की धारणा बनाई है, उसे पश्चिम के लोग जब सुनते हैं, तो भरोसा नहीं कर पाते कि ऐसी श्रद्धा की क्या जरूरत है! जब किसी व्यक्ति से सीखना है, तो सीखा जा सकता है। ऐसा उसके चरणों में सिर रख कर मिट जाने की क्या जरूरत है! और उनका कहना भी ठीक है; सीखना ही है तो चरणों में सिर रखने की कोई भी जरूरत नहीं है। अगर सीखना है, तो सिर और सिर का सम्बन्ध होगा; चरणों और सिर के सम्बन्धों की क्या जरूरत है?

लेकिन, हमारी गुरु की धारणा कुछ और है। यह सीर्फ सीखना नहीं है। यह सिर्फ बौद्धिक आदान-प्रदान नहीं है। यह संवाद बुद्धि का नहीं है, दो सिरों

बनाव्या-कारणके जिनेश्वरनी भक्ति तेज मुक्तिनो मार्ग छे तथा तेज अनुपम अव्याबाध स्वाभाविक शिवसुखनुं मूल छे ॥ ४ ॥

खरतर गच्छ जिनचंद सूरिवर, पुण्यप्रधान मुणिंदो ॥ सुमतिसागर साधुरंग सु वाचक, पीधो श्रुत मकरंदोरे ॥ जिन० ॥ ५ ॥

अर्थः—हवे स्तवन कर्त्ता श्री देवचंद्र मुनि पोतानी परंपरा वखाणे छे, जेणे जिनप्रणीत सूत्रनो शुद्ध आस्वादन लीधो छे एवा खरतर गच्छमां श्री जिनचंद्र सूरि भट्टारक नामे प्रधान आचार्य थया, तेओ श्रीना शिष्य प्रधान पुण्यवान मुनिशिरोमणि श्री पुण्यप्रधान नामे महोपाध्याय थया, तेओना शिष्य सुमतिना समुद्र जेवा श्री सुमतिसागर नामे उपाध्याय थया, तेउना शिष्य मुनिपणामां जेने रंग लाग्यो छे एवा साधुरंग वाचक थया ॥ ५ ॥

राजसार पाठक उपकारी, ज्ञानधर्म दिणंदो ॥ दीपचंद सद्गुरु गुणवंता, पाठक धीरगयंदोरे ॥ जिन० ॥ ६ ॥

जांच-पड़ताल की मनाही नहीं है, लेकिन उनकी सीमा है। खोज लेना पहले; गुरु की खोज कर लेना जितना बन सके, लेकिन जब खोज पूरी हो जाये और लगे की यह आदमी रहा, तो फिर खोज बन्द कर देना और खोल देना अपने हृदय को।

शिष्य, इसलिए अलग शब्द है; उसका अर्थ विद्यार्थी नहीं है। शिष्य विद्यार्थी नहीं है, विद्या नहीं सीख रहा है। शिष्य जीवन सीख रहा है, और जीवन सीखने का मार्ग शिष्य के लिए विनय है।'

यह सूत्र, विनय-सूत्र है। इसमें महावीर ने कहा है : 'जो मनुष्य गुरु की आज्ञा पालता हो, उनके पास रहता हो, गुरु के इंगित को ठीक-ठीक समझता हो तथा कार्य विशेष में गुरु की शारीरिक अथवा मौखिक मुद्राओं को ठीक-ठीक समझ लेता हो, वह मनुष्य विनय-सम्पन्न कहलाता है।'

शिष्य का लक्षण है : 'विनय', 'ह्यूमिलिटी', 'हम्बलनेस', झुका हुआ होना, समर्पित भाव।

इन शब्दों को हम एक-एक करके समझ लें।

'जो गुरु की आज्ञा पालता हो'।

गुरु कहे बैठ जाओ तो बैठ जाए, गुरु कहे खड़े हो जाओ तो खड़ा हो जाए—यह आज्ञापालन नहीं है। आज्ञापालन का अर्थ तो है; जहाँ आपकी बुद्धि इनकार करती हो—वहाँ पालन।

सुना है मैंने, बायजीद अपने गुरु के पास गया, तो गुरु ने पूछा, "निश्चित ही तुम आ गए हो मेरे पास, तो वस्त्र उतार दो, नग्न हो जाओ, जूता हाथ में ले लो, अपने सिर पर मारो, और पूरे गाँव का चक्कर लगा आओ"।

और भी लोग वहां मौजूद थे। उनमें से एक आदमी के बरदाश्त के बाहर हुआ; उसने कहा, 'यह क्या मामला है ! कोई अध्यात्म सीखने आया है कि पागल होने' ? लेकिन बायजीद ने वस्त्र उतारने शुरू कर दिये। उस आदमी ने बायजीद को कहा, 'ठहरो भी; पागल तो नहीं हो !' और बायजीद के गुरु को कहा, कि यह आप क्या करवा रहे हैं ? बायजीद की गाँव में प्रतिष्ठा है; क्यों उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिलाते हैं ?'

बायजीद नग्न हो गया। उसने हाथ में जूता उठा लिया और गाँव के चक्कर पर निकल गया। वह अपने को जूता मारता जा रहा है। गाँव में भीड़ इकट्ठी हो गई है। 'क्या पागल हो गया है बायजीद ?' लोग हँस रहे हैं। लोग

बालावबोधकार प्रशस्ति

॥ कलश ॥ हरिगीत छंद ॥

विहरमान जिनंद मंगल, कंद ज्ञान दिनंद जे,
विकसावता नय कर समूहे, भव्य उर अरविंद जे;
उपशम सुधा सागर उलासन, पूर्ण अनुपम चंद जे,
भवदंद फंद निकंदि पायक, शुद्ध परमानंद जे ॥ १ ॥

मोह मदिरामां मचेला, कुमति मत मातंगना,
मद गंजवा बल भंजवा, बलवान प्रभु पंचानना;
ते तीर्थनायक तत्त्वदायक, वीश जिनवर गुणमणी,
" देवचंद्र गणि " पवित्र मतिए, स्तव्या गुणमाला भणी ॥ २ ॥

ते स्तवन वीश विषे अतिशे, बोध अनुपम वरणव्यो,
त्यां चित रमण हित मुज मनोरथ, अरथ लखवानो थयो;
मधु मासमां अति मधुर स्वरथी, कोकिला जे गाय छे,
ते तो खरेखर आम्र तरुना, पुष्पनोज पसाय छे ॥ ३ ॥

फरसा उठ गया था और गला कट जाने के करीब था कि वक्त पर खबर आ गई कि हत्या नहीं करनी है।

वापस लौट आया पिता अपने बेटे को लेकर, लेकिन अपनी तरफ से वह हत्या करने की आखिरी सीमा तक पहुँच गया था।

यह घटना तो सूचक है। शायद ही कोई गुरु आपको कहे कि जाकर बेटे की हत्या कर आएँ। लेकिन इस घटना में मूल्य सिर्फ इतना है कि अगर ऐसा भी हो, तो आज्ञा-पालन ही शिष्य का लक्षण है। पर सूत्र के पहले ही हिस्से में, आज्ञा को इतना मूल्यवान महावीर क्यों कह रहे हैं ?

क्योंकि जैसे-जैसे आप भीतर प्रवेश करेंगे, वैसे-वैसे आपकी समझ क्षीण होने लगेगी, वहाँ काम नहीं पड़ेगी; और अगर आप यही भरोसा मानकर चलते हैं कि मैं अपनी बुद्धि से ही चलूँगा, तो बाहर की दुनिया तो ठीक, भीतर की दुनिया में प्रवेश न हो सकेगा। भीतर तो घड़ी-घड़ी ऐसे मौके आयेंगे, जब गुरु कहेगा कि 'मरो' और तब आपकी बुद्धि बिलकुल इनकार करेगी, कि मत मरो। अगर ध्यान की थोड़ी भी गहराई बढ़ेगी, तो लगेगा कि मौत घट जाएगी। जब भी ध्यान गहरा होगा, तो मौत का अनुभव होगा; ऐसा लगेगा कि मरे।

गुरु कहेगा : 'मरो, बढ़ो, मरोगे ही ना, मर जाना'। तब आपकी बुद्धि कहेगी, 'यह क्या हो रहा है'! वह कहेगी, 'आगे कदम नहीं बढ़ाया जाता'।

बेटे की हत्या करना इतना कठिन नहीं है; जितना तब, जब खुद के मरने की भीतर घड़ी आए।

बेटा तो फिर भी दूर है; और बेटे की हत्या करने वाले बाप भी मिल जायेंगे। (ऐसे तो आप थोड़ी बहुत हत्या करते ही हैं, लेकिन वह अलग बात है।) बाप की हत्या करने वाले बेटे भी मिल जाएँगे। (एक सीमा पर सभी बेटे बाप से छुटकारा चाहते हैं, लेकिन वह बात अलग है।)

···आदमी जब अपनी ही हत्या पर उतरने की स्थिति में आ जाता है; और जब ध्यान में ऐसी घड़ी आ जाती है कि 'शरीर छूट तो नहीं जाएगा, साँस बन्द तो नहीं हो जायेगी,' तब आपकी बुद्धि किसी भी उपयोग की नहीं रह जाती। वहाँ आपका कोई अनुभव काम नहीं पड़ता। वहाँ गुरु कहता है कि 'ठीक है, हो जाने दो बन्द साँस'। उस वक्त क्या करियेगा ? अगर आज्ञा मानने की आदत न बन गई हो, अगर गुरु के साथ असंगत में भी उतरने की तैयारी न हो गई हो, तो आप वापस लौट आएँगे; आप भाग जाएँगे। उस

श्रीमद् देवचन्द्रजी रचित अप्रकाशित स्तवन संग्रह

संग्राहक—अगरचंद नाहटा

१ ऋषभ स्तवन ।

ढाल—मोरा आतमराम, कईयइ दरसण पास्यु ए देशी ॥
मोरा ऋषभ जिणंद, कईयइ दरसण पास्युं ॥ मो० ॥
सिद्धाचलनी पाजइ चढतां, मरु देवा सुत ध्यासुं ।
घणा दिवस नो अंग उमाहो, ते पामी सुख भास्युं । १ मो०॥
निरमल नीरइ प्रभु नइ अंगइ, कहीय(इ) न्हवण करास्युं ।
केसर चंदन मृगमद घसि नइ, तोरइ देह लगास्युं ॥ २ मो० ॥
पूज करी नइ आगलि बइसी, पांचे अंग नमास्युं ।
भाव धरीनइ मननइ रंगइ, नाभ नंदन गुण गास्युं ॥३ मो०॥
वार २ तुम्ह मुख निरखी, हीयडइ हरखति थास्युं ।
तोरो ध्यांन धरी अति सारो, सकल मिथ्यात विनास्युं ॥४मो०॥
आठ करमनो अंत करीने, दुरगति दूरि गमास्युं ।
चंद कहइ इम मननै रंगइ, तुम्ह ध्यांनइ मन लास्युं ॥५ मो०॥ इति

(दे वचंद्रजी लिखित प में होने से उनका रचित संभव है)

घटना है पास होने की, निकट होने की, यह शारीरिक तल पर भी बड़ी मूल्यवान है। इसलिए गुरु के पास शारीरिक रूप से रहने का बड़ा अर्थ है। अगर हम महावीर के युग में लौट जाएँ, तो महावीर के साथ दस हजार साधु-साध्वियों का समूह चलता था। महावीर के पास होना ही मूल्य था उसका।

क्या अर्थ है इस पास होने का ?

इस पास होने का एक ही अर्थ है कि मेरे 'मैं' की जो आवाज है, वह धीरे-धीरे कम हो जाए। हम जब भी बोलते हैं, तो 'मैं' हमारा केन्द्र होता है। गुरु के पास रहने का अर्थ है : 'मैं' केन्द्र न रह जाए, गुरु केन्द्र हो जाए। महावीर के पास दस हजार साधु-साध्वियां हैं। उनका अपना होना कोई भी नहीं है; महावीर का होना ही सब कुछ है।

बुद्ध एक गाँव के बाहर ठहरे हैं। हजारों भिक्षु-भिक्षुणियाँ उनके पास हैं। गाँव का सम्राट उन्हें मिलने जा रहा है। आम्रकुंज के बाहर आकर उसने अपने वजीरों को कहा, 'मुझे शक होता है, कोई धोखा तो नहीं है ? क्योंकि तुम कहते थे कि हजारों लोग वहाँ ठहरे हुए हैं, लेकिन वहाँ तो जरा भी आवाज नहीं हो रही है। तुम कहते थे बस यह जो आम की कतार है, इसके पीछे वन में वे लोग ठहरे हैं, लेकिन वहाँ जरा भी आवाज नहीं हो रही है, मुझे शक होता है।'

सम्राट ने तलवार बाहर खींच ली और उसने कहा कि 'इसमें कोई षड़यन्त्र तो नहीं है ?'

वजीरों ने कहा, 'आप निश्चित रहें, वहाँ सिर्फ एक ही आदमी बोलता है, बाकी सब चुप हैं। बुद्ध के सिवा वहाँ कोई बोलता ही नहीं। क्योंकि बुद्ध नहीं बोल रहे होंगे इसलिए जंगल में शान्ति है।'

मगर वह जो सम्राट था, (उसका नाम था—अजातुशत्रु। नाम भी हम बड़े मजेदार देते हैं। अजातशत्रु—अर्थात जिसका कोई शत्रु पैदा न हुआ हो। हालांकि शान्ति में भी उसे शत्रु दिखाई पड़ता है—(सन्नाटे में भी !) वह तलवार निकाले ही गया। जब उसने देख लिया कि बुद्ध के पास हजारों भिक्षु चुपचाप बैठे हैं, तब उसने तलवार भीतर की। और उसने पहला प्रश्न यही पूछा, 'इतनी चुप्पी, इतना मौन क्यों है ? इतने लोग हैं, कोई बातचीत नहीं, कोई चर्चा नहीं ! क्या दिन रात ऐसे ही बीत जाते हैं ?'

बुद्ध ने कहा, 'ये लोग मेरे पास होने के लिए यहाँ है। अगर ये बोलते ही रहें तो ये अपने ही पास होंगे। ये अपने को मिटाने यहाँ आये हैं। ये यहाँ हैं

यक्ष दैत्य विष साप, जल थल जीव सहू री ।
सायण डायण भूत, गाजै सींह वहू री ॥७॥
नयडइ आव्यइ दुक्ख, जे मन क्रोध करइरी ।
टालूं दूरइ एह, मन मइं एम धरइ री ॥८॥
एहवउ दुष्ट स्वभाव, जिण रइ चित्त रहइ री ।
आर्त्त अनिष्ट-संयोग, जिनवर तेथि कहइ री ॥९॥
भोग सुहाग विशेष, चित वंछित सुह दाता ।
बांधव मित्र कलत्र, ऋद्धि पितृ वलि माता ॥१०॥
हुयइ इष्ट-वियोग, एहवउ ध्यांन मिलइ री ।
करं कोइ उपाय, जिणसुं इष्ट मिलइ री ॥११॥
इष्ट मिलेवा काज, मन संकल्प वहइ री ।
ध्यांन ए इष्ट वियोग, बीजउ आर्त्त कहइ री ॥१२॥
कास स्वास जर दाह, जरा भगंदर रोगा ।
पित्त श्लेष्म अतिसार, कोष्ठादिक ना योगा ॥१३॥
एहवइ ऊपनइ रोग, मन मइ चिंत करइ री ।
ओखध करः अपार, सुख कारण विचरइ री ॥१४॥
क्रोध मोह मद लुद्ध, मन मइ दुष्ट धरइ री ।
रोग चिंत इण नाम, तीजउ आर्त्त वहइ री ॥१५॥
राज रिद्धि सुख पूर, काम भोग नित चाहइ ।
धन संतान निमित्त, देह कष्ट बहु साहइ ॥१६॥
वासुदेव चक्रवत्ति, सुर किन्नर पद काजइ ।
इह लोक नइ परलोक, सुख वांछा मन छाजइ ॥१७॥

एक सम्बन्ध है बाहर का, जो शरीर से होता है। शरीर कितना ही निकट आ जाए, तो भी दूरी बनी रहती है। शरीर के साथ कोई निकटता हो ही नहीं पाती। कितने ही निकट ले आओ, आलिंगन कर लो, एक तो भी फासला बना ही रहता है। दो शरीर कभी भी एक नहीं हो पाते। हो नहीं सकते, क्योंकि शरीर का होना ही पार्थक्य है। फिर एक और आंतरिक सामिप्य है। सारिपुत्र उसी की बात कर रहा है। वह कह रहा कि अब फासले टूट गये हैं। अब कोई स्पेस, अब कोई जगह बीच में नहीं है। अब मैं नहीं हूँ, बुद्ध ही है।

इससे भी ज्यादा मजेदार घटना घटी है। कहते हैं, महाकाश्यप अपने ही पैर छू लेता था। लोगों को बहुत अजीब लगता होगा। महाकाश्यप बुद्ध का दूसरा शिष्य था; और शायद उनके सारे शिष्यों में अद्भुत था। महाकाश्यप अपने ही पैर छू लेता था। लोगों ने पूछा, 'यह तुम क्या करते हो?' वह कहता, 'बुद्ध के चरण छू रहा हूँ।' लोग कहते, 'यह पैर तुम्हारे हैं।' महाकाश्यप कहता कि 'अब उससे इतनी निकटता हो गई है कि अब यह पैर उन्हीं के ही हैं, वे अब भीतर ही हैं।' महाकाश्यप कहता, 'मैं किसी के भी पैर छूऊँ, बुद्ध के ही पैर हैं।'

इतनी समीपता भी बन सकती है। इस सामीप्य में ही संवाद है।

इसलिए महावीर कहते हैं : 'गुरु के पास रहता हो, उसके निकट होता हो।'

इस निकटता में भौतिक निकटता ही अंतर्निहित नहीं है, आन्तरिक सामीप्य भी है।

'गुरु के इंगितों को ठीक-ठीक समझता हो'।

हम तो गुरु के शब्द को भी ठीक से नहीं समझ पाते, इंगित तो बड़ी और बात है। इंगित का अर्थ है—इशारा; जो कहा नहीं गया है, फिर भी दिया गया है। शायद इतना बारीक है कि कहने में टूट जायेगा। इसलिए कहा नहीं गया है, सिर्फ दिया गया है। शायद इतना सूक्ष्म है कि शब्द उसके सौंदर्य को नष्ट कर दे, स्थूल बना दे।

जो गुरु है, वह धीरे-धीरे शब्दों का सहारा छोड़ता जाता है। जैसे-जैसे शिष्य विनीत होता है, जैसे-जैसे शिष्य झुकता है, वैसे-वैसे गुरु शब्दों का सहारा छोड़ता जाता है। इंगित महत्वपूर्ण हो जाते हैं, इशारे महत्वपूर्ण हो जाते हैं। शब्द भी इशारे हैं—लेकिन बहुत स्थूल, बहुत ऊपरी…।

बुद्ध कैसे चलते हैं, महावीर कैसे बैठते हैं, महावीर कैसे उठते हैं, महावीर कैसे सोते हैं, इन सब में उनके इंगित हैं।

जीव जग तीन मइ छइ किना, जीव मइ तीन जग सार रे ।
जीव वडउ जगत्रय वडउ, जीव जग तीन सिणगार रे ॥ ९
एह सरूप जगत्रय तणउ, चींतवइ चित्त मइ निरय रे ।
तेथि संस्थान-विचय भलउ, पाय चउथउ ध्रम कित्त रे ॥ १०

दूहा—

धरम ध्यांन ध्यायां पछी, सुख शिव पद दातार ।
शुकल ध्यांन ध्यावे भविक, आतम रूप उदार ॥१॥
च्यार पाय तिण शुक्ल ना, पृथक्त्क-वितर्क विचार ।
बीजउ शुक्ल सुहामणउ, एक-तर्क अविचार ॥२॥
तीजउ शुक्ल श्रुतइ कह्यौ, सूक्ष्म-क्रिया प्रतिपाति ।
चउथउ शुक्ल ध्यावइ सदा, छिन्न-क्रिया प्रतिपाति ॥३॥

ढाल—मालीय केरे बाग मइ एह नी

एक द्रव्य परयाय सुं, शुक्लइ मन लावउ लो ॥ अहो०
उतपति थिति इम भंग सूं, तिण मांहि मिलावउ लो । अहो० १।
साते नय दो नय थकी, जग रूप विचारइ लो । अ० ।
तीन योग इक योग सुं, मन मांहि उचारइ लो ।२। अ०
पृथक्‌क-वितर्क विचारते, शुक्ल ध्यांन कहावइ लो । अहो० ।
निश्चय मन ध्यावइ सदा, ते चढतइ दावइ लो । अहो० ।३।
एक वस्तु नय सात सुं, मांहो मांहि मिलावइ लो । अहो०
एह मिलइ दो नय थकी, ए च्यार मिलावइ लो । अहो० ।४।
केवल तदि पामीं करी, ते ध्यांन ज ध्यावइ लो ॥ अ०

आपको पता नहीं है कि आपके कृत्य और भाषा में सम्बन्ध नहीं होता। आपके ओंठ मुस्कराते हैं और आपकी आँखें कुछ और कहती हैं। आप हाथ से हाथ मिलाते हैं और आपके हाथ के भीतर की उर्जा पीछे हटती है। हाथ आगे बढ़ रहे हैं, उर्जा पीछे हट रही है ! आप हाथ मिलाना नहीं चाहते हैं। जब आप हाथ मिलाना नहीं चाहते, तो फिर भीतर की ऊर्जा पीछे हट जाती है। और जब आप हाथ मिला रहे हैं और अगर दूसरा आदमी शरीर की भाषा समझता हो, तो फौरन पहचान जायेगा कि हाथ तो मिलाया गया पर ऊर्जा नहीं मिली, ऊर्जा भीतर खींच ली गई।

क्योंकि हम सभी शरीर की भाषा भूल गए हैं, इसलिए पता नहीं चलता। जरा ख्याल करना अपने कृत्यों में कि जो आप कर रहे हैं, अगर वह नहीं करना चाहते, तो भीतर उससे विपरीत हो रहा है, उसी वक्त हो रहा है।

कोई शरीर की भाषा नहीं जानता; भूल गये हैं हम सब। शायद भूल जाना जरूरी है। अन्यथा दुनिया में दोस्ती बनाना और प्रेम करना मुश्किल हो जायेगा। अगर हमें शरीर की भाषा सीधी-सीधी समझ में आ जाये, तो बड़ा मुश्किल हो जाये। इसलिए हम सबने शब्दों की पर्तें बना ली हैं। उन शब्दों की पर्तों में हम सब जीते हैं।

जब हम किसी आदमी को कहते हैं कि मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ, तो वह बस इतना ही सुनता है, हमारी आँखों की तरफ देखता भी नहीं कि जब ये शब्द कहे गये, तो आँखों ने भी कुछ कहा अथवा नहीं ! असली 'कन्टैन्ट' आँखों में है, शब्दों में नहीं। असली विषय-वस्तु आँखों में है, शब्दों में नहीं। जब ये शब्द कहे गये, तो इस आदमी के रोएँ-रोएँ में क्या पुलक थी ? क्या आनन्द था ? इस कहने में उसके प्राण आनन्दित हुए कि मजबूरी में उसने कह कर कर्तव्य निभाया।

लेकिन यह जानना शायद खतरनाक है। जैसी हमारी सभ्यता है, समाज है, वह धोखे का एक आडम्बर है। इसलिए हम बच्चों को जल्दी ही ठोक-पीट कर, उनकी जो समझ है, उसके ऊपर आरोपण करके उनकी वास्तविक समझ को नष्ट कर देते हैं।

गुरु के पास रह कर फिर शब्दों की भाषा भूलनी पड़ती है। फिर शरीर की भाषा सीखनी पड़ती है; क्योंकि जो गहन है, वह शरीर से ही कहा जा सकता है; वह जो गहन है, वह भाव-भंगिमा से ही कहा जा सकता है।

शुक्ल ध्यांन हिवणां नहीं, इण पंचम दूसम आरइ रे ।
धरम शुकल दोइ ध्यांन सूं, तिण प्रीति घणी मन माहरइ रे ॥३॥
युग प्रधांन जिणचंद ना, शिष्य पाठक गुणे सवाया रे ।
पुन्यप्रधान शिष्य गुण निला, श्री सुमतिसागर उवझाया रे ॥४॥
साधुरंग वाचक वरु, तसु सीस पंडित विख्याता रे ।
राजसार पाठक अछइ, जे जिनमत सूं अति राता रे ॥५॥
ज्ञानधरम शिष्य तेहना, वाचक पदना धारी रे ।
तासु सीस राजहंस×नउ, मुनि राजविमल†सुविचारी रे ॥६॥
तिण ए ध्यांन तणउ रच्यउ, तवन शीतल जिन केरउ रे ।
भणतां गुणतां संपदा, दिन २ उछव अधिकेरउ रे ॥७॥
इति ध्यांन चतुष्क स्तवनं ॥ पं० देवचन्द्र कृतं ॥

लिखतं पं० दुर्गदास मुनिना

(पत्रांक २ नहीं मिला) पत्र ४ पंक्ति ११ अ० ३६।४०

×दीपचंद्रजी का दीक्षावस्था का नाम है ।

†देवचन्द्रजी का दीक्षावस्था का नाम है ।

---

३ लींबडी शान्ति जिन स्थापना स्तवनम्

आवो सजन जन जिनवर वंदन, श्री शान्तिनाथ गुण वृंदा रे ।
जस गुण रागे निज गुण प्रगटे, भाजे भव भय फंदा रे ॥१॥
विश्वसेन अचिरा नो नंदन, पूरण पुन्ये लहीये रे ।
ध्यांन एकत्वे तत्व विशुद्धे, शुद्धातम पद ग्रहीये रे ॥२॥

आकर मेरे चरणों में सिर रखा था और नमस्कार किया था, तो मैंने किस भांति तुम्हारे सिर पर हाथ रख दिया था, काश ! तुम वह समझ लेते, तो सब कुछ समझ में आ गया होता'।

शास्त्र नहीं कह सकते, जो एक इशारा कह सकता है।

महावीर कहते हैं कि 'जो गुरु के इंगितों को समझता हो तथा कार्य-विशेष में गुरु की शारीरिक अथवा मौखिक मुद्राओं को ठीक-ठीक समझ लेता हो, वह मनुष्य विनय-सम्पन्न कहलाता है'।

तो, हमारी तो बड़ी कठिनाई हो जायेगी। हमें तो महावीर चिल्ला-चिल्ला कर, डंका बजा-बजा कर कहें कि ऐसा करो, तो भी हमारी समझ में नहीं आता। अगर हमारी समझ में आता भी है, तो वही आता है, जो हम समझना चाहते हैं। वे क्या कहना चाहते हैं, इससे हमारा कोई लेना-देना नहीं है। हम अपने पर इस बुरी तरह आरूढ़ हैं, हम अपने आपको इस तरह पकड़े हुए हैं कि जो हम समझते हैं, वह हमारी व्याख्या होती है, हमारा 'इन्टरप्रिटेशन' होता है। महावीर क्या कहते हैं, वह हम नहीं समझते। हम जो समझना चाहते हैं, हम जो समझ सकते हैं, वह हम समझ लेते हैं; और हमारी समझ को हम उनके ऊपर आरोपित करके व्याख्या कर लेते हैं। फिर हम उसके अनुसार चलते हैं और हम सोचते हैं कि हम महावीर के अनुसार चल रहे हैं।

नहीं, हम अपने ही अनुसार चलते रहते हैं।

कभी आपने ख्याल किया है, जब मैं यहाँ बोल रहा हूँ, तो मैं एक ही बात बोल रहा हूँ। लेकिन यहाँ जितने लोग हैं, उतनी बातें समझी जा रही हैं। यहाँ हर आदमी अपने भीतर इन्तजाम कर रहा है—समझ रहा है, सोच रहा है, अपनी बुद्धि को जोड़ रहा है, अर्थ निकाल रहा है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हम इतने चालाक हैं कि जो हमारे मतलब का होता है, उसे हम जल्दी से समझ लेते हैं; जो हमारे मतलब का नहीं होता, उसे हम 'बाईपास' कर जाते हैं, उस पर हम ध्यान ही नहीं देते। जिसमें हमारा लाभ होता हो, उसे हम तत्काल पकड़ लेते हैं; जिसमें हमें जरा भी हानि दिखाई पड़ती हो, उसे हम सुनते ही नहीं; उसे हम गुजार जाते हैं। ऐसा नहीं कि हम सुन कर उसे गुजार जाते हैं—हम सुनते ही नहीं, हम उस पर ध्यान नहीं देते; छलांग लगा कर हम आगे बढ़ जाते हैं।
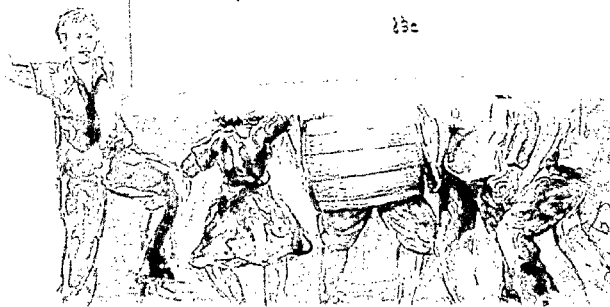
श्रीफज़र्वांधपुर राया, जब तुम्ह दरसण मइ पाया ।
दुख दोहग दूर गमाया, हिव आणंद थया मवाया हो लाल ।२।
मइ योनि सहू अवगाही, तुम्ह सेवा कबहि न साही ।
हिव मइ तुम्ह आण आराही, तुम्ह लीनउ चाह संभारो हो लाल
जब तुम्ह मुख दरसण दीसइ, तब तुम्ह मन अधिकउ हीसइ ।
गणि राजहंस मु सीसइ, कहै देवचंद सुजगीसइ हो लाल ।८।

इति श्री पारर्वनाथ गीतं (स्वयं लिखित पत्र २)

प्रारंभ में दीपचंद कृत लोद्रवा पार्श्व जिन स्तवन गा० १२ पार्श्वस्तवन गा० ८ राजहंस (दीपचंद) कृत इसके बाद उपर्युक्त स्तवन फिर चंदकृत स्तवन है जो प्रारंभ में आ चुका है

---

५ श्री मौनेकादशी नमस्कार

तिहुअण जण आणंद कंद, जय जिणवर सुखकर ।
कल्याणक तिथि मांहि, जेह परमोत्तम सुन्दर ॥
मगसिर सुदी एकादशी, वसी सुगुण मन मांही ।
आराधो पोसह करी, तो पामो सुख नाहि ॥१॥
श्री अरजिन दीक्षा प्रधान, नमि केवल भासन ।
मल्लिनाथ जनम, दीक्षा शुचि वासन ॥
केवल नाण कल्याण, पंच श्री जंबू भरते ।
इम दश क्षेत्रे एक काल, जिन महिमा वरते ॥
अतीत अनागत वर्तमान, कल्याणक सर्व

पाँच रंग परमेष्ठी
सद रंगों से खेल
सद्भा
जैन

और लिख दे, तो सब उपद्रव ही हो जायेगा और जो अर्थ निकलेंगे, वे अनर्थ सिद्ध होंगे।

यहाँ अनर्थ घट रहा है। यह हर आदमी पर घट रहा है। हर आदमी एक भीड़ है। उसमें न मालूम कितने विचार हैं। और जब एक विचार उस भीड़ में घुमता है, तो वह भीड़ तत्काल उस विचार को बदलने में लग जाती है, अपने अनुकूल करने में लग जाती है। जब तक वह विचार अनुकूल न हो जाये, तब तक आपका पुराना मन बेचैनी अनुभव करता है; जब वह विचार अनुकूल हो जाए, तब आप निश्चित हो जाते हैं।

गुरु के पास जब आप जाते हैं, तो गुरु जो विचार देता है, उसको आपके पूर्व विचारों को अनुकूल नहीं बनाना है; बल्कि इस विचार के अनुकूल सारे पूर्व विचारों को बनाना है—तब विनय है—चाहे सब टूटता हो, चाहे सब जाता हो।

आपके पास है भी क्या? हम बड़े मजेदार लोग हैं! अपने को बचाने में लगे रहते हैं; और कभी यह सोचते ही नहीं हैं कि बचाने को है भी क्या?

मेरे पास लोग आते हैं, और वे कहते हैं, 'मेरा विचार तो ऐसा है।' मैं उनसे पूछता हूँ कि 'अगर यह विचार तुम्हें कहीं ले गया हो, तो मजे में पकड़े रहो, मेरे पास आओ ही मत। 'वे कहते हैं कि उनका विचार उन्हें कहीं ले तो नहीं गया है! तो फिर इस विचार को कृपा करके छोड़ देना। जो विचार तुम्हें कहीं नहीं ले गया, उसी विचार को लेकर तुम मेरे पास भी आते हो; और मैं तुमसे जो कहता हूँ, अपने विचार से उसकी भी जाँच करते हो, तो मेरा विचार भी तुम्हें कहीं नहीं ले जायेगा, अगर तुम निर्णायक ही बने रहोगे ...लेकिन लोग सुनते ही नहीं!'

मार्क ट्वेन ने एक मजाक की है। वह एक बड़ा लेखक था, और एक हँसोड़ आदमी था। और कभी कभी हँसने वाले लोग गहरी बातें कह जाते हैं, जो कि रोने वाले लाख रोएँ तो नहीं कह पाते। उदास लोगों से सत्यों का जन्म नहीं होता, उदास लोगों से बीमारियाँ पैदा होती हैं।

मार्क ट्वेन ने कहा है कि 'जब कोई अपनी किताब मेरे पास आलोचना के लिए, 'क्रिटिसिज्म' के लिए भेजता है, तो मैं पहले उसकी किताब पढ़ता नहीं, पहले आलोचना लिखता हूँ; क्योंकि किताब पढ़ने से आदमी अगर प्रभावित हो जाये, तो पक्षपात हो जाता है। इसलिए पहले आलोचना लिख देता हूँ और फिर मजे से किताब पढ़ता हूँ।

श्री वर्धमान स्था

पाँच रंग परमेष्ठी
सद रंगों से खेल

सद्भाव
जैन मह

करने के लिए होते हैं। प्रश्न कुछ समझने के लिए नहीं होते, कुछ समझाने के लिए होते हैं।

अगर शिष्य गुरु को समझाने आया हो, तो कुछ भी होने वाला नहीं है। नदी नाव के ऊपर हो गई, अगर शिष्य गुरु को समझाने आया हो। हांलाकि ऐसे शिष्य खोजना मुश्किल है; जो गुरु को समझाने न आते हो। तरकीब से समझाने आते हैं और फिर भी मन में यह माने चले जाते हैं कि हम शिष्य हैं।

महावीर कहते हैं कि 'उद्धत न हो, नम्र हो; आक्रमक न हो, ग्राहक हो, कुछ लेने आया हो; चपल न हो, स्थिर हो; क्योंकि जितनी चपलता हो, उतना ही ग्रहण करना मुश्किल हो जाता है।'

चपल आदमी का चित्त फूटी बाल्टी जैसा होता है। ग्राहक हो, तो भी किसी काम का नहीं होता। बाल्टी तब तक पानी से भरी हुई दिखाई पड़ती है, जब तक कि वह पानी में डूबी रहे, बाल्टी ऊपर निकालो, तो सब पानी गिर जाता है।

चपल चित्त, छेदवाला चित्त है। वह गुरू के पास बैठा हुआ भी हजार जगह हो आयेगा। बैठा है वहाँ, पर न मालूम कहाँ-कहाँ चक्कर काट आयेगा। जितनी देर वह कहीं और रहा, उतनी देर गुरु ने जो कहा, वह उसे सुनाई नहीं पड़ेगा।

'स्थिर हो, मायावी न हो; सरल हो, किसी तरह का धोखा देने की इच्छा में न हो।

हम सब होते हैं। गुरु के पास जब कोई जाता है, तो वह बताता है कि मैं बिल्कुल ईमानदार हूँ, सच्चा हूँ···पर नहीं; जो हो, वही बताना चाहिए; क्योंकि गुरु को धोखा देने से वह अपने को ही धोखा देगा। यह तो ऐसा हुआ जैसे कोई डॉक्टर के पास जाए, उसे कैंसर हो और कहे कि 'कुछ नहीं, जरा सी फोड़ा-फुन्सी है।'

डॉक्टर को हम धोखा नहीं देते हैं; बीमारी बता देते हैं—वही जो है; तो ही डॉक्टर किसी उपयोग का हो पाता है। गुरु भी चिकित्सक है; उसके पास जाकर सब खोल देना जरूरी है; तो ही निदान हो सकता है, लेकिन हम उसके साथ भी वही धोखा चलाये जाते हैं, जो हम दुनिया भर में चला रहे हैं; उसको भी हम वही दिखाये चले जाते हैं, जो हम नहीं हैं।

इस प्रकार बदलाहट कभी भी सम्भव न होगी। गुरु के पास तो पूर्ण —जो हम हैं, जैसे हम हैं—सब उघाड़ कर रख देने का है, हमें उसमें कुछ

९ मेरे प्रीउ क्यु न आप विचारो ।

कइसे हो, कइसे गुणधारक, क्या तुम लागत प्यारो ।१। टेक ।
तजि कुसंग कुलटा ममता को, मानो वयण हमारो ।
जो कछु भूठ कहे इन में तो, मौकूं सूंस तुम्हारो ।२। मे ।
यह कुनार जगत की चेरी, याको संग निवारो ।
निरमल रूप अनूप अबाधित, आतम गुण संभारो ।३। मे
मेटि अज्ञान क्रोध दसम गुण, द्वादश गुण भी टारो ।
अक्षय अबाध अनंत अनाश्रित, 'राजविमल'पद सारो ।४। मे० ।

---

१० चरित्र सुख वर्णन द्वादश दोधक

पर गुण से न्यारे रहै, निज गुण के आधीन ।
चक्रवर्त्ति तैं अधिक सुखी, मुनिवर चारित लीन ।१।
इह नित इह पर वस्तु की, जिने परिख्या कीन ।
चक्रवर्त्ति तैं अधिक सुखी, मुनिवर चारित लीन ।२।
जिणहुं निज निज ज्ञान सुं, ग्रहे परिख तत्व तीन ।
चक्रवर्त्ति तैं अधिक सुखी, मुनिवर चारित लीन ।३।
दस विध धरम धरइ सदा, शुद्ध ध्यांन परवीन ।
चक्रवर्त्ति तैं अधिक सुखी, मुनिवर चारित लीन ।४।
समता सागर में सदा, भील रहे ज्युं मीन ।
चक्रवर्त्ति तैं अधिक सुखी, मुनिवर चारित लीन ।५।
आसा न धरे काहू की, न कबहूँ पराधीन ।
चक्रवर्त्ति तैं अधिक सुखी, मुनिवर चारित लीन ।६।

लेकिन मार्पा ने कहा कि 'जीवन है अल्प और कोई भरोसा नहीं कि सात परिक्रमाएँ पूरी हो जाएँ! और अगर मैं बीच में मर जाऊँ, नारोपा, तो जिम्मेदारी तुम्हारी कि मेरी ?'

तो नारोपा ने कहा कि 'छोड़ परिक्रमा; पूछ ! परिक्रमा पीछे कर लेना।'

नारोपा ने कहा है कि 'मार्पा जैसा शिष्य फिर नहीं आया।' यह कोई कुतूहल न था, यह तो जीवन का सवाल था। यह कोई कुतूहल नहीं था। यह ऐसे पूछने नहीं चला आया था। जिन्दगी दांव पर थी। जब जिन्दगी दाँव पर होती है, तब जिज्ञासा होती है, और जब ऐसी खुजलाहट होती है दिमाग की, तब कुतूहल होता है।

'किसी का तिरस्कार न करता हो।'

इसलिए नहीं कि कोई तिरस्कार योग्य लोग नहीं हैं जगत् में···काफी हैं, जरूरत से ज्यादा हैं, बल्कि इसलिए कि तिरस्कार करने वाला अपनी ही आत्म-हत्या में लग जाता है। जब आप किसी का तिरस्कार करते हैं, तो सवाल यह नहीं कि वह तिरस्कार योग्य था या नहीं था; सवाल यह है कि किसी का तिरस्कार करने से आप नीचे गिरते हैं। जब आप तिरस्कार करते हैं किसी का, तो आपकी ऊर्जा ऊचाइयाँ छोड़ देती है और निचाइयों पर उतर आती है।

यह बहुत मजे की बात है कि जब आप किसी का तिरस्कार करते हैं, तो आपको भीतर उसी के तल पर उतर आना पड़ता है।

इसीलिए बुद्धिमानों ने कहा है कि मित्र कोई भी चुन लेना, लेकिन शत्रु सोच-समझ कर चुनना; क्योंकि आदमी को शत्रु के तल पर उतर आना पड़ता है। अगर दो आदमी जिन्दगी भर लड़ते रहें, तो आप आखिर में पाएँगे कि उनके गुण एक जैसे हो जाते हैं; क्योंकि जिससे लड़ना पड़ता है, उसके तल पर होना पड़ता है, नीचे उतरना पड़ता है।

इसलिए महावीर कहेंगे कि अगर प्रशंसा बन सके, तो करना; क्योंकि प्रशंसा में ऊपर जाना पड़ता है, निन्दा में नीचे आना पड़ता है। यह सवाल नहीं है कि दूसरा आदमी निन्दा योग्य था, या प्रशंसा योग्य था; सवाल यह है कि जब आप प्रशंसा करते हैं, तो आप ऊपर उठते हैं; और जब आप निन्दा करते हैं, तो आप नीचे गिरते हैं। वह आदमी कैसा था, यह तो निर्णय करना भी आसान नहीं है।

महावीर कहते हैं कि 'किसी का तिरस्कार न करता हो, क्रोध को अधिक समय तक न टिकने देता हो।'

दोई नेत्र पति सांम्हा सदा, देखै न पति नो अंग।
वातालू जीहा विना, मोटा ज्ञान अभंग ॥३॥ क०॥
विचि विचै उज्जल नर मनोहर, भरि साख द्यै हुंकार।
पर कांधइ न चढे कदे, चरण विना चलै सार ॥४॥ क०॥
इक नार सुं जासु वैर छै, वेदै न शीत न ताप।
देवचंद्र भाखइ तेहनौ, मोटां सू मेलाप ॥५॥ क०॥

इति हीयाली संपूर्ण ॥

(हीयाली १ सुमतरंग १ दुर्गदास कृत छह। पत्र १)

(नं० ३-५ को छोड़ सभी रचनायें शाखा भंडार बीकानेर से प्राप्त हुई हैं)

उदय स्वामित्व पंचाशिका

वंदित्तु वद्धमाणं, जिणं च गुरु-राजसार-पय-कमलं।
गइआइसु वुच्छं, समासओ उदय-सामित्तं ॥१॥
तीरिणिं पुम इत्थी, नरतिरि-सुर-निरय-आउगाई-पुव्वी।
वेउव्विदुगं जाई, चौ आईल्लाई सउरल-दुगं ॥२॥
आहार-दुगं संघयण-छक्क, आगाई आइल्ल पंच सुभखगई।
थावर सुमा चउक्कं, आयव-उज्जोय-जिणु-उच्चं ॥३॥
मीसं सम्मं मिच्छ अणचउ, दुहग-दुग वीय कसाय चउ-परवा।
समास एव पयडी, अवहरिऊणा उदय मज्झे ॥४॥
वीसपयड मणुय नवगं, पणिंदिय जाइमाइ दुगमिच्छं।
वज्जिउ नरय ओहो, उवयरि विसुमीस दुगमिच्छे ॥५॥

असल में क्रोध उतनी बीमारी नहीं है, जितना टिका हुआ क्रोध बीमारी है; क्योंकि टिका हुआ क्रोध, भीतर एक स्थायी धुआँ हो जाता है।

कुछ लोग ऐसे हैं, जो क्रोधित नहीं होते; क्योंकि उन्हें क्रोधित होने की जरूरत नहीं है; वे क्रोधित रहते ही हैं। उनको होने वगैरह की आवश्यकता नहीं है, वे हमेशा तैयार ही हैं। वे तलाश कर रहे हैं कि कहीं खूँटी मिल जाए और वे अपने क्रोध को टांग दें। और खूँटी न मिले, तो भी वह खिड़की-दरवाजे पर कहीं न कहीं टांगेंगे, निर्मित कर लेंगे खूँटी···। क्रोध निकल जाता हो। क्षण भर आता हो, तो बेहतर है। वैसा आदमी भीतर क्रोध की पर्तें निर्मित नहीं करता, यह बड़ी महत्व पूर्ण बात है।

महावीर के मुंह से यह बात कि क्रोध को अधिक समय तक न टिकने देता हो, बड़ी महत्वपूर्ण बात है।

'मित्रों के प्रति सद्भाव रखता हो।'

यह बड़ी हैरानी की बात है; हम कहेंगे कि 'मित्रों के प्रति सद्भाव होता ही है।'

नहीं; यह बिलकुल झूठ है। मित्रों के प्रति सद्भाव रखना बड़ी कठिन बात है; क्योंकि मित्र का मतलब है कि जिसको हम जानते हैं, जिसको हम भली-भाँति पहचानते हैं। जिसको हम नहीं पहचानते, उसके प्रति सद्भाव आसान है। जिसको हम जानते हैं, उसके प्रति सद्भाव बड़ा मुश्किल है। मित्रों के प्रति सद्भाव बड़ा मुश्किल है।

मार्क ट्वेन ने कहा है कि 'हे परमात्मा! शत्रुओं से मैं निपट लूंगा, मित्रों से तू मुझे बचाना।'

मित्र बड़ी अद्भुत चीज है। जिसे हम जानते हैं, जिसका सब कुछ हमें पता है, उसके प्रति कैसे सद्भाव रखें?

अज्ञान में सद्भाव आसान है, ज्ञान में मुश्किल हो जाता है। इसलिए जितना कोई हमारे निकट होता है, उतना ही वह दूर भी हो जाता है। और हम मित्रों के सम्बन्ध में भी इधर-उधर की जो बातें करते रहते हैं, वह बताती हैं कि सद्भाव कितना है। पीछे-पीछे हम क्या कहते रहते हैं, उससे पता चलता कि सद्भाव कितना है।

'शास्त्र से ज्ञान पाकर गर्व न करता हो।'

अपमादीये सुओ हुज्ज, पज्जनरेवी अपज्ज विणुओहो ।
इथीसुय आहार दुगे. दुवेद अपज्ज विणु ओहो ॥१७॥
अपजत्तयतिरि समनर. अपज्ज नाणतूणं च नरतियगं ।
उदओतिरिति गुणु उदओ, देवेतिय थीण न पुंवेओ ॥१८॥
नरतिरि निरयाण नवं, एगिंदिय चउदस च संठाणा ।
पण अंतिम थावर चऊ, अपवदुहगति दुस्सरयं ॥१९॥
कुखगई वज्जिहु, सगसयरी ओहमास दुगहीण ।
मिच्छे मिच्छं वाए, उणुसुर पुव्वी विणा तइए ॥२०॥
मीस जुआ संमत्ते. सुर पुव्वी सम्मजू अमीस विणा ।
देवात्थी विणुदेवी, पुरिस विणा सेसओ उच्चं ॥२१॥
एगिंदिएसु पुंपुण, सुर एगिंदिहिण चौजाई ।
उरलोवंगय पणदस, सुभगति जिण चौग दुस्सरयं ॥२२॥
तसजखगई विणुओहे, मिच्छे अस्सीइ थाण सुहमतिगं ।
परघायव दुगमिच्छं, वज्जिय गुणसयरि सासाणे ॥२३॥
विणुसाहरणं पुढवी, साहरणायव विहिण आउसु ।
आयव बिणुवण आयव, दुग साहरणं विणातेउ ॥२४॥
वाउ तसेयवज्जं, एगिंदिसोदयाइपण पगई ।
सगलिंदिये सुचिवलं, वज्जियं ओहोइ ओहुच ॥२५॥
पगिंदिय ओहेपिव, ओराल उवंग कुगइ छेवठ्ठं ।
तरसदुस्सरयं वज्जहु, थावर आयाव साहरणं ॥२६
सुहुम वियलस्सेहो, मणवय जोगेसु नव सयं ओहो ।
पुव्वी चउ अपज्जत्तं, पणिंदिओहे सुथजिका ॥२७॥

किसी के दोष पता भी चल जायें, तो उनकी चर्चा का क्या अर्थ ? आपकी चर्चा से उसके दोष न मिट जायेंगे। हो सकता है, बढ़ जायें। अगर आप सच ही चाहते हैं कि उनके दोष मिट जाएँ, तो उन दोषों की सारे जगत् में चर्चा करते रहने से कोई मतलब नहीं है। लेकिन इस मामले में हम बड़े सृजनात्मक लोग हैं; किसी का जरा भी दोष दिख जाएँ, तो हमारे पास 'मैग्नीफाइंग ग्लास' है, हम इतना बड़ा करके देखते हैं कि सारे ब्रह्माण्ड का विस्तार छोटा मालूम पड़ने लगता है।

सुना है मैंने कि मुल्ला ने अपनी पत्नी को फोन किया। फोन करना पड़ा क्योंकि ऐसी घटना उसके हाथ में लग गई थी। बताया कि पड़ोसी अहमद, अपने मित्र रहमान की पत्नी को लेकर भाग गया है; और दोनों के बच्चे सड़कों पर भीख माँग रहे हैं तथा और भी बहुत सी बातें बताईं।

पत्नी भी रस से भर गई; क्योंकि पत्नियों को वियतनाम में क्या हो रहा है, उससे मतलब नहीं है; 'पड़ोसी की पत्नी कहाँ भाग गई ?' यह उनके लिए बड़ा महत्व पूर्ण है।

पत्नी ने कहा कि 'मुल्ला ! जरा विस्तार में बताओ।'

मुल्ला ने कहा कि 'विस्तार में मत ले जाओ मुझे, जितना मैंने सुना है, उसका तीन-गुना मैं बता ही चुका हूँ। और अब विस्तार में मुझे मत ले जाओ।'

जब किसी का दोष हमें दिखाई पड़ जाए, तो हम तत्काल उसे बड़ा कर लेते हैं; जब दूसरे का दोष बहुत बड़ा हो जाता है, तो अपने दोष बहुत छोटे दिखाई पड़ते हैं; तो बड़ी राहत मिलती है कि 'हम क्या हैं ? हमारे पाप भी क्या हैं ? दुनिया में यह-यह घट रहा है चारों तरफ।' तो हम बड़े पुण्यात्मा मालूम पड़ते हैं।

दूसरे के दोष बड़े कर लेने में अपने दोषों को छोटा कर लेने की तरकीब है। खुद के दोष छोटे करना बुरा नहीं हैं, लेकिन दूसरे के बड़े करके अपने दोष छोटे करने का ख्याल करना पागलपन है।

लेकिन दो तरकीबें हैं; या तो खुद के दोष छोटे करें, तो छोटे होते हैं, या फिर पड़ोसियों के दोष बड़े कर लें, तब भी अपने दोष छोटे दिखाई पड़ने लगते हैं। यह आसान है, क्योंकि पड़ोसियों के दोष बड़े करने में कुछ भी नहीं करना पड़ता।

सुहमेदेसेमिच्छे, सासाणमिसे सुनीय गुण ओहो ।
समजिण जुगा जिणजुत्त, सट्ठिपगइ अहक्खाए ॥ ३६ ॥
अविरय किण्हानीला, काउसु आहारतित्थ विणु ओहो ।
तेऊपम्हासु नारय, तियथावर जाइ चउतित्थं ॥ ४० ॥
तिरि पुव्वी आयविणु, ओहुट्ठ संयस जिण सुक्कोहे ।
केवल दुग जोमीस, समओहदं सोहनाणव्व ॥ ४१ ॥
जिणविणु अवरकुदंसण, थावर दुग आयवं चजाईतिगं ।
साहरणं विण चक्खु, अवरकुसमा जावखीण जिणं ॥ ४२ ॥
चउसय अविरय जुगा, हारग दुग जत्तवेअगे ओहो ।
सजिणाअसम्म कोहा, खायगे ओह पगईओ ॥ ४३ ॥
सुरविणु पुव्वीतियगं, आहार दुगं च सम्म मोहविणा ।
उवसमओहो सयगं, भव्वे ओहुव्व उवयगई ॥ ४४ ॥
मिच्छुव्वय भव्वियरो, सन्नीसु अतित्थजाइ चउभावं ।
थावर दुग साहरणं, विणुतेरसयं ओह पुव्विव्व ॥ ४५ ॥
नरतियगं देवट्ठं, आहार दुगंसुभगतिग सुगइं ।
संघयणागिइदसगं, आइल्लाणं जिणचउक्कं ॥ ४६ ॥
वज्जितुससन्नीसुअ, ओहे मिच्छे असुहुमथीणतिगं ।
आयवपरघा दुगमिच्छा, दुस्सरकुगई विणाबीए ॥ ४७ ॥
पुव्वी विणु आहारे, ओहुव्वय थीण तिगविउव्विदुगं ।
ओरालिय सत्तरसं, आयव परघादुगं मीसं ॥ ४८ ॥
सुस्सर दुस्सरपत्तेय, साहारण खगइ दुगं विणाओहो ।
अणहारे कम्मणए निय निय गुण संभवं भणह ॥ ४९ ॥

नहीं, झूठ के लिए महावीर नहीं कह रहे हैं। कोई आदमी इतना बुरा नहीं है कि बिल्कुल बुरा हो, कोई आदमी इतना भला भी नहीं है कि बिलकुल भला हो। इसलिए चुनाव है। जब आप किसी आदमी की बुराई की चर्चा करते हैं, तो इसका मतलब यह नहीं कि उस आदमी में भलाई है ही नहीं। आपने बुराई चुन ली। जब आप किसी आदमी की भलाई की चर्चा कहते हैं, तब भी यह मतलब नहीं होता है कि उसमें बुराई है ही नहीं। आपने भलाई चुन ली।

महावीर कहते हैं, 'ऐसा बुरा आदमी खोजना कठिन है, जिसमें कोई भलाई न हो;' क्योंकि बुराइयों को टिकने के लिए भलाइयों की जरूरत है। तो तुम चुनाव करना भलाई की चर्चा का। क्यों आखिर ?

क्योंकि भलाई की जितनी चर्चा की जाए, उतनी खुद के भीतर भलाई की जड़ें गहरी बैठने लगती हैं। बुराई की जितनी चर्चा की जाए, उतनी खुद के भीतर बुराई की जड़ें गहरी बैठने लगती हैं। हम जिसकी चर्चा करते हैं, अंततः हम वही हो जाते हैं।

लेकिन हम सब बुराई की चर्चा कर रहे हैं। अगर हम सब अखबार उठाकर देखें, तो पता ही नहीं चलता कि दुनिया में कहीं कोई भलाई भी हो रही है। सब तरफ बुराई हो रही है। सब तरफ चोरी हो रही है। सब तरफ हिंसा हो रही है। अखबार देखकर लगता है कि 'शायद अपने से छोटे पापी जगत् में कोई नहीं हैं।' यह सब जो हो रहा है चारों तरफ, देखकर चेहरे पर एक रौनक आ जाती है। यह सारी बुराइयाँ आप संचित कर रहे हैं, अपने भीतर। यह सारी बुराई आपके भीतर प्रवेश कर रही है।

अगर हमें एक अच्छी दुनिया बनानी हो और एक अच्छे आदमी को जन्म देना हो, तो भलाई संचित करनी चाहिए। भलाई की फिक्र करनी चाहिए। और जब हम बुराई की चर्चा करते हैं, तो हमें पता नहीं है कि वह बुराई का संस्कार हम पर निर्मित होता चला जा रहा है।

'यह आदमी चोर है, वह आदमी चोर है, सारी दुनिया चोर है', तो जिस दिन आप चोरी करने जाते हैं, तो भीतर आपको ऐसा नहीं लगता है कि आप कुछ नया करने जा रहे हैं। 'सभी यही कर रहे हैं'—इस प्रकार चोरी की जड़ मजबूत होती है।

जब आप कहते हैं कि'फलां आदमी अच्छा है', तो आपके भीतर अच्छे का आधार निर्मित होता है। फिर बुराई करने जाते हैं, तो आपको लगता है कि आप क्या कह रहे हैं। 'दुनिया में ऐसा कोई भी नहीं कर रहा है।'

श्री वर्धमान स्था.
पाँच रंग परमेष्ठी
सद रंगों से खेल
सद्भाव
जैन म
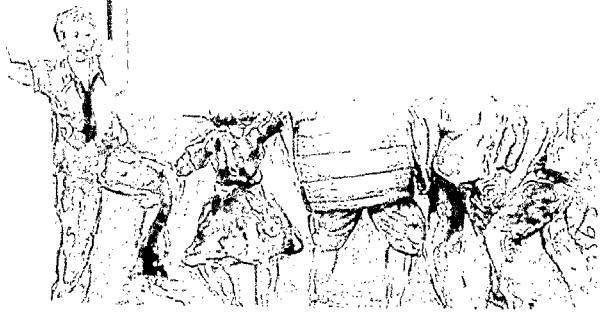
अर्थ में कुलीनता और अभिजात्य का अर्थ है : क्षुद्रता पर ध्यान न देता हो, शालीन हो। क्षुद्रताओं को नजर से बाहर कर देता हो। श्रेष्ठता पर ही ध्यान रखता हो। व्यर्थ को चुनता न हो और दूसरे में श्रेष्ठ होना चाहिए, इसकी तलाश करता हो।

अकुलीन का अर्थ होता है : जो पहले से मान कर बैठा हो कि लोग बुरे हैं। कुलीन का अर्थ है कि जो पहले से मानकर बैठा है कि लोग भले हैं—लोग मूलतः भले हैं, लेकिन कभी-कभी बुरे हो जाते हैं—यह बात और है। अकुलीन का अर्थ है कि लोग बुरे तो हैं ही, कभी-कभी भले हो जाते हैं, यह बात और है।

कुलीन आदमी, अभिजात्य चित्त वाला व्यक्ति, दो दिनों के बीच में एक रात को देखता है। अकुलीन व्यक्ति दो रात के बीच में एक दिन को देखता है। कुलीन व्यक्ति फूलों को गिनता है, काटों को नहीं; और मानता है कि 'जहाँ फूल होते हैं, वहाँ थोड़े काँटे भी होते हैं और उनसे कुछ हर्ज नहीं होता। काँटे भी फूल की रक्षा करते हैं।'

अकुलीन चित्त पहले काँटों की गिनती करता है और जब वह सब काँटों को गिन लेता है, तो कहता है कि 'एक दो फूल से होता भी क्या है? जहाँ इतने काँटे हैं, वहाँ एक-दो फूल धोखा है।'

कुलीनता, अकुलीनता नाम हैं; आप क्या चुनते हैं। श्रेष्ठ का दर्शन—अभिजात्य है। अश्रेष्ठ का दर्शन—क्षुद्रता है।

'अभिजात्य हो, आँख की शर्म रखने वाला स्थिर वृत्ति हो।'

मैंने सुना है कि अकबर के तीन पदाधिकारियों ने राज्य को धोखा दिया, राज्य के खजाने को धोखा दिया। पहले पदाधिकारी को अकबर ने बुला कर कहा कि 'तुमसे ऐसी आशा न थी।'

कहते हैं उस आदमी ने उसी दिन साँझ जा कर आत्महत्या कर ली। दूसरे आदमी को साल भर की सजा हुई और तीसरे आदमी को पंद्रह साल की मिली और सड़क पर नग्न खड़ा करके कोड़े लगवाये। मंत्री बड़े चिन्तित क्योंकि जुर्म एक था और सजाएँ बहुत भिन्न थी।

अकबर से पूछा मन्त्रियों ने, "कुछ समझ में नहीं आता, यह न्याय युक्त

वर्ष 33 अ
श्री वर्धमान
पाँच रंग परमेष्ठ
सद रंगों से खेल
सद्भाव
जैन म

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१२ सितम्बर, १९७२

नौवां प्रवचन

चतुरंगीय-सूत्र

१

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥

कम्माणं तु पहाणए, आणुपुव्वी कयाई उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययन्ति मणुस्सयं ॥

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥

संसार में जीवों को इन चार श्रेष्ठ अंगों का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है : मनुष्यत्व, धर्म-श्रवण, श्रद्धा और संयम (साधना के लिए पुरुषार्थ) ।

संसार में परिभ्रमण करते-करते जब कभी बहुत काल में पाप कर्मों का वेग क्षीण होता है और उसके फलस्वरूप अन्तरात्मा क्रमशः शुद्धि को प्राप्त करता है; तब कहीं मनुष्य का जन्म मिलता है ।

यथार्थ में मनुष्य जन्म उसे ही प्राप्त हुआ जो सद्धर्म का श्रवण कर उस पर श्रद्धा लाता है और तदनुसार पुरुषार्थ कर आस्रव रहित हो अन्तरात्मा पर से समस्त कर्म-रज को झाड़कर फेंक देता है ।

पहले एक दो प्रश्न ।

एक मित्र ने पूछा है, 'कहीं आपने कहा था कि कोई भी बात, जिसका तुम्हारी बुद्धि और चिन्तन से तालमेल न बैठ सके, उसे मत मानना, उसे छोड़ देना; चाहे वह बात कृष्ण की हो या मेरी हो या किसी की भी हो ।'

आपकी बहुत सी बातें प्रीतिकर एवम् श्रेष्ठकर मालूम होती हैं। उनसे जीवन में परिवर्तन करने का यथा-शक्ति प्रयत्न भी करता हूँ, लेकिन शिष्य-भाव सम्पूर्णतय: ग्रहण करने की मेरी क्षमता नहीं है ।'

'मैं आपकी सूचनाओं से फायदा उठा रहा हूँ। अगर मेरी कुछ प्रगति हुई, तो किसी दिन कोई प्रार्थना लेकर, अगर शिष्य-भाव से रहित, मैं आपके समक्ष उपस्थित हो जाऊँ, तो क्या आप मेरी सहायता करेंगे या नहीं ?'

'सतयुग में कृष्ण ने कहा था—'मामेकं शरणं व्रज', सब छोड़ कर मेरी शरण में आ जा। इस युग में ऐसा कोई कहे, तो कहाँ तक कार्यक्षम और उचित होगा ?'

इस सम्बन्ध में दो-चार बातें समझ लेनी साधकों के लिए उपयोगी हैं।

पहली बात तो यह कि अब भी मैं यही कहता हूँ कि जो बात आपकी बुद्धि को उचित मालूम पड़े, आपके विवेक से तालमेल खाए, उसे ही स्वीकार करना; जो बात ताल-मेल न खाये, उसे छोड़ देना, फेंक देना—गुरु की तलाश में भी यह बात लागू है, लेकिन तलाश के बाद यह बात लागू नहीं है—सब तरह से कोशिश करना, सब तरह से बुद्धि का उपयोग करना—सोचना, समझना, लेकिन जब कोई गुरु आपके विवेक से ताल-मेल खा जाये और आपकी बुद्धि कहने लगे कि मिल गई वह जगह, जहाँ सब छोड़ा जा सकता है, तो फिर रुकना मत—फिर छोड़ देना····लेकिन, अगर कोई यह सोचता हो कि एक बार किसी के प्रति शिष्य भाव लेने पर फिर इंच-इंच अपनी बुद्धि को बीच में लाना ही है, तो उसकी कोई भी गति न हो पायेगी; उसकी हालत वैसी हो जायेगी, जैसे

छोटे बच्चे आम की गुठली को जमीन में गाड़ देते हैं और फिर बार-बार जा कर देखते हैं कि अभी तक अंकुर फूटा कि नहीं। उनकी गुठली में कभी भी अंकुर नहीं फुटेगा। जब गुठली को गाड़ दिया, तो फिर थोड़ा धैर्य और प्रतीक्षा करनी होगी; बार-बार उखाड़ कर देखने से अंकुरण नहीं होगा।

तो कृष्ण ने भी जब कहा है—'मामेकं शरणं व्रज', तो इसका मतलब यह नहीं है कि तुम बिना सोचे समझे किसी के भी चरणों में सिर रख देना—पूरी सोच समझ का, सारी बुद्धि का उपयोग कर लेना, लेकिन जब बुद्धि और विवेक कहे कि ठीक वह जगह आ गई, जहाँ सिर झुकाया जा सकता है, तो फिर सिर झुका लेना।

इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। इन दोनों बातों में विरोध दिखाई पड़ता है, लेकिन विरोध है नहीं। अर्जुन ने भी ऐसे ही सिर नहीं झुका दिया था, अन्यथा यह सारी गीता पैदा नहीं हो सकती थी। उसने कृष्ण की सब तरह से परीक्षा कर ली थी; जो भी पूछा जा सकता था, वह उसने पूछ लिया था; तभी वह उनके चरणों में झुका था···लेकिन, अगर कोई यह कहे कि यह खोज जारी ही रखनी है, तो फिर जिज्ञासा तक ही बात रुकी रहेगी और यात्रा कभी शुरू न होगी।

यात्रा शुरू करने का अर्थ यह है, कि जिज्ञासा पूरी हुई। अब हम निर्णय लेते हैं और यात्रा शुरू करते हैं। अन्यथा यात्रा कभी भी नहीं हो सकती।

तो, एक तो दार्शनिक का जगत् है, वहाँ आप जीवन भर जिज्ञासा जारी रख सकते हैं। धार्मिक का जगत् भिन्न है; वहाँ जिज्ञासा की जगह है, लेकिन प्राथमिक। और जब जिज्ञासा पूरी हो जाती है, तो यात्रा शुरू होती है।

दार्शनिक कभी यात्रा पर नहीं निकलता; वह सोचता ही रहता है। धार्मिक भी सोचता है, लेकिन यात्रा पर निकलने के लिए ही सोचता है। और अगर यात्रा पर एक-एक कदम करके सोचते ही चले जाना है, तो यात्रा कभी भी नहीं हो पायेगी।

निर्णय के पहले चिन्तन करें और निर्णय के बाद समर्पण।

इन मित्र ने पूछा है कि गुरु पद की आपकी परिभाषा बड़ी अद्भुत और हृदयंगम प्रतीत हुई, लेकिन शिष्य-भाव को सम्पूर्णतया ग्रहण करने की मेरी क्षमता नहीं है।

सम्पूर्णतया इस बात को ग्रहण करने की क्षमता किसमें है? आदमी का बँटा हुआ है। हम सिर्फ एक स्वर को मानकर जीते हैं। सम्पूर्ण स्वर तो

हमारे भीतर अभी पैदा नहीं हो सकता। वह तो होगा ही तव, जव हमारे भीतर मन के सारे खण्ड विखर जाएँ, अलग हो जाएँ, और एक चेतना का जन्म हो। यह एक चेतना आपके पास अभी है नहीं; इसलिए आप सम्पूर्णतया कोई भी निर्णय नहीं ले सकते। आप जो भी निर्णय लेते हैं, वह प्रतिशत निर्णय होता है। आप तय करते हैं कि इस स्त्री से विवाह करता हूँ; क्या यह सम्पूर्णतया है; सौ प्रतिशत ? सत्तर प्रतिशत होगा, साठ प्रतिशत होगा, नब्बे प्रतिशत होगा, लेकिन दस प्रतिशत हिस्सा अभी भी कहता है कि मत करो; पता नहीं क्या स्थिति वने।

आप जव भी कोई निर्णय लेते हैं, तो उसमें कभी आपके पूरे मन का साथ नहीं होता, क्योंकि पूरे मन जैसी कोई चीज ही आपके पास नहीं है। आपका मन सदा वँटा हुआ है, खण्ड-खण्ड है। इसलिए बुद्धिमान आदमी इसकी प्रतीक्षा नहीं करता कि जव मेरा सम्पूर्ण मन राजी होगा, तव मैं कुछ करूँगा। हाँ, बुद्धिमान आदमी इतनी जरूर फिक्र करता है कि जिस सम्बन्ध में मेरा मन अधिक प्रतिशत राजी है, वह मैं करूँगा। पर मैंने इधर यह अनुभव किया है कि अनेक लोग यह सोचकर कि अभी पूरा मन तैयार नहीं है, इसलिये अल्पमतीय मन के साथ निर्णय कर लेते हैं।

निर्णय तो करना ही पड़ेगा। विना निर्णय के रहना असम्भव है। एक वात तय है कि आप निर्णय करेंगे—चाहे निषेध का, चाहे विधेय का।

एक सज्जन मेरे पास आये और आकर उन्होंने कहा कि मेरा साठ सत्तर प्रतिशत मन तो संन्यास का है, लेकिन तीस चालीस प्रतिशत मन संन्यास का नहीं है इसलिए अभी मैं रुकता हूँ। जव मेरा मन पूरा हो जायेगा, तव मैं निर्णय करूंगा।

मैंने उनसे कहा, 'निर्णय तो तुम कर ही रहे हो, पर रुकने का कर रहे हो। और रुकने के वावत तीस चालीस प्रतिशत मन है; और लेने के वाबत साठ सत्तर प्रतिशत मन है; तो तुम निर्णय अल्पमत के पक्ष में ले रहे हो।'

आप निर्णय लेने से तो रुक ही नहीं सकते। निर्णय तो लेना ही पड़ेगा; उसमें कोई स्वतंत्रता नहीं है। हाँ, आप इस तरफ या उस तरफ निर्णय ले सकते हैं।

जव एक आदमी कहता है कि मैं अभी संन्यास नहीं ले रहा हूँ, तो वह सोचता है कि मैंने निर्णय अभी नहीं लिया। निर्णग तो ले लिया। यह न लेना,

निर्णय है। और न लेने के लिए तीस चालीस प्रतिशत मन था और लेने के लिए साठ सत्तर प्रतिशत मन था। इस निर्णय को मैं बुद्धिमानी पूर्ण नहीं कहूँगा।

फिर एक और मजे की बात है कि जिसके पक्ष में आप निर्णय ले लेते हैं, उसकी शक्ति बढ़ने लगती है; क्योंकि निर्णय समर्थन है। अगर आप तीस प्रतिशत मन के पक्ष में निर्णय लेते हैं कि अभी मैं संन्यास नहीं लूँगा, तो यह निर्णय तीस प्रतिशत को कल साठ प्रतिशत कर देगा और जो आज साठ प्रतिशत मालूम पड़ रहा था, वह कल तीस प्रतिशत हो जायेगा।

तो ध्यान रखना, जब संन्यास लेने का सत्तर प्रतिशत मन हो रहा था, तब आपने संन्यास नहीं लिया; और जब तीस प्रतिशत संन्यास लेने का मन रह जायेगा, तब आप कैसे लेंगे? और एक बात तय है कि सौ प्रतिशत मन आपके पास है नहीं। अगर है, तो निर्णय लेने की कोई जरूरत भी नहीं है।

सौ प्रतिशत मन का मतलब है कि एक स्वर आप के भीतर पैदा हो गया है। वह एक स्वर अंतिम घड़ी में पैदा होता है, जब समाधि को कोई उपलब्ध होता है। समाधि के पहले आदमी के पास सौ प्रतिशत निर्णय नहीं होता। छोटी बात हो या बड़ी, आज सिनेमा देखना है या नहीं—इसमें भी; और परमात्मा के निकट जाना है या नहीं—इसमें भी, आप के पास हमेशा बँटा हुआ मन होता है।

इन मित्र ने कहा है, 'सम्पूर्णतया शिष्य-भाव ग्रहण करने की मेरी क्षमता नहीं है; लेकिन, क्या सम्पूर्णतया शिष्य-भाव से बचने की क्षमता है?

वह भी नहीं है।

क्योंकि वह कहते हैं, 'किसी दिन मैं आप के पास आऊँ प्रार्थना लेकर, कोई प्रश्न लेकर तो क्या आप मेरी सहायता करेंगे?'

दूसरे से सहायता माँगने की बात ही बताती है कि सम्पूर्णतया शिष्य भाव से बचना भी आसान नहीं है, सम्भव नहीं है। निर्णय आप ले ही रहे हैं। पर यह निर्णय शिष्यत्व के पक्ष में न लेकर शिष्यत्व के विपरीत ले रहे हैं। क्योंकि शिष्यत्व के पक्ष में अहंकार को रस नहीं है, अहंकार को कठिनाई है; शिष्यत्व के विपरीत अहंकार को रस है।

उन मित्र से मैं कहना चाहूँगा तथा और सभी से भी कि आप शिष्य-भाव से आएँ, मित्र भाव से आएँ या गुरु भाव से आएँ; मैं आपकी सहायता करूँगा ही, लेकिन आप उस सहायता को ले नहीं पायेंगे। एक बर्तन नदी से कहे कि मैं

ढक्कन वन्द तेरे भीतर आऊँ तो पानी तू देगी या नहीं, तो नदी कहेगी, पानी मैं दे ही रही हूँ; तुम ढक्कन वन्द करके आओ या खुला करके आओ।

नदी का देना ही काफी नहीं है, पात्र को लेना भी पड़ता है। शिष्यत्व का मतलब कुल इतना ही है कि पात्र लेने को आया है; उतनी तैयारी है सीखने की, और तो कोई अर्थ नहीं है शिष्यत्व का।

भाषा बड़ी दिक्कत में डाल देती है; भाषा में ऐसा लगता है कि सवाल ठीक है। "अगर मैं विना शिष्य-भाव लिये आप के पास आऊँ।"

विना शिष्य-भाव लिये पास आ कैसे सकते हैं ! पास आने का मतलव ही शिष्य-भाव होगा। शरीर के पास आ जायेंगे, लेकिन अन्तस् के पास नहीं आ पायेंगे; और विना शिष्य-भाव के आने का अर्थ है कि सीखने की मेरी तैयारी नहीं है; फिर भी आप मुझे सिखायेंगे या नहीं ? मैं खुला नहीं रहूँगा, फिर भी आप मेरे ऊपर वर्षा करेंगे या नहीं ?

वर्षा क्या करेगी ! पात्र ही अगर वन्द हो, उल्टा हो।

बुद्ध ने कहा है : कुछ पात्र वर्षा में भी खाली रह जाते हैं, क्योंकि वे उल्टे जमीन पर रखे होते हैं।

वर्षा क्या करेगी ! झीलें भर जायेंगी, पर छोटा सा पात्र खाली रह जायेगा। पात्र शायद यही सोचेगा कि वर्षा पक्षपातपूर्ण है; मुझे नहीं भर रही है; लेकिन उल्टे पात्र को भरना वर्षा के भी सामर्थ्य के वाहर है।

आज तक कोई भी गुरु उल्टे पात्र में कुछ भी नहीं डाल सका है। वह सम्भव नहीं है। वह नियम के वाहर है। उल्टे पात्र का मतलव ही यह है कि आप की तैयारी पूरी है कि नहीं डालने देंगे।

आपकी इच्छा के विपरीत कुछ भी नहीं डाला जा सकता; और यह उचित भी है कि आपकी इच्छा के विपरीत कुछ भी न डाला जा सके, अन्यथा आपकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाएगी। अगर इच्छा के विपरीत कुछ डाला जा सके, तो आदमी फिर गुलाम होगा। आप की स्वेच्छा आपको खोलती है। आपकी नम्रता आपके पात्र को सीधा रखती है। आपका शिष्य-भाव और आपकी सीखने की आकांक्षा, आप के ग्रहण करने के भाव को वढ़ाती है।

सहायता तो मैं करूँगा ही, लेकिन सहायता होगी कि नहीं, यह नहीं कहा जा सकता; सहायता पहुँचेगी या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। सूरज तो निकलेगा ही, लेकिन आपकी आँखें वन्द होंगी, तो सूरज आपकी आँखों

को खोल नहीं सकता। आँखें खुली होंगी, तो प्रकाश मिल जायेगा; आँखें बन्द होंगी, तो प्रकाश नहीं मिलेगा।

इस मित्र को अगर ऐसा कहें, तो ठीक होगा कि वे सूरज से कहें कि अगर मैं बन्द आँखें तुम्हारे पास आऊँ, तो तुम मुझे प्रकाश दोगे कि नहीं ! सूरज कहेगा कि प्रकाश तो दिया ही जा रहा है। मेरा होना ही प्रकाश का देना है। उस सम्बन्ध में कोई शर्त नहीं है। अगर तुम्हारी आँखें बन्द होंगी, तो प्रकाश तुम तक नहीं पहुँचेगा। प्रकाश आँख के द्वार पर आकर रुक जायेगा। सहायता बाहर पड़ी रह जायेगी। वह भीतर तक नहीं पहुँचेगी। भीतर तक पहुँचने की जो ग्रहणशीलता है, उसी का नाम शिष्यत्व है।

उन मित्र ने पूछा है कि कृष्ण ने कहा था कभी, 'मामेकं शरणं व्रज'। 'आज कोई कहेगा, तो कार्यक्षम होगा कि नहीं ?'

जिन्हें सीखने की अभीप्सा है, उन्हें सदा ही कार्यक्षम होगा; और जिन्हें सीखने की क्षमता नहीं है, उन्हें कभी भी कार्यक्षम नहीं होगा। उस दिन भी कृष्ण अर्जुन से ही कह सके, दुर्योधन से कहने का उस दिन भी कोई उपाय न था।

सतयुग और कलयुग युग नहीं हैं; आपकी मर्जी के नाम हैं। आप अभी भी सतयुग में हो सकते हैं; दुर्योधन तब भी कलयुग में था। सतयुग और कलयुग व्यक्ति की अपनी वृत्तियों के नाम हैं।

अगर सीखने की क्षमता है, तो कृष्ण का वाक्य आज भी अर्थपूर्ण है; नहीं है क्षमता, तो उस दिन भी अर्थ-पूर्ण नहीं था। सीखने की क्षमता बड़ी कठिन बात है। सीखने का हमारा मन नहीं होता। क्योंकि अहंकार को बड़ी चोट लगती है। कल एक मित्र दो विदेशी मित्रों को लेकर मेरे पास आ गये थे। पति-पत्नी थे दोनों और दोनों ईसाई-धर्म के प्रचारक थे। आते ही उन मित्र ने कहा, कि 'आई बीलीव्ह इन द ट्रू गॉड।' 'मेरा सच्चे ईश्वर में विश्वास है।' मैंने उनसे पूछा : 'कोई झूठा ईश्वर भी होता है ?' ईश्वर में विश्वास है—इतना ही कहना काफी है। हर वाक्य के साथ वे बोलते थे, "आई बिलीव्ह इन दिस।' वाक्य ही शुरू होता था, "आई बिलीव्ह इन दिस।" (मेरा इसमें विश्वास है।) मैंने उनसे कहा कि जब आदमी जानता है, तो विश्वास की भाषा नहीं बोलता। कोई नहीं कहता कि सूरज में मेरा विश्वास है। हाँ, अंधे कह सकते हैं कि सूरज में मेरा विश्वास है।

अज्ञान विश्वास की भाषा बोलता है। विश्वास की भाषा, आस्था की भाषा नहीं है। आस्था बोली नहीं जाती, आस्था की सुगन्ध होती है। जब बोला जाता है, तो उसमें आस्था झलकती है। आस्था को सीधा नहीं बोलना पड़ता।

...मैंने उनसे कहा हर वाक्य में यह कहना कि मेरा यह विश्वास है, बताता है कि भीतर गहरा अविश्वास है, तो वे चौंक गये और उन्होंने अपने चित्त के द्वार बन्द कर लिये। उन्होंने मुझे सुनना बन्द कर दिया। फिर वे जोर-जोर से बोलने लगे, ताकि मैं जो बोल रहा हूँ वह उन्हें सुनाई न पड़े। जब मैं बोलता था, तब वह भी बोलते थे। फिर वे अनर्गल बोलने लगे; क्योंकि जब द्वार कोई बन्द कर लेता है, तो संगतियाँ खो जाती हैं। फिर तो बड़ी मजेदार बातें हुईं। वे कहने लगे, "ईश्वर प्रेम है।" मैंने उनसे पूछा, "फिर घृणा कौन है?" तो वे कहने लगे, "शैतान है।" तो मैंने पूछा, "शैतान को किसने बनाया?" उन्होंने कहा, "ईश्वर ने।" तो फिर मैंने कहा, "सच्चा पापी कौन है? शैतान घृणा बनाता है, और ईश्वर शैतान को बनाता है। फिर असली 'कलप्रिट', असली उपद्रवी कौन है? फिर तो ईश्वर ही फँसेगा और अगर ईश्वर ही शैतान बनाता है, तो तुम कौन हो शैतान के खिलाफ जाने वाले? और जा कैसे पाओगे?"

मगर नहीं, फिर तो उन्होंने सुनना-समझना बिल्कुल बन्द कर दिया। उन्होंने होश ही खो दिया।

हम अपने मन को बिल्कुल बन्द कर ले सकते हैं; और जिन लोगों को भी वहम हो जाता है कि वे जानते हैं, उनका मन बन्द हो जाता है।

शिष्य-भाव का अर्थ है: अज्ञानी के भाव से आना। शिष्य-भाव का अर्थ है कि मैं नहीं जानता इसलिए सीखने आ रहा हूँ। मित्र-भाव का अर्थ है कि हम भी जानते हैं; तुम भी जानते हो; थोड़ा लेन-देन होगा। गुरु-भाव का अर्थ है: तुम नहीं जानते, मैं जानता हूँ; मैं सिखाने आ रहा हूँ।

अहंकार को बड़ी कठिनाई होती है सीखने में। सीखना बड़ा अप्रीतिकर मालूम पड़ता है। इसलिए कृष्ण का वचन ऐसा लगेगा कि इस युग के लिए नहीं है। लेकिन युग की क्यों चिन्ता करते हैं? असल में ऐसा लगता होगा कि मेरे लिए नहीं, इसलिए युग की बात उठती है। अगर मेरे लिए नहीं है, तो फिर मुझे दूसरे से सीखने की बात ही छोड़ देनी चाहिये।

दो ही उपाय हैं: सीखना हो तो शिष्य-भाव से सीखा जा सकता है; न सीखना हो, तो फिर सीखने की बात ही छोड़ देनी चाहिये। दो में से कोई एक विकल्प है: या तो मैं सीखूँगा ही नहीं; अपने अज्ञान से राजी रहूँगा; कोशिश करता रहूँगा अपनी; कुछ हो जायेगा, तो हो जायेगा; नहीं होगा, तो नहीं होगा; लेकिन, दूसरे के पास सीखने नहीं जाऊँगा—यह भी 'ऑनेस्ट' है; यह

भी बात ईमानदारी की है। या फिर जब दूसरे के पास सीखने जाऊँगा, तो फिर सीखने का पूरा भाव लेकर जाऊँगा—यह बात भी ईमानदारी की है। पर हमारे युग की, कलयुग की कोई खूबी है, तो वह है—बेईमानी। बेईमानी का मतलब यह है कि हम दोनों नावों पर पैर रखे हैं। मुझे एक मित्र बार-बार पत्र लिखते हैं कि 'मुझे आपसे संन्यास लेना है, लेकिन आपको मैं गुरु नहीं बना सकता।'

'तो फिर मुझसे संन्यास क्यों लेना है! गुरु बनाने में क्या तकलीफ आ रही है? और अगर तकलीफ आ रही है, तो संन्यास क्यों लेना? खुद को ही संन्यास दे देना चाहिये, किसी से क्यों लेना? कौन रोकेगा तुम्हें; दे दो अपने को संन्यास।'

लेकिन तब भीतर का खालीपन भी दिखाई पड़ता है, अज्ञान भी दिखाई पड़ता है; उसको भरने के लिए किसी से सीखना भी है और यह भी स्वीकार नहीं करना है कि किसी से सीखा है।

स्वीकृति का कोई गुरु को मोह नहीं होता, कि आप स्वीकार करें कि उससे सीखा। पर स्वीकृति की जिसकी तैयारी नहीं है, वह सीख नहीं पाता; यह अड़चन है। इसलिए कृष्णमूर्ति का आकर्षण बहुत कीमती हो गया; क्योंकि वह आकर्षण हमारी बेईमानी के बड़े अनुकूल है।

कृष्णमूर्ति कहते हैं : मैं तुम्हारा गुरु नहीं; मैं तुम्हें सीखाता नहीं; वह यह भी कहते हैं कि मैं जो बोल रहा हूँ, वह कोई शिक्षा नहीं है, वह संवाद है। तुम सुननेवाले हो और मैं बोलने वाला हूँ; ऐसा नहीं। यह संवाद है, हम दोनों का।

कृष्णमूर्ति को लोग चालीस-चालीस साल से सुन रहे हैं। उनकी खोपड़ी में कृष्णमूर्ति के शब्द भर गये हैं। यह बिलकुल 'ग्रामाफोन रिकॉर्ड' हो गये हैं। वे वही दोहराते हैं, जो कृष्णमूर्ति कहते हैं। सीखे चले जा रहे हैं उनसे और फिर भी यह नहीं कहते कि हमने उनसे कुछ सीखा है।

एक देवी उनसे बहुत कुछ सीख कर कुछ बोलती रहती हैं। बहुत मजेदार घटना घटी कि उन देवी को कृष्णमूर्ति के ही मानने वाले लोग यूरोप और अमेरिका ले गये। उनके ही मानने वाले लोगों ने उनकी छोटी गोष्ठियाँ रखीं। वे लोग बड़े हैरान हुए; क्योंकि वह देवी बिल्कुल 'ग्रामाफोन रिकॉर्ड' हैं; वह वही बोल रही हैं, जो कृष्णमूर्ति बोलते हैं।

लेकिन कोई कितना ही 'ग्रामाफोन रिकॉर्ड' हो जाये, 'कार्बन-कॉपी' ही होता है, 'ओरिजिनल' तो हो नहीं सकता; कोई उपाय नहीं है।

तो जिन मित्रों ने सुना, उन्होंने कहा कि आप ठीक कृष्णमूर्ति की बात कह रही हैं। आप उनका ही प्रचार कर रही हैं, तो उनको बड़ा दुख हुआ। उन्होंने कहा कि मैं उनका प्रचार नहीं कर रही हूँ; यह तो मेरा अनुभव है। उन मित्रों ने कहा कि 'इसमें एक शब्द आपका नहीं है, यह आपका अनुभव कैसा! चुकता उधार है।'

तो वह कृष्णमूर्ति के पास गई। उन देवी ने ही मुझे यह बताया है। कृष्णमूर्ति से जाकर उन्होंने कहा कि 'लोग कहते हैं कि जो भी मैं बोल रही हूँ, वह मैं आप से सीख कर बोल रही हूँ; पर मैं तो अपने भीतरी अनुभव से बोल रही हूँ। आप ही मुझे बताइये कि मैं आप की बात बोल रही हूँ कि अपने भीतरी अनुभव से बोल रही हूँ।'

कृष्णमूर्ति जैसा विनम्र आदमी क्या कहेगा। कृष्णमूर्ति ने कहा, "बिलकुल ठीक है, अगर तुम्हें लगता है कि तुम अपने अनुभव से बोल रही हो, तो बिलकुल ठीक है।'

यह 'सर्टिफिकेट' हो गया।

अब वह देवी कहती फिरती हैं कि कृष्णमूर्ति ने कहा है कि तुम अपने अनुभव से बोल रही हो।

तुम्हारे अनुभव के लिए भी कृष्णमूर्ति के 'सर्टीफिकेट' की जरूरत है; तभी वह प्रमाणित होता है!

शब्द कृष्णमूर्ति के, प्रमाणपत्र कृष्णमूर्ति का और इतनी विनम्रता भी नहीं कहने की, कि मैंने आपसे सीखा है।

यह है हमारी बेईमानी।

यह तो उचित है कि गुरु कहे कि मैं तुम्हारा गुरु नहीं, पर यह उचित नहीं है कि शिष्य कहे कि मैं तुम्हारा शिष्य नहीं।

क्यों ?

क्योंकि इन दोनों के बीच औचित्य का एक ही कारण है : अगर गुरु कहे कि मैं तुम्हारा गुरु हूँ, तो यह भी अहंकार की भाषा है; और शिष्य अगर कहे कि मैं तुम्हारा शिष्य नहीं हूँ, तो यह भी अहंकार की भाषा है।

गहरा ताल-मेल तो वहाँ होता है, जहाँ गुरु कहता है कि मैं कैसा गुरु और जहाँ शिष्य कहता है कि मैं शिष्य हूँ; वहाँ मिलन होता है। लेकिन हम बेईमान हैं। जब गुरु कहता है कि मैं तुम्हारा गुरु नहीं, तब वह इतना ही कह रहा है कि मेरा अहंकार तुम्हारे ऊपर रखने की कोई भी जरूरत नहीं है। लेकिन हम बड़े प्रसन्न होते हैं। तब हम कहते हैं कि बिलकुल ठीक है; जब तुम ही गुरु नहीं हो, तो हम कैसे शिष्य ! बात ही खतम हो गई।

हम ऐसे गुरु को मानते है, जो चिल्ला कर, हमारी छाती पर खड़े होकर कहे कि 'मैं तुम्हारा गुरु हूँ।'

वैसा गुरु व्यर्थ है, जो आप से चिल्ला कर कहता है, 'मैं तुम्हारा गुरु हूँ।' जो दूसरे को सिखाने में भी अपने अहंकार का पोषण कर रहा हो, वह गुरु होने के योग्य नहीं है।

इसलिए जो गुरु कहे कि 'मैं तुम्हारा गुरु हूँ,' वह गुरु होने के योग्य नहीं है। जो गुरु कहे, 'मैं तुम्हारा गुरु नहीं,' वह गुरु होने के योग्य है। लेकिन जो शिष्य कहे कि 'मैं शिष्य नहीं हूँ,' वह शिष्य होने के योग्य नहीं रह जाता है। जो शिष्य कहे कि 'मैं शिष्य हूँ—पूरे भाव से।'

पूरे भाव का मतलब जितनी मेरी सामर्थ्य है, उतना। पूरे का मतलब, सम्पूर्णतया नहीं है; पूरे का मतलब—जितनी मेरी सामर्थ्य है। मेरे अत्यधिक मन से मैं समर्पित हूँ।

ऐसा शिष्य और ऐसा गुरु। गुरु जो इन्कार करता हो, गुरुत्व से, शिष्य जो स्वीकार करता हो, शिष्यत्व को; उन दोनों के बीच सामिप्य घटित होता है। वह निकटता जो महावीर ने कही है वह ऐसे समय घटित होती है। और तब है मिलन; जब सूरज जबरदस्ती किरणें फेंकने को उत्सुक नहीं होता, बल्कि चुपचाप फेंकता रहता है; और जब आँखें जबरजस्ती सूरज को भीतर ले जाने

की पागल चेष्टा नहीं करती, चुप-चाप खुली रहती है। जब आंखें कहती हैं, हम पी लेंगे प्रकाश को और सूरज को पता नहीं कि वह प्रकाश दे रहा है, तब मिलन घटित होता है। अगर सूरज कहे कि मैं प्रकाश दे रहा हूं, तो आक्रमण हो जाता है। और शिष्य अगर कहे कि मैं प्रकाश लूंगा नहीं, तुम दे देना, तो सुरक्षा शुरु हो जाती है। सुरक्षित शिष्य तक कुछ भी नहीं पहुंचाया जा सकता। दिया जा सकता है, पर पहुंचेगा नहीं।

एक बात समझ लेनी चाहिए; जो मुझे पता नहीं है, उसे जानने के दो ही उपाय हैं: या तो मैं खुद ही कोशिश करता हूं, जो कि आसान नहीं है। अति कठिन है यह भी। या फिर मैं किसी का सहारा ले लूं। यह भी आसान नहीं है। अति कठिन है यह भी।

अपने ही पैरों पर चलने की तैयारी हो, तो फिर संकल्प की साधनाएं हैं, समर्पण की नहीं। तब कितना ही अज्ञान में भटकना पड़े। सब सहायता से बचना है। सहायता की खोज में नहीं जाना है। क्योंकि सहायता की खोज में जाने का मतलब ही है कि समर्पण की शुरुआत हो गई। तब कहीं से सहायता मिलती हो, तो द्वार बन्द कर लेना है। कहना है कि मर जाऊंगा, लेकिन कहीं कोई सहायता लेने नहीं जाऊंगा।

इसे हिम्मत से पूरा करना। यह बड़ा कठिन मामला है। अगर सहायता लेनी है, तो फिर समर्पण का भाव होना चाहिए। फिर संकल्प छोड़ देना चाहिए। जो संकल्प और समर्पण दोनों की नाव पर खड़ा होता है, वह बुरी तरह डूबता है। और हम सब दोनों नाव पर खड़े हैं। इसलिए हम कहीं पहुंचते नहीं।

दोनों नावों की यात्रा-पथ अलग है; और दोनों नावों की साधना-पद्धतियाँ अलग हैं; और दोनों नावों की पूरी भाव-दशा अलग है—इसे ख्याल रखें।

● अब सूत्र।

महावीर ने कहा है: 'संसार में जीवों को इन चार श्रेष्ठ अंगों का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है: मनुष्यत्व, धर्म-श्रवण, श्रद्धा और संयम (साधना) के लिए पुरुषार्थ।

मनुष्यत्व का अर्थ केवल मनुष्य हो जाना नहीं है, ऐसे तो वह अर्थ भी अभिप्रेत है। मनुष्य-चेतना तक पहुंचना भी एक बड़ी लम्बी यात्रा है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि पहला प्राणी समुद्र में पैदा हुआ और मनुष्य तक आया, मछली से मनुष्य तक यात्रा करने में करोड़ों वर्ष लगे।

डार्विन के बाद भारतीय-धर्मों की गरिमा बहुत निखर जाती है। डार्विन के पहले ऐसा लगता था कि यह बात काल्पनिक है कि आदमी तक पहुँचने में लाखों-लाखों वर्ष लगते हैं, क्योंकि पश्चिम में ईसाइयत ने एक ख्याल दिया, जो कि बुनियादी रूप से अवैज्ञानिक है। वह था विकास विरोधी दृष्टि-कोण; कि परमात्मा ने सब चीजें बना दीं—आदमी बना दिया, घोड़े बना दिये, जानवर बना दिये—छः दिन में सारा काम पूरा हो गया और सातवें दिन परमात्मा ने विश्राम किया।

छः दिन में सारी सृष्टि बना दी; यह बचकाना ख्याल है। भारतीय-धर्म इस लिहाज से बहुत गहरे और वैज्ञानिक हैं। डार्विन के बहुत पहले भारत जानता रहा है कि चीजें निर्मित नहीं हुई, विकसित हुई हैं। हर चीज विकसित हो रही है। आदमी आदमी की तरह पैदा नहीं हुआ है। आदमी पशुओं से, पौधों से विकसित होकर आया है।

भारत की धारणा थी कि आत्मा विकसित हो रही है, चेतना विकसित हो रही है। डार्विन ने पहली दफा पश्चिम में ईसाइयत को धक्का दे दिया और कहा कि सृजन नहीं, विकास हुआ है। 'क्रियेशन' की बात गलत है, 'इव्वोल्यूशन' की बात सही है। सृष्टि कभी बनी नहीं, सृष्टि निरन्तर बन रही है। सृष्टि एक क्रम है बनने का; यह कोई पूरा नहीं हो गया। इतिहास समाप्त नहीं हो गया। कहानी का अन्तिम अध्याय लिख नहीं लिया गया; लिखा जाने को है। हम मध्य में हैं; पीछे बहुत कुछ हुआ है और आगे शायद उससे भी अनन्त-गुना बहुत कुछ होगा।

लेकिन डार्विन था वैज्ञानिक इसलिए उसके लिए चेतना का तो कोई सवाल नहीं था। उसने मनुष्य-शरीर के अध्ययन से तय किया था कि शरीर विकसित हुआ है। यह शरीर भी धीरे-धीरे, लाखों साल के क्रम में यहाँ तक पहुँचा है।

डार्विन ने आदमी के शरीर का सारा विश्लेषण किया और पशुओं के शरीर का अध्ययन किया और तय किया कि पशु और आदमी के शरीर में क्रमिक सम्बन्ध है।

बड़ा दुखद लगा लोगों को। कम से कम पश्चिम में ईसाइयत को तो बहुत पीड़ा हुई; क्योंकि ईसाइयत सोचती थी कि ईश्वर ने आदमी को बनाया और डार्विन ने कहा कि आदमी जो है, वह बन्दर का विकास है। कहाँ ईश्वर पिता था और कहाँ बन्दर पिता सिद्ध हुआ।

डार्विन ने शरीर के बावत सिद्ध कर दिया कि शरीर क्रमशः विकसित हो रहा है और आज भी आदमी के शरीर में पशुओं के सारे लक्षण मौजूद हैं। आज भी आप चलते हैं, तो आपके बाएँ पैर के साथ दायां हाथ हिलता है, हालांकि हिलने की कोई जरूरत नहीं है; लेकिन कभी आप चारों हाथ पैर से चलते थे, यह उसका लक्षण है, जो शेष रह गया है।

आप दोनों हाथ रोक कर भी चल सकते हैं। दोनों हाथ काट दिए जायें, तो भी चल सकते हैं। चलने में दोनों हाथों से कोई लेना-देना नहीं है। लेकिन जब बायाँ पैर चलता है, तो दायाँ हाथ आगे जाता है; जैसा कि कुत्ते का जाता है, बन्दर का जाता है, बैल का जाता है।

वे चार से चलते हैं, आप दो से चलते हैं; लेकिन आप चार से कभी चलते रहे हैं, इसकी खबर देते हैं। वह दो हाथों की बुनियादी आदत अब भी पैर के साथ चलने की है।

आदमी के सारे अंग पशुओं से मेल खाते हैं। थोड़े बहुत हेर-फेर हुए हैं, लेकिन बहुत फर्क नहीं हुआ है। जब आप क्रोध करते हैं, तो अभी भी आप दाँत पीसते हैं। हालांकि ऐसा करने की कोई जरूरत नहीं है। जब आप क्रोध में आते हैं, तो आप के नाखून नोचने को, फाड़ने को उत्सुक हो जाते हैं। आपकी मुट्ठियाँ बँध जाती हैं। यह लक्षण है इस बात का कि कभी आप नाखून और दाँत से हमला करते रहते हैं और अब भी वही कर रहे हैं। अब भी कोई फर्क नहीं पड़ा है। अब इस बात की जरूरत नहीं रह गई है, लेकिन वही पुरानी आदत अभी तक काम कर रही है।

पश्चिम का एक बहुत विचारशील आदमी था एलेक्जेन्डर। उसने कहा है कि क्रोध जब आता है, तो टेबल के नीचे पाँच बार अगर जोर से मुट्ठी बाँधी और खोली जाये, तो क्रोध विलीन हो जायेगा।

करके आप देखना, वह सही कहता है। जब आप जोर से मुट्ठी बाँधेंगे और खोलेंगे, तो आप अचानक पायेंगे कि अब सामने के आदमी पर क्रोध करने की कोई जरूरत नहीं है, क्रोध विलीन हो गया है; क्योंकि शरीर की आदत पूरी हो गई है। जब क्रोध पैदा होता है, तब 'एड्रीनल' और दूसरे रस शरीर में छूटते हैं, तो वह हाथ के फैलाव और सिकुड़ाव से विकसित हो जाते हैं, बाहर निकल जाते हैं और आप हल्के हो जाते हैं।

आपको पता है; आज भी आप के पेट में कोई जरा गुदगुदा दे, तो आपको हँसी छूटने लगती है। गले में छूटती है, पेट में छूटती है, और कहीं क्यों नहीं छूटती ?

डार्विन ने बताया है कि पशुओं के वे हिस्से, जहाँ हमला किया जाता है, संवेदन-शील होते हैं। आज आपके पेट पर कोई हमला नहीं कर रहा है, लेकिन छूने से ही आप सजग हो जाते हैं; क्यों कि वह खतरनाक जगह है। आप पर कभी वहीं से हमला किया जाता था, वहीं से हिंसा होती थी, वहीं से आपके प्राण लिये जा सकते थे। हिस्से संवेदनशील हैं, इसलिए आपको गुदगुदी छूटती है। गुदगुदी का मतलब है कि बहुत 'सेन्सिटिव' है जगह। जरा सा स्पर्श और बेचैनी शुरू हो जाती है।

शरीर के अध्ययन से सिद्ध हुआ कि शरीर के लिहाज से आदमी पशुओं के साथ जुड़ी हुई एक कड़ी है। डार्विन ने आधा काम पूरा कर दिया है और पश्चिम में डार्विन के बाद ही महावीर, बुद्ध और कृष्ण को समझा जा सकता था, उसके पहले नहीं। जब शरीर भी विकसित होता है, तो महावीर की बात सार्थक मालूम पड़ती है कि यह चेतना जो भीतर है, यह भी विकसित हुई है। यह अचानक पैदा नहीं हो गई है। इसका भी विकास हुआ है। पशुओं से, पौधों से हम आदमी तक आए हैं। इसका मतलब हुआ कि दोहरे विकास चल रहे हैं। शरीर भी विकसित हो रहा है और चेतना भी विकसित हो रही है; दोनों विकसित हो रहे हैं।

मनुष्य अब तक इस पृथ्वी पर सबसे ज्यादा विकसित प्राणी है। उसके पास सर्वाधिक चेतना है और सबसे ज्यादा संयोजित शरीर है। इसलिए महावीर कहते हैं कि मनुष्य होना दुर्लभ है।

आप शिकायत भी तो नहीं कर सकते। अगर आप कीड़े-मकोड़े होते, तो किसको कहने जाते कि मैं मनुष्य क्यों नहीं हूँ। आपके पास क्या उपाय है कि अगर आप कीड़े-मकोड़े होते, तो मनुष्य हो सकते! यह मनुष्य होना इतनी बड़ी घटना है कि हमारे ख्याल में भी नहीं आती।

काफ्का ने एक कहानी लिखी है कि एक पादरी रात सोया और सपने में उसे ऐसा लगा कि वह एक कीड़ा हो गया है। सपना इतना गहन था कि उसे ऐसा भी नहीं लगा कि सपना देख रहा है; उसे लगा कि वह जाग गया है और वस्तुतः कीड़ा हो गया है तब उसे बड़ी घबड़ाहट हुई कि अब क्या होगा! अपने हाथों की तरफ उसने देखा, तो वहाँ हाथ नहीं हैं, कीड़े की टाँगें हैं। अपने शरीर की तरफ उसने देखा तो वहाँ आदमी का शरीर नहीं है, कीड़े की देह है। भीतर चेतना तो आदमी की है, लेकिन चारों तरफ देह कीड़े की है।

तब वह पछताने लगा कि अब क्या होगा। आदमी की भाषा अब समझ में नहीं आती, क्योंकि कान कीड़े के हैं। चारों तरफ का जगत् अब बिल्कुल बेबूझ हो गया, क्योंकि आँखें कीड़े की हैं। भीतर सिर्फ होश रह गया थोड़ा सा कि मैं आदमी हूँ।

तब उसे पहली दफे पता चला कि मैंने कितना गवाँ दिया। आदमी रह कर मैं क्या-क्या जान सकता था। उसे अब मैं कभी भी नहीं जान सकूंगा, क्योंकि अब कोई भी उपाय नहीं रहा।

अब वह तड़पता है, चीखता है, चिल्लाता है, लेकिन कोई उसकी बात नहीं सुनता। उसकी पत्नी पड़ोस से गुजर रही है, उसका पिता पास से गुजर रहा है, लेकिन उस कीड़े की कौन सुनता है। उसकी भाषा उनकी समझ में नहीं आती। वे क्या कह रहे हैं, क्या सुन रहे हैं, उसकी समझ में नहीं आता।

उसका संताप हम समझ सकते हैं—थोड़ी कल्पना करेंगे; अपने को उसकी जगह रखेंगे, तो उसका संताप हम समझ सकते हैं।

इसलिए महावीर ने कहा है—'प्राणियों के प्रति दया...' प्राणियों का संताप समझो। उनके पास भी तुम्हारे जैसी चेतना है, लेकिन उनका शरीर बहुत अविकसित है। एक चींटी को ऐसे ही पैर से दबा कर मत निकल जाओ; तुम्हारे ही जैसी चेतना है वहां, शरीर भर अलग है। तुम जैसा ही विकसित हो सके, ऐसा ही जीवन है वहाँ, लेकिन शरीर का उपकरण भिन्न है।

...इसलिए जीव दया पर महावीर का इतना जोर है, पर वह सिर्फ अहिंसा के कारण नहीं है। उसके कारण, बहुत गहरे और आध्यात्मिक हैं। वह जो तुम्हारे पास चलता हुआ कीड़ा है, वह तुम्हीं हो। कभी तुम भी वही थे। कभी तुम भी वैसे सरक रहे थे। एक छिपकली की तरह, एक चींटी की तरह, एक बिच्छू की तरह तुम्हारा जीवन था। आज तुम भूल गये हो। तुम आगे निकल आये हो। लेकिन जो आगे निकल जाये और पीछे वाले को भूल जाये, उस आदमी के भीतर कोई करुणा, कोई प्रेम, कोई मनुष्यत्व नहीं है।

महावीर कहते हैं: यह जो दया है—पीछे की तरफ, यह अपने ही प्रति है। कल तुम ऐसी ही हालत में थे। तुम्हें पैर के नीचे दबा दिया होता, तो तुम इनकार भी नहीं कर सकते थे। तुम यह भी नहीं कह सकते थे कि मेरे साथ क्या किया जा रहा है!

मनुष्यत्व, हमें लगेगा कि मुफ्त मिला हुआ है। हमें लगेगा कि इसमें क्या बात है दुर्लभ होने की; क्योंकि हमें किसी भी दूसरी स्थिति का कोई स्मरण नहीं रह गया। महावीर ने जिनसे यह कहा था, महावीर उन्हें साधना कराते थे और उन्हें पिछले जन्म का स्मरण कराते थे। जब किसी आदमी को याद आ जाता था कि मैं पूर्व-जन्म में हाथी था, घोड़ा था, गधा था या वृक्ष रहा हूँ कभी, तब उसे पता चलता था कि मनुष्यत्व दुर्लभ है। तब उसे पता चलता था कि घोड़ा रह कर, गधा रह कर, बिच्छू रह कर, वृक्ष रह कर मैंने कितनी कामना की थी कि कभी मनुष्य हो जाऊँ, तो मुक्त हो जाऊँ, इस सब उपद्रव से। और आज जब मैं मनुष्य हो गया हूँ, तो कुछ भी नहीं कह रहा हूँ।

अतीत हमें विस्मृत हो जाता है, उसके कई कारण हैं। उसका बड़ा कारण तो यह है कि पशु जीवन की स्मृतियों को पुनर्स्मरण करने में मनुष्य का मस्तिष्क असमर्थ हो जाता है। पशु जीवन का अनुभव विस्मृत हो जाता है, क्योंकि उस जीवन की भाषा भिन्न है। आदमी की भाषा से उसका कोई ताल-मेल नहीं रहता, इसलिए सब भूल जाता है। जिनको भी स्मरण आता है पिछले जन्मों का, उनमें से कोई भी नहीं कहता कि हम पशु थे। वे यही बताते हैं कि हम स्त्री थे कि पुरुष थे। उसका कारण यह है कि स्त्री पुरुष ही अगर पिछले जन्मों में रहे हों, तो ही उसका स्मरण आसान है; अगर पशु-पक्षी रहे हों, तो स्मरण अति कठिन है; क्योंकि भाषा बिलकुल ही बदल जाती है—जगत् ही बदल जाता है, आयाम बदल जाता है, उससे कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। अगर याद भी आ जाये, तो ऐसा नहीं लगता कि यह मेरी याददास्त आ रही है; लगता कि दुख-स्वप्न चल रहा है।

महावीर कहते हैं : मनुष्य होना दुर्लभ है—इसे हम वैज्ञानिक ढंग से समझें।

हमारा सूर्य है; उसका एक सौर परिवार है। पृथ्वी एक छोटा सा उपग्रह है। सूरज हमारी पृथ्वी से साठ हजार गुना बड़ा है। लेकिन हमारा सूरज बहुत बचकाना सूरज है—'मीडियॉकर।' उससे करोड़-करोड़ गुने बड़े सूरज हैं। अब तक विज्ञान ने जितने सूर्यों की जाँच की है, वह हैं तीन अरब। तीन अरब सूर्यों के परिवार हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि अन्दाजन पचास हजार पृथ्वियों पर जीवन होना चाहिए। तीन अरब सूर्यों के विस्तार में कम से कम पचास हजार उपग्रह होंगे, जिन पर जीवन होना चाहिये।

यह कम से कम हैं। इससे ज्यादा हो सकता है। जैसे कि एक सिक्के को मैं सौ बार फकूँ तो 'प्रोबेबल' (सम्भाव्य) है कि पचास बार वह सीधा

गिरे; पचास बार उल्टा गिरे। न गिरे पचास बार, हम अन्दाजन इतना तो कह ही सकते हैं कि कम से कम पाँच बार तो सीधा गिरेगा ही। अगर हम इतना भी मान लें, तो कम से कम पचास हजार पृथ्वियों पर जीवन होना चाहिये।

इतना बड़ा विस्तार है तीन अरब सूर्यों का। और तीन अरब सूर्य हमारी जानकारी के कारण हैं; यह अन्त नहीं है। अब तो विज्ञान कहता है कि हम कभी सीमा को जान न पायेंगे, क्योंकि सीमा आगे ही हटती चली जाती है। वह सपने अब छूट गये कि किसी दिन हम पूरा जान लेंगे।

अब विज्ञान कहता है, नहीं जान पायेंगे। क्योंकि जितना जानते हैं, उतना ही पता चलता है कि आगे और है, आगे और है। इतने विराट विश्व में जिसकी हम कल्पना और धारणा भी नहीं कर सकते, उसमें सिर्फ इस पृथ्वी पर मनुष्य है।

पचास हजार पृथ्वियों पर जीवन है, लेकिन मनुष्य की कहीं कोई संभावना नहीं मालूम पड़ती। इस पृथ्वी पर मनुष्य है और यह मनुष्य भी केवल दस लाख वर्षों से है। एक समय पृथ्वी पर मनुष्य नहीं था। जानवर थे, पक्षी थे, पौधे थे।

दस लाख वर्षों में मनुष्य हुआ है।

आदमी की घटना असम्भव घटना है। अगर आदमी न हो, तो हम सोच भी नहीं सकते कि आदमी भी हो सकता है; क्योंकि तीन अरब सूर्य हैं और करोड़ों-अरबों पृथ्वियां हैं; और कहीं भी मनुष्य का कोई निशान नहीं है।

मनुष्य होना दुर्लभ है। लेकिन महावीर का मनुष्य से उतना ही अर्थ नहीं है। मनुष्य होकर भी बहुत कम लोग मनुष्यत्व को उपलब्ध हो पाते हैं, क्योंकि वह और भी दुर्लभ है। मनुष्य हम पैदा होते हैं शकल-सूरत से, पर मनुष्यता एक भीतरी घटना है; शकल सूरत से उसका बहुत लेना-देना नहीं है।

आप शक़ल सूरत से मनुष्य हो सकते हैं और भीतर हैवान हो सकते हैं; भीतर शैतान हो सकते हैं। भीतर कुछ भी होने का उपाय है। शकल सूरत कुछ निश्चित नहीं करती, वह केवल सम्भावना बताती है।

जब एक आदमी मनुष्य की तरह पैदा होता है, तो आध्यात्मिक अर्थों में इतना ही मतलब होता है कि अगर वह चाहे, तो मनुष्यत्व को पा सकता है। लेकिन यह मिला हुआ नहीं है, सिर्फ सम्भावना है, सिर्फ बीज है।

आदमी चाहे तो जीवन व्यर्थ खो सकता है, बिना मनुष्य बने, और चाहे तो मनुष्य भी बन सकता है।

किस बात से वह मनुष्य बनेगा? आखिर पशु और मनुष्य में फर्क क्या है? पौधे और मनुष्य में फर्क क्या है? पत्थर और मनुष्य में फर्क क्या है?

चैतन्य का फर्क है, और तो कोई फर्क नहीं है—'कॉन्शसनेस' का फर्क है। आदमी के पास सर्वाधिक चैतन्य है, अगर हम पशुओं से तौलें तो। लेकिन आदमी भी चौबीस घण्टे में क्षण भर को ही चेतन हो पाता है, बेहोश ही चलता है।

मनुष्य को पशुओं से तौलें, तो चेतन मालूम पड़ता है। अगर मनुष्य को उसकी सम्भावना से तौलें—बुद्ध से, महावीर से तौलें, तो बेहोश मालूम पड़ता है। मनुष्य उसी अर्थ में मनुष्य हो जाता है, जिस अर्थ में चेतना बढ़ जाती है। इसलिए हमने मनुष्य कहा है। मनुष्य का अर्थ है, जितना मन निखर जाता है, उतना। आदमी सब पैदा होते हैं, पर मनुष्य बनना पड़ता है। इसलिए आदमी और मनुष्य का एक ही अर्थ नहीं है। आदमी तो केवल हमारा जाति-सूचक नाम है। आदम के बेटे—आदमी।

यह आदम शब्द बड़ा अच्छा है। भाषा शास्त्री कहते हैं कि अदम अहं का रूपान्तरण है। बच्चा पहली आवाज में कहता है—आ···अह···अहं इन आवाजों से बना है : अहं—मैं। और उन्हीं आवाजों से बना है अदम—आदमी।

बच्चे की पहली आवाज आदमी का नाम—आदम बन गई है। लड़का बोलता है—आह। लड़की बोलती है—इह। लड़की जब पैदा होती है, तो वह नहीं बोलती—आह। लड़का बोलता है—आ···आह। लड़की बोलती है—इह। इसलिए हिब्रू भाषा-शास्त्री कहते हैं कि 'इह' की आवाज के कारण 'ईव' और 'आह' की आवाज के कारण 'आदम'—आदमी ईव अर्थात् औरत, आदम अर्थात् आदमी।

आदमी जाति-वाचक नाम है; मनुष्य चेतना-सूचक नाम है। अंग्रेजी का 'मेन' संस्कृत के मनु का ही रूपान्तरण है। हम कहते हैं मनु के बेटे, नहीं कहते आदम के बेटे। आदम के बेटे सभी हैं; लेकिन मनु का बेटा वह बनता है, जो अपने भीतर मनस्वी हो जाता है। जिसका मन जागृत हो जाता है, उसको हम मनुष्य कहते हैं।

ऐसे तो आदम होना बहुत मुश्किल है, मनुष्य होना और भी दुर्लभ है।

जितनी चेतना है आपके भीतर, उसी मात्रा में आप मनुष्य हैं। जितने होश से जीते हैं, उसी मात्रा में मनुष्य हैं; क्योंकि जितने होश से जीते हैं, उतने शरीर से टूटते जाते हैं और आत्मा से जुड़ते जाते हैं; और जितनी वेहोशी से जीते हैं, उतने शरीर से जुड़ते जाते हैं और आत्मा से टूटते जाते हैं।

होश सेतु है आत्मा तक जाने का; मन द्वार है आत्मा तक जाने का। जितने मनस्वी होते हैं, उतने आत्मा की तरफ हट जाते हैं; जितने वेहोश होते हैं, उतने शरीर की तरफ हट जाते हैं। इसलिए महावीर ने कहा है कि जो-जो कृत्य वेहोशी में किये जाते हैं, वे पाप हैं; क्योंकि जिन-जिन कृत्यों से आदमी शरीर हो जाता है, वे पाप हैं और जिन-जिन कृत्यों से आदमी आत्मा हो जाता है, वे पुण्य हैं।

कभी आपने देखा पाप को विना वेहोशी के करना मुश्किल है ! अगर आपको चोरी करनी है, तो वेहोशी चाहिये। किसी की हत्या करनी है, तो वेहोशी चाहिये। क्रोध करना हो, तो वेहोशी चाहिये। होश आ जाये, तो हँसी आ जायेगी कि क्या मूढ़ता कर रहे हैं; लेकिन वेहोशी हो, तो चलेगा।

इसलिए कुछ लोगों को जव ठीक से पाप करना होता है, तो शराब पी लेते हैं। शराव पीकर मजे से पाप कर सकते हैं, क्योंकि होश कम हो जाता है।

होश जितना कम होता है, उतना हम शरीर हो जाते हैं—पदार्थवत्, पशुवत्। होश जितना ज्यादा हो जाता है, उतना हम मनुष्य हो जाते हैं—आत्मवत्।

मनुष्यत्व का अर्थ है—वढ़ते हुए होश की धारा; जो भी करें, वह होश-पूर्वक करें।

महावीर ने कहा है: विवेक से चलें, विवेक से वैठें, विवेक से उठें, विवेक से सोएँ; होश रखें, एक क्षण भी वेहोशी में न जाये; एक क्षण भी ऐसा मौका न मिले कि शरीर मालिक हो जाये; चेतना ही मालिक रहे। यह मालकियत जिस मात्रा में निर्धारित हो जाये, उसी मात्रा में आप मनुष्य हैं। अन्यथा आप आदमी हैं।

आदमी और मनुष्य के इस भेद को वढ़ाते जाना क्रमशः आत्मा के निकट पहुँचना है। इस भेद को वढ़ाने में ये तीन वातें काम करेंगी, जो और भी दुर्लभ हैं।

मनुष्य होना मुश्किल है, मनुष्यत्व को पाना और भी मुश्किल है, पर धर्म-श्रवण को क्यों इतना मुश्किल कहा है ?

सब तरफ धर्म-सभाएँ चल रही हैं ! गाँव-गाँव धर्म-गुरु हैं ! न खोजो, तो भी मिल जाते हैं ! न जाओ उनके पास, तो वे आपके घर आ जाते हैं !

धर्म-गुरुओं की कोई कमी है ? कोई तकलीफ है ? शास्त्रों की कोई अड़चन है ? सब तरफ सब मौजूद है और फिर भी महावीर कहते हैं, धर्म-श्रवण दुर्लभ है !

कितने चर्च, कितने गुरुद्वारे, मन्दिर, मस्जिद···तीन हजार धर्म हैं पृथ्वी पर और महावीर कहते हैं, धर्म-श्रवण दुर्लभ है !

अकेले केथोलिक पादरियों की संख्या दस लाख है ! हिन्दू संन्यासी एक लाख हैं ! जैनियों के मुनि इतने हो गये हैं कि गृहस्थ उन्हें खिलाने में असुविधा अनुभव कर रहे हैं ! थाइलैण्ड में चार करोड़ की आबादी है और बीस लाख भिक्षु हैं, सरकार नियम बना रही है कि अब बिना लाइसेन्स लिये कोई संन्यास न ले सके, क्योंकि इतने लोगों को पालेंगे कैसे और महावीर कहते हैं, धर्म-श्रवण दुर्लभ है !

शास्त्र ही शास्त्र हैं; बाइबल है, कुरान है, धम्मपद है, महावीर के सूत्र हैं, गीता है, वेद है···धर्म ही धर्म, शास्त्र ही शास्त्र, गुरु ही गुरु···इतना सब शिक्षण है, हर आदमी धार्मिक है ! और फिर भी महावीर कहते हैं कि धर्म-श्रवण दुर्लभ है !

इसका कारण है कि न तो शास्त्रों से धर्म मिलता है और न उपदेशकों से धर्म मिलता है।

कभी-कभी अरबों-खरबों मनुष्यों में कोई एक आदमी धर्म को, मनुष्यत्व को उपलब्ध होता है; और जो आदमी धर्म को उपलब्ध होता है, उसे सुनना ही धर्म-श्रवण है।

बुद्ध मर रहे हैं, तो आनन्द छाती पीट कर रो रहा है। बुद्ध पूछते हैं कि तू रोता क्यों है, तो आनन्द कहता है कि रोता इसलिए हूँ कि आपको सुन कर भी मैं न सुन पाया। आप मौजूद थे फिर भी आपको न देख पाया और अब आप खो जायेंगे; और अब कितने कल्प लगेंगे कि दुबारा किसी बुद्ध का दर्शन हो। रो रहा हूँ इसलिए कि अब मेरी यात्रा बड़ी मुश्किल हो जाने वाली है। अब किसी बुद्ध पुरुष का दर्शन हो, इसके लिए कल्पों-कल्पों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

बुद्ध का जन्म हुआ, तो हिमालय से एक वृद्ध संन्यासी भागा हुआ बुद्ध के

गाँव आया। नव्वे वर्ष उसकी उम्र थी। सम्राट के द्वार पर पहुँचा। बुद्ध के पिता से उसने कहा कि तुम्हारे घर में जो बेटा पैदा हुआ है, उसके मैं दर्शन करने आया हूँ।

पिता हैरान हुए कि अभी कुछ दिन की ही उम्र थी उस बच्चे की और वह वृद्ध, प्रतिभावान, तेजस्वी, अपूर्व सौन्दर्य से, गरिमा से भरा हुआ वृद्ध संन्यासी उसके दर्शन करने आया है!

बुद्ध के पिता उस संन्यासी के चरणों में गिर पड़े। उन्होंने सोचा कि जरूर सौभाग्य है मेरा कि ऐसा महापुरुष मेरे बेटे का दर्शन करने आया है, आशीर्वाद देने आया है, कुछ अनूठा बेटा पैदा हुआ है!

शुद्धोधन अपने बेटे सिद्धार्थ को लेकर, बुद्ध को लेकर संन्यासी के चरणों में रखने के लिए आगे बढ़े, तो उस वृद्ध संन्यासी ने कहा, "रुको! मैं उसके चरणों में पड़ने आया हूँ।" और वह नव्वे वर्ष का वृद्ध, महिमावान संन्यासी उस छोटे से, कुछ दिन के बच्चे के चरणों में गिर पड़ा और छाती पीट कर रोने लगा।

बुद्ध के पिता बहुत घबड़ा गये। उन्होंने कहा, "यह आप क्या अपशकुन कर रहे हैं! यह रोने का वक्त है? आशीर्वाद दें। आप क्यों रोते हैं? क्या यह बेटा बचेगा नहीं? क्या कुछ अशुभ हुआ है?"

उस संन्यासी ने कहा, "इसलिए रोता हूँ कि मेरी मौत करीब है और यह लड़का बुद्ध होगा और मैं चूक जाऊँगा, क्योंकि कल्पों-कल्पों में कभी कोई बुद्ध होता है। मैं रो रहा हूँ, क्योंकि मेरी मृत्यु करीब है और कुछ पक्का नहीं है कि मैं दुबारा जन्म ले सकूँ, इसलिए रो रहा हूँ।'

धर्म-श्रवण का अर्थ है: जिसने जाना हो, उससे सुनना; इसलिए महावीर कहते हैं—दुर्लभ जिसने सुना हो, उससे सुनना तो बिलकुल दुर्लभ नहीं है; जिसने जाना हो, उससे सुनना दुर्लभ है।

यह दुर्लभता अनेक आयामी है। एक तो महावीर का होना दुष्कर, बुद्ध का होना दुष्कर, कृष्ण का होना दुष्कर। फिर वे हों भी, वे बोल भी रहे हों; तो आपका सुनना दुष्कर। इसलिए कहा कि धर्म-श्रवण दुर्लभ है; क्योंकि महावीर खड़े हों, तो भी आप सुनेंगे यह जरूरी नहीं है। जरूरी तो यही है कि आप नहीं सुनेंगे।

क्यों नहीं सुनेंगे?

कर ऐसा मालूम पड़ता है कि वे बहरों के बीच ही बोलते थे; क्योंकि वे हमेशा कहते हैं कि जिसके पास कान हों, वे सुन लें; जिसके पास आँख हो, वे देख लें।

यह मामला अजीब है। क्या अन्धों की अस्पताल में वे बोल रहे थे, कि बहरों की अस्पताल में बोल रहे थे? क्या कर रहे थे वे?

हमारे बीच ही बोल रहे थे, लेकिन हम अन्धे और बहरे हैं। आँखें हमारी देखती नहीं, कान हमारे सुनते नहीं। जब जीसस बोलते हैं, तो हम कान, आँख बिलकुल बन्द कर लेते हैं, क्योंकि यह आदमी खतरनाक है। इसकी बात भीतर जायेगी, तो दो ही उपाय हैं कि यह बचेगा और तुम्हें मिटना पड़ेगा; और अपने को हम सब बचाना चाहते हैं।

सेंट पाल ने कहा है, 'नाउ आइ एम नॉट। जीसस लिव्हज इन मी। नाउ ही इज, एण्ड आइ एम नॉट। (अब मैं नहीं हूँ। अब जीसस मुझ में जीता है। अब जीसस ही है, मैं नहीं हूँ।) जो महावीर को सुनेगा, उसे एक दिन अनुभव करना पड़ेगा कि अब मैं नहीं हूँ, तो ही वह सुनेगा।

श्रावक का यही अर्थ है जो मिटने को राजी है और गुरु को अपने भीतर प्रगट हो जाने के लिए द्वार खोलता है। जो अपने को हटा लेता है, जो अपने को मिटा लेता है, शून्य हो जाता है, एक ग्रहणशीलता हो जाता है—'जस्ट ए रिसेप्टिव्हिटि—और गुरु को भीतर आने देता है।

बड़ी मजेदार घटना है। एक बड़ा चोर था। महावीर उसके गाँव में ही ठहरे हुए थे। उस चोर ने अपने बेटे से कहा, 'तू और सब कुछ करना, लेकिन इस महावीर से बचना। इसकी बात सुनने मत जाना।'

चोर ईमानदार था। आप जैसा होशियार नहीं था, नहीं तो कहता, 'सुनना और सुनना भी मत।' उसने कहा, 'सुनना ही मत; उनकी बात अपने काम की नहीं है। अपने धंधे से मेल नहीं खाती। और यह आदमी खतरनाक है। इसकी बात सुन ली तो सदा का चला आया धंधा नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। बड़ी मुश्किल से हम जमा पाये हैं, तुम खराब मत कर देना। और तेरे लक्षण अच्छे नहीं मालूम पड़ते। तू उधर जाना ही मत। उस रास्ते से ही मत निकलना।'

बाप की बात बेटे ने मान ली। (उस जमाने में तो बेटे बाप की बात मानते थे।) बेटे ने उस रास्ते से जाना छोड़ दिया, जहाँ से महावीर गुजरते थे। वह दूर से देख लेता कि महावीर आ रहे हैं, तो वह भाग खड़ा होता।

धर्म-सभा में हम क्यों सो जाते हैं ?

सुनते-सुनते कान पक गये हैं। वही बातें, जिन्हें हम हजार दफा सुन चुके हैं। अब सुनने योग्य कुछ नहीं बचा। यह सबसे आसान तरकीब है, धर्म से बचने की। बेईमान कानों ने तरकीब निकाल ली है। बेईमान आँखों ने तरकीब निकाल ली है।

अगर महावीर आपके सामने भी आकर खड़े हो जायें, तो आपको महावीर नहीं दिखाई पड़ेंगे। दिखाई पड़ेगा कि एक नंगा आदमी खड़ा है; यह आपकी आँखों की तरकीब है।

बड़े मजे की बात है। महावीर सामने हों, तो भी नंगा आदमी दिखेगा, महावीर नहीं दिखेंगे ! आप जो देखना चाहते हैं, वही दिखता है; जो है, वह नहीं। इसलिए महावीर को लोगों ने गाँव से यह कह कर भगाया कि''''यहाँ मत रखो, यह आदमी नंगा है। नंगे आदमी को गाँव में घुसने देना खतरनाक है।' और कुछ न दिखाई पड़ा उनको, सिर्फ महावीर की नग्नता दिखाई पड़ी। महावीर में बहुत कुछ था; और महावीर बिलकुल नग्न खड़े थे। कपड़े की भी ओट न थी, देखना चाहते, तो उनके बिलकुल भीतर देख लेते; लेकिन सिर्फ उनकी चमड़ी और उनकी नग्नता दिखाई पड़ी।

हम जो देखना चाहते हैं, वह देखते हैं; जो सुनना चाहते हैं, वह सुनते हैं। इसलिए महावीर कहते हैं : धर्म-श्रवण दुर्लभ है। फिर श्रद्धा तो और भी दुर्लभ है। जो सिर्फ सुना है, उस पर श्रद्धा ? मन हजार तर्क उठाता है। वह कहता है : यह ठीक है, वह गलत।

और बड़ा मजा यह है कि हम कभी यह नहीं पूछते कि कौन कह रहा है गलत; कौन कह रहा है ठीक। यह मन जो हमसे कह रहा है, यह हमें कहाँ ले गया ? किस ठीक तक इसने हमें पहुँचाया, जो कि हम इसकी बात मान रहे हैं ? इस मन ने हमें कौन सी शांति दी ? कौन सा आनन्द दिया ? कौन सा सत्य दिया ?

इस मन ने हमें कुछ भी नहीं दिया; मगर यह हमारा सदा का सलाहकार है। यह हमारा 'कांसटेंट, परमेनेण्ट कौंसिलर' है। वह अन्दर बैठा है और कह रहा है : यह गलत, यह ठीक। हम सारी दुनिया पर शक कर लेते हैं, पर अपने मन पर कभी शक नहीं करते।

श्रद्धा का मतलब है, जिसने अपने मन पर शक किया।

हम सारी दुनिया पर शक कर लेते हैं। महावीर हों, तो उन पर भी संदेह कर लेते हैं कि 'पता नहीं ठीक कह रहे हैं कि गलत कह रहे हैं''कि पता नहीं

होशियार हैं कि अपने को ही धोखा देते हैं। हम कहते हैं कि मानते हैं आपकी बात और कभी न कभी करेंगे भी; लेकिन अभी नहीं।'

हम कहते हैं, 'मोक्ष तो जाना है, लेकिन अभी नहीं। निर्वाण तो चाहिए, लेकिन जरा ठहरें, जरा रुकें।'

आशा सदा कल पर छोड़ी जा सकती है, पर आचरण तो अभी होगा, और अभी के अतिरिक्त हमारे पास कोई भी दूसरा क्षण नहीं है। अगले क्षण का कोई भरोसा नहीं है। जो किसी बात को अगले क्षण पर छोड़ता है, वह उसे मौत तक छोड़ रहा है। जो इस क्षण कर लेता है, वही जीवन का उपयोग कर रहा है।

इसलिए महावीर कहते हैं: पुरुषार्थ—जो ठीक लगे उसे इसी क्षण कर लेने की क्षमता, साहस छलांग। क्योंकि करने का मतलब यह है कि हम खतरे में जो कर रहे हैं···'पता नहीं क्या होगा!'

लोग मेरे पास आते हैं। वे कहते हैं, 'संन्यास तो ले लें, संन्यास में तो चले जाएँ, लेकिन फिर क्या होगा?' मैं उनसे कहता हूँ, 'जाओ और देखो, अगर हिम्मतवर हो; और संन्यास में कुछ न हो, तो वापस लौट जाना। डर क्या है?

वे कहते हैं, 'वापस लौट जाना!'

इसमें भी डर लगता है कि लोग क्या कहेंगे! संन्यास लिया और अगर कुछ न हुआ और वापस लौटे, तो 'लोग क्या कहेंगे।'

कौन हैं ये लोग? इन लोगों ने क्या दिया है? इन लोगों से क्या सम्बन्ध है?

नहीं, 'लोग' बहाने हैं: अपने को बचाने की तरकीबें हैं, 'एक्सक्यूजेज' हैं। लोगों के नाम से हम अपने को बचा लेते हैं और सोचते हैं कि 'आज नहीं कल, कल नहीं परसों···कभी न कभी···।' और टालते चले जाते हैं।

क्रोध अभी कर लेते हैं और कहते हैं कि ध्यान कल करेंगे। चोरी अभी कर लेते हैं और कहते हैं कि संन्यास कभी भी लिया जा सकता है।

यह जो वृत्ति है, इसे महावीर कहते हैं—पुरुषार्थ की कमी।

हम बुरे हैं; पुरुषार्थ के कारण नहीं, हम बुरे हैं पुरुषार्थ की कमी के कारण। हम अगर चोर हैं, तो इसलिए नहीं कि हम हिम्मतवर हैं। हम इसलिए चोर हैं कि हम अचोर होने लायक पुरुषार्थ नहीं जुटा पाते।

पहले कुछ प्रश्न।

● एक मित्र ने पूछा है, 'मनुष्य जीवन है दुर्लभ; लेकिन हम आदमियों को उस दुर्लभता का बोध क्यों नहीं होता? श्रवण करने की कला क्या है? कलयुग और सतयुग मनोस्थितियों के नाम हैं? क्या बुद्धत्व को भी हम मनोस्थिति ही समझें?'

जो मिला हुआ है, उसका बोध नहीं होता; जो नहीं मिला है, उसकी वासना होती है, इसलिए बोध होता है।

दाँत आपका एक टूट जाए, तो ही पता चलता है, कि था; फिर जीभ चौबीस घण्टे वहीं-वहीं जाती है। दाँत था जो जीभ वहाँ कभी नहीं गई थी। अब दाँत नहीं है, खाली जगह है, तो जीभ वहाँ जाती है।

जिसका अभाव हो जाता है, उसका हमें पता चलता है; जिसकी मौजूदगी होती है, उसका हमें पता नहीं चलता; क्योंकि मौजूदगी के हम आदी हो जाते हैं।

हृदय धड़कता है, पर पता नहीं चलता; श्वाँस चलती है, पर पता नहीं चलता; अगर श्वास में कोई अड़चन आ जाये, तो पता चलता है; हृदय अगर रुग्ण हो जाए, तो पता चलता है।

हमें पता ही उस बात का चलता है, जहाँ कोई वेदना, कोई दुख, कोई अभाव पैदा हो जाये। मनुष्यत्व का भी तब पता चलता है, हम आदमी थे इसका भी तब पता चलता है—जब आदमियत खो जाती है, जब मौत छीन लेती है हमसे, जब अवसर खो जाता है—तब हमें पता चलता है।

इसलिए मौत की पीड़ा वस्तुतः मौत की पीड़ा नहीं है, बल्कि जो अवसर खो गया है, उसकी पीड़ा है। अगर हम मरे आदमी से पूछ सकें कि अब तेरी पीड़ा क्या है, तो वह यह नहीं कहेगा कि मैं मर गया, यह मेरी पीड़ा है। वह कहेगा कि जीवन मेरे पास था और यूं ही खो गया, यह मेरी पीड़ा है।

चलेगा, और अगर अवसर आने के पहले, या अवसर आते ही बोध हो जाए, तो हम अवसर को जी लेते हैं, अन्यथा चूक जाते हैं।

इसलिए ध्यान—'जो है', उसको देखने की कला है, और मन—'जो नहीं है', उसकी वासना करने की विधि है।

श्रवण करने की कला क्या है ? सुनने की कला क्या है ?

निश्चित ही कला है, और महावीर ने कहा है, 'धर्म श्रवण दुर्लभ चार चीजों में एक है', तो बहुत सोच कर रहा है।

सुनते तो हम सब हैं, इसमें कला की क्या बात है ? हम तो पैदा ही होते हैं, कान लिये हुए ! सुनना हमें आता ही है !'

नहीं, लेकिन हम सुनते ही नहीं हैं, सुनने के लिए कुछ अनिवार्य शर्तें हैं।

जब आप सुन रहे हों, तब आपके भीतर विचार न हों। अगर विचार की भीड़ भीतर है, तो जो आप सुनेंगे, वह वही नहीं होगा, जो कहा गया है। आपके विचार उसे बदल देंगे, रूपान्तरित कर देंगे; उसकी शकल और हो जायेगी। विचार हट जाने चाहिए बीच से—मन खाली हो, शून्य हो और तब सुनें, तो जो कहा गया है, उसे आप सुनेंगे।

इसका यह अर्थ नहीं है कि आप उस पर विचार न करें। विचार तो सुनने के बाद ही हो सकता है। सुनने के साथ ही विचार नहीं हो सकता। जो सुनने के साथ ही विचार कर रहा है, वह विचार ही कर रहा है, सुन नहीं रहा है। सुनते समय सुन, सुन लें पूरा, समझ लें, जो कहा गया है; फिर खूब विचार कर लें।

विचार और सुनने को जो मिश्रित कर देता है, वह बहरा हो जाता है। वह फिर अपने ही विचारों की प्रतिध्वनि सुनता है। फिर वह वही नहीं सुनता, जो कहा गया है; वह वही सुन लेता है, जो उसके विचार उसे सुनने देते हैं।

अपने को अलग कर लेना, सुनने की कला है। जब सुन रहे हैं, तो सिर्फ सुनें और जब विचार कर रहे हैं, तब सिर्फ विचारें।

एक क्रिया को एक समय में करना ही उस क्रिया को शुद्ध करने की विधि है। लेकिन हम हजार काम एक साथ करते रहते हैं। अगर मैं आपसे कुछ कह रहा हूं, तो आप उसे सुन भी रहे हैं, और आप उस पर सोच भी रहे हैं; उस सम्बन्ध में आपने जो पहले सुना है, उसके साथ तुलना भी कर रहे हैं। अगर आपको नहीं जच रहा है, तो विरोध भी कर रहे हैं। अगर जंच रहा है, तो

सेन्सर है। वहाँ से हम तभी पार होने देते हैं, जब वह हमें हमारे अनुकूल लगता है।

और ध्यान रखना कि सत्य आपके अनुकूल नहीं हो सकता, आपको ही सत्य के अनुकूल होना पड़ता है। अगर आप सोचते हैं कि सत्य आपके अनुकूल हो, तभी ग्रहीत होगा, तो आप सदा असत्य में जीयेंगे। आपको ही सत्य के अनुकूल होना पड़ेगा। इसलिए ठीक से सुन लेना जरूरी है कि क्या कहा गया है। जरूरी नहीं कि उसे मान लें।

सुनने का अर्थ मानना नहीं है। इससे लोगों को बड़ी भ्रान्ति होती है। कईयों को ऐसा लगता है कि अगर हमने सोचा-विचारा न तो इसका मतलब हुआ कि 'हम बिना सोचे-विचारे मान लें।' सुनने का अर्थ मानना नहीं है। सिर्फ सुन लें, अभी मानने न मानने की बात ही नहीं है। अभी तो ठीक तस्वीर सामने आ जायेगी कि क्या कहा गया है। फिर मानना न मानना पीछे कर लेना।

और एक बड़े मजे की बात है कि अगर तथ्य ठीक से समझ लिया जाए, तो पीछे उसे न मानना बहुत मुश्किल है। अगर सत्य है, तो पीछे उसे न मानना बहुत मुश्किल है। अगर सत्य नहीं है, तो पीछे मानना बहुत मुश्किल है। पर एक दफा शुद्ध प्रतिबिम्ब बन जाना चाहिए, फिर मानने न मानने की बात कठिन नहीं है। सत्य मना ही लेता है। सत्य 'कन्व्हेंशन' है। फिर आप बच न सकेंगे। फिर तो आप को ही दिखाई पड़ने लगेगा कि मानने के सिवाय कोई उपाय नहीं है। फिर सोचें खूब। फिर कसौटी करें खूब। लेकिन सोचना और कसौटी निष्पक्ष होनी चाहिये।

हमारे सोचने का क्या अर्थ होता है ?

हमारे सोचने का अर्थ होता है—पूर्वाग्रह। हमारी जो 'प्रज्युडिस' होती है, जो हमने पहले से मान रखा है, उससे अनुकूल हो तो सत्य है।

एक आदमी हिन्दू घर में पैदा हुआ है, एक आदमी मुसलमान घर में, एक आदमी जैन घर में, तो जो उसने पहले से मान रखा है, अगर उससे मेल खा जाए, तो उसका नाम सोचना नहीं है। यह तो सोचने से बचना है—एस्केपिंग फ्रॉम थिंकिंग। आपने जो मान रखा है, अगर वही सत्य है, तब तो आपको खोज ही नहीं करनी चाहिए। आपने जो मान रखा है, अगर उसको ही पकड़ कर कसौटी करनी है, तब तो आपकी सारी कसौटियाँ झूठी हो जायेंगी।

अगर आप का ऑपरेशन करना है, तो आपको 'इन्जेक्शन' लगा देते हैं। वह अंग शून्य हो जाता है। फिर ऑपरेशन हो सकता है। आपको कोई तकलीफ नहीं होती। आपका पैर कट रहा है और आपको कोई तकलीफ नहीं होती; क्योंकि पैर कट रहा है, इसकी खबर मन को होनी चाहिए। जब खबर होगी तभी तकलीफ होगी।

यह मन की तकलीफ नहीं है, यह तकलीफ शरीर की है। पैर और मन के बीच में जिनसे जोड़ है, जिन स्नायुओं से, उनको बेहोश कर दिया। इसलिये आप तक तकलीफ नहीं पहुँचती।

कष्ट और असुविधाएँ शरीर की घटनाएँ हैं। बड़े मजे की बात है कि अगर आपके पैर में तकलीफ हो रही है और एक इन्जेक्शन लगा दिया जाये तो आपको तकलीफ का पता नहीं चलता। आप मजे से लेटे गप-शप करते रहते हैं। इससे उल्टा भी हो सकता है कि आपके पैर में तकलीफ नहीं हो रही और आपके स्नायुओं को कम्पित कर दिया जाये, (जिनसे तकलीफ की खबर मिलती है) तो आपको तकलीफ होगी। आप छाती पीट कर चिल्लाएँगे कि 'मैं मरा जा रहा हूँ।'

तकलीफ जानने से आपको रोका जा सकता है। तकलीफ की झूठी खबर मन को दी जा सकती है। मन के पास कोई उपाय नहीं है जाँचने का कि सही क्या है और गलत क्या है। शरीर जो खबर देता है, वह मन मान लेता है।

ये शरीर की स्थितियाँ हैं—आपको भूख लगी है, प्यास लगी है—यह सब शरीर की स्थितियाँ हैं। इसके पीछे मन की स्थितियाँ हैं। आपको सुख हो रहा है, आपको दुख हो रहा है—यह मन की स्थितियाँ हैं।

देखते हैं कि मित्र चला आ रहा है, तो चित्त प्रसन्न हो जाता है। लेकिन पास आने पर पता चलता है कि धोखा हो गया—मित्र नहीं है, कोई और है,—सुख तिरोहित हो गया—यह मन की स्थिति है। इसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं था; क्योंकि मित्र तो वहाँ था ही नहीं।

रात निकले हैं और दिखता है कि अँधेरे में कोई खड़ा है—छाती धड़कने लगी, भय पकड़ गया, पास जाते हैं, देखते हैं कोई भी नहीं है, लकड़ी का ठूठ है, कटा हुआ वृक्ष है—निश्चिन्त हो गये, छाती की धड़कन ठीक हो गई; फिर गुनगुनाने लगे गीत और चलने लगे— यह मन की स्थिति है।

माइन्ड है।' फिर जुंग ने और खोज की है कि उसके नीचे हमारा 'कलेक्टिव-अनकांशस', सामूहिक अचेतन मन है।

लेकिन ये खोजें अभी प्रारम्भिक हैं। बुद्ध और महावीर ने जो खोज की है, अभी उस अतल गहराई में उतरने की मनोविज्ञान की सामर्थ्य नहीं है। बुद्ध और महावीर तो कहते हैं कि यह जो हमारा मन है इसके नीचे बड़ी पर्तें हैं, हमारे सारे जन्मों की—जो पशुओं में हुए, उनकी पर्तें हैं, जो पौधे हुए, उनकी पर्तें हैं।

अगर आप कभी एक पत्थर थे, तो उस पत्थर का अनुभव भी आपके मन की गहरी पर्त में दबा पड़ा है। कभी आप पौधे थे, तो उस पौधे का अनुभव और स्मृतियाँ भी आपके मन की पर्त में दबी पड़ी है। आप कभी पशु थे, वह भी दबा पड़ा हुआ है।

इसलिए कई बार ऐसा होता है कि आपकी उन पर्तों में से कोई आवाज आ जाती है, तो आप आदमी नहीं रह जाते। आप जब क्रोध में होते हैं, तो आप आदमी नहीं होते। असल में क्रोध के क्षण में आप तत्काल अपने पशु मन से जुड़ जाते हैं। और पशु मन प्रगट होने लगता है।

इसलिए अक्सर आप क्रोध में कुछ कर लेते हैं, और पीछे कहते हैं कि मेरे बावजूद, 'इन्सपाइट ऑफ मी' हो गया। मैं तो नहीं करना चाहता था फिर, भी हो गया।

फिर किसने किया? आप नहीं करना चाहते थे! कभी आपने अपने क्रोध की तस्वीर देखी है?

कभी आईने के सामने खड़े होकर क्रोध करना, तो फिर आप पायेंगे कि यह चेहरा आपका नहीं है, ये आँखें आपकी नहीं हैं। यह कोई और आपके भीतर आ गया है। यह कौन है? यह आपका ही कोई पशु संस्मरण है—कोई स्मृति, कोई संस्कार—जब आप पशु थे। वह आपके भीतर काम कर रहा है। उसने आपको पकड़ लिया है। जब आप अपने को ढीला छोड़ते हैं, तब आपके नीचे का मन आपको पकड़ लेता है।

कई बार कई आदमियों की आँखों में देख कर आपको लगेगा कि वह पथरा गई है। लोग कहते हैं, 'उसकी आँखें पथरा गई हैं।' जब हम कहते हैं कि किसी की आँखें पत्थर हो गईं, तो उसका क्या मतलब होता है। उसका मतलब है कि इस व्यक्ति के पत्थर-जीवन के अनुभव इसकी आंखों को पकड़ रहे हैं आज भी। इसलिए इसकी आंखों में कोई संवेदना नहीं मालूम होती।

ज्योतिषी…'जिसको सम्राट होना चाहिए, वह भिक्षा-पात्र लिये बैठा है ! अगर यह आदमी सही है, तो फिर ज्योतिषी गलत है। अगर ज्योतिष सही है, तो इस आदमी को यहाँ होना ही नहीं चाहिए, इस वृक्ष के नीचे !'

उसने बुद्ध से जाकर पूछा कि 'कृपा करें, मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूँ, ये पैर के लक्षण सम्राट के हैं—चक्रवर्ती सम्राट के, और आप यहाँ भिखारी होकर बैठे हैं, मैं क्या करूँ ? पोथियों को डुबा दूँ पानी में ?'

बुद्ध ने कहा, 'पोथियों को डुबाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि मेरे जैसा आदमी दुबारा तुम्हें जल्दी नहीं मिलेगा, होना चाहिये था चक्रवर्ती सम्राट ही मुझे, ज्योतिष तुम्हारा ठीक कहता है। लेकिन एक और जगत् भी है अध्यात्म का, जो ज्योतिष के पार चला जाता है। पर तुम्हारे साथ ऐसा बार-बार नहीं होगा, तुम बहुत चिन्ता में मत पड़ो। चक्रवर्ती सम्राट ही होने को मैं पैदा हुआ था, लेकिन उससे और ज्यादा होने का द्वार खुल गया है—भिखारी भी मैं नहीं हूँ और सम्राट भी मैं नहीं हूँ।'

ज्योतिषी आश्वस्त हुआ, उसने गौर से बुद्ध के चेहरे को देखा। वहाँ जो आभा थी, वहाँ जो गरिमा थी, उनके चेहरे से प्रकाश की किरणें फूट रही थी। उसने पूछा, 'क्या आप देवता हैं ? मुझसे भूल हो गई है, मुझे क्षमा कर दें।'

बुद्ध ने कहा, 'मैं देवता भी नहीं हूँ।'

ज्योतिषी पूछता जाता कि 'आप यह हैं, आप यह हैं, आप यह हैं। और बुद्ध कहे जाते, 'मैं यह भी नहीं हूँ, मैं यह भी नहीं हूँ, मैं यह भी नहीं हूँ।'

तब ज्योतिषी पूछता है कि 'आप हैं क्या ? न आप पशु हैं, न आप पक्षी, न आप पौधा हैं, न आप मनुष्य हैं, न आप देवता हैं, तो आप हैं क्या ?'

बुद्ध कहते हैं, 'मैं बुद्ध हूँ।'

तो वह ज्योतिषी पूछता है, 'बुद्ध होने का क्या अर्थ है ?'

तो बुद्ध कहते हैं—'जो भी परिधियाँ हो सकती थी—आदमी की, देवता की, पशु की—वे सब मन के खेल हैं, मैं उनके पार हूँ। मैंने उसे पा लिया है, जो उस मन के भीतर छिपा था। अब मैं मन नहीं हूँ।'

पशु भी मन के कारण पशु है, और आदमी भी मन के कारण मनुष्य है। पौधा भी मन के कारण पौधा है।

आप जो भी हैं, अपने मन के कारण हैं। जिस दिन आप अपने मन को छोड़ देंगे, उस दिन आप वह हो जायेंगे, जो आप अकारण हैं। वह अकारण

आरोपित नहीं करना होता, वह उससे वैसे ही निकलता है, जैसे वृक्षों से पत्ते निकलते हैं। जैसे झरना बहता है, वैसे उसकी कविता बहती है—निष्प्रयोजन, निर्वेष्ठित। उसके लिए उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

जितना बड़ा कवि हो उतना कम प्रयास उसे करना पड़ता है, जितना छोटा कवि हो उतना ज्यादा प्रयास उसे करना पड़ता है। आशु कवि हो तो प्रयास होता ही नहीं, कविता बहती है—तब कविता एक निर्माण नहीं है, कोई आयोजना, कोई व्यवस्था नहीं है—तब कविता वैसी ही है, जैसे श्वास का चलना है—ऐसे व्यक्ति को हम कहते हैं—आशु कवि जिसका ज्ञान स्मृति नहीं है।

आप किसी से कुछ पूछते हैं, तो दो तरह के उत्तर सम्भव हैं। जैसे, एक सवाल आप मुझसे पूछें, और मैं तत्काल अपनी स्मृति के संग्रह में जाऊँ—मैं आपके सवाल का उत्तर खोजूँ अपने अतीत में, अपने मस्तिष्क में, अपनी स्मृति में, अपने कोष में, अपने संग्रह में, और उत्तर खींच कर स्मृति से ले आऊँ, और आपको उत्तर दे दूँ, तो यह एक तरह का उत्तर है, यह पंडित का उत्तर है।

आप मुझसे एक प्रश्न पूछें और मैं अपने भीतर चला जाऊँ, मैं आपके प्रश्न के सामने अपनी चेतना को खड़ा कर लूँ, दर्पण की तरह आपके प्रश्न के सामने खड़ा हो जाऊँ, और मेरी चेतना से आपके प्रश्न का उत्तर प्रतिध्वनित हो, मेरी चेतना से आपके प्रश्न का उत्तर आये, यह उत्तर स्मृति से न आए, उसी क्षण की मेरी चेतना से आए, तो यह दूसरी तरह का उत्तर है, यह आशु-प्रज्ञ का उत्तर है।

आशुप्रज्ञ का अर्थ है : तत्काल जिसकी चेतना से उत्तर आएगा—ताजा, सद्स्नात्, अभी-अभी नहाया हुआ, वासा नहीं।

हमारे सब उत्तर बासे होते हैं। बासे उत्तर में समय लगता है, चाहे हमें पता चले, या न चले। व्यक्ति आशुप्रज्ञ हो, तो समय नहीं लगता।

आप से कोई प्रश्न पूछ ले, तो आपको उत्तर देने में समय लगता है। अगर कोई आपसे पूछे कि आपका नाम क्या है, तो आपको लगता है कि आपको उत्तर देने में कोई समय नहीं लगता—आप कह देते हैं : 'राम'—लेकिन इसमें भी समय लगता है।

असल में आदत हो गई है; क्योंकि आपको पता है कि आपका नाम राम है, इसलिए आपको समय लगता मालूम नहीं पड़ता, लेकिन इसमें भी समय जाता है।

इसलिए जब प्रश्न पूछने वाला बदल जायेगा, तो उत्तर बदल जायेगा। पंडित का उत्तर कभी नहीं बदलेगा। आप सोते से उठाकर पूछ लें, कुछ भी करें, उसका उत्तर नहीं बदलेगा; उसका उत्तर वही रहेगा।

महावीर और बुद्ध के वचनों में बड़ी असंगतियाँ दिखाई पड़ती हैं; वह दिखाई पड़ेंगी। पंडित ही संगत हो सकता है, आशुप्रज्ञ संगत नहीं हो सकता; क्योंकि प्रतिपल परिस्थिति बदल जाती है, पूछने वाला बदल जाता है, संदर्भ बदल जाता है, इसलिये उत्तर बदल जाता है, दर्पण में प्रतिबिम्ब बदल जाता है।

आप पर निर्भर करेगा कि महावीर का उत्तर क्या होगा। पूछने वाले पर निर्भर करेगा कि उत्तर क्या होगा।

इसलिए महावीर कहते हैं; 'आशुप्रज्ञ पण्डित'—जिसकी प्रज्ञा प्रतिपल तैयार है उत्तर देने को।

'आशुप्रज्ञ पण्डित पुरुष को मोह-निद्रा में सोये हुए संसारी मनुष्य के बीच रह कर भी सब तरह से जागरूक रहना चाहिए।'

महावीर कहते हैं कि जिसको भी ऐसी प्रज्ञा में थिर रहना है, ऐसे ज्ञान में थिर रहना है, ऐसे ज्ञान में गति करते जाना है, उसे संसारी, सोये हुए मनुष्यों के बीच रह कर भी सब तरह से जागरूक रहना चाहिए।

रहना तो पड़ेगा ही सोए हुए लोगों के बीच, भागने में कोई सार नहीं है; क्योंकि कहीं भी भाग जाओ, सोये हुए लोगों के बीच ही रहना पड़ेगा। यह जरा समझ लेने जैसा है।

अक्सर लोग सोचते हैं कि 'शहर छोड़ कर गाँव चला जाऊँ,' पर गाँव में भी सोऐ हुए लोग हैं। कोई सोचता है, 'गाँव छोड़ कर जंगल चले जाएँगे।' लेकिन आपको कभी ख्याल न आया होगा कि जंगल के पौधे मनुष्य से ज्यादा सोए हुए हैं; इसीलिए तो पौधे हैं। और जंगल के पशु-पक्षी मनुष्य से ज्यादा सोए हुए हैं; इसलिए तो पशु-पक्षी हैं। ये मनुष्य भी कभी पशु पक्षी थे, पौधे थे। ये थोड़े-थोड़े जागकर मनुष्य तक आ गए हैं।

अगर एक आदमी मनुष्यों को छोड़कर जंगल आ रहा है, तो वह और भी गहन, सोई हुई चेतनाओं के बीच जा रहा है। वहाँ उसे शान्ति मालूम पड़ सकती है। उसका कुल कारण इतना है कि वह इन सोए हुए प्राणियों की भाषा नहीं समझ रहा है।

जाए, तो कई लोगों को ख्याल हो जाएगा कि पेशाव करने जाना है। संक्रामक है। हम एक दूसरे के हिसाव से जी रहे हैं।

हिटलर अपनी सभाओं में अपने दस-पाँच आदमियों को दस जगह बिठा रखता था। ठीक वक्त पर दस आदमी ताली बजाते थे, तो पूरा हाल ताली वजाने लगता था। हिटलर समझ गया कि ताली संक्रामक है। दस आदमी अपने हैं, वे ताली वजा देते हैं, फिर वाकी दस हजार लोग भी ताली वजा देते हैं। 'ये दस हजार लोगों को हो क्या गया ? इनकी ताली को क्या हो गया ?'

हमारा मन आसपास से एकदम प्रभावित होता रहता है। हमको वीमारियाँ ही नहीं पकड़ती, हमको फ्लू ही नहीं पकड़ता, हमको एक दूसरे से क्रोध भी पकड़ता है, मोह भी पकड़ता है, लोभ भी पकड़ता है, कामवासना भी पकड़ती है। शरीर ही नहीं पकड़ता जीवाणुओं को, मन भी पकड़ता है।

इसलिए महावीर कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति को सोये हुए लोगों के वीच जागरुक रहना चाहिए। क्योंकि वे चारों तरफ गहन-निद्रा में सो रहे हैं। उनकी निद्रा की लहरें तुम्हें छुएँगी। वे चारों तरफ से तुम्हारे भीतर आएँगी। तुम अकेले ही अपनी नींद के लिए जिम्मेवार नहीं हो। तुम एक नींद के सागर में हो, जहाँ चारों तरफ से नींद तुम्हें छुएगी।

अगर तुमने वचने की चेष्टा न की, तो वह नींद तुम्हें पकड़ लेगी, वह नींद तुम्हें डुवा लेगी। कोई तुम्हें डुवाने की उसकी आशा या इच्छा नहीं है। यह कोई सचेतन प्रयास नहीं है। यह केवल स्थिति है।

कभी आपने ख्याल किया, अगर दस लोग वैठे हैं और एक आदमी जम्हाई लेने लगे, तो फौरन दूसरे कुछ लोग भी जम्हाई लेना शुरू कर देंगे ? एक आदमी सो जाए, तो दूसरों को भी नींद पकड़ने लगती है ?

हम समूह का एक अंग हैं। जब तक कोई व्यक्ति पूरा नहीं जागा, तब तक वह व्यक्ति नहीं है, भीड़ है; चाहे वह कितना ही समझे कि 'मैं अलग हूँ', पर वह अलग है नहीं।

वड़े मजे की घटनाएँ घटती है ! दुनिया में वड़े पाप व्यक्ति से नहीं होते, भीड़ से होते हैं। क्योंकि भीड़ में पाप का संक्रमण हो जाता है। हजार लोगों की भीड़ मन्दिर को जला रही है, या मस्जिद में आग लगा रही है, तो उनमें से एक-एक आदमी को अलग करके पूछें कि मन्दिर में आग लगाने से या मस्जिद तोड़ने से क्या होगा ?—एक-एक व्यक्ति को पूछें, तो वह कहेगा कि नहीं, इससे कुछ होने वाला नहीं है, कोई सार भी नहीं है। 'फिर क्या कर रहे हैं ?'

धर्म का सम्बन्ध है व्यक्ति से। धर्म की चेष्टा ही यही है कि व्यक्ति को भीड़ से कैसे मुक्त करें। वह भीड़ के उपद्रव से कैसे बाहर आए। भीड़ के प्रभाव से कैसे छूटे। यही तो धर्म की सारी चेष्टा है। लेकिन धर्म भी भीड़ बन जाता है, और जब धर्म भीड़ बन जाता है, तो मुश्किल हो जाती है।

युद्ध में सैनिक ही भीड़ में नहीं लड़ते, लोग मस्जिदों में, मन्दिरों में, भीड़ में प्रार्थना भी कर लेते हैं। वह जाएँगे आप।

महावीर कहते हैं : इसलिए जागे हुए व्यक्ति को आस-पास पूरे वक्त सचेत रहना पड़ेगा; क्योंकि सब तरह से नींद आ रही है, सब तरह सोये हुए लोग हैं। क्रोध आयेगा, लोभ आयेगा, मोह आयेगा; वह सब तरह से बह रहा है, जैसे कि कोई आदमी, सब तरह से गन्दी नालियाँ बह रही हों और उनके बीच में बैठा हो। उसको बहुत सचेत रहना पड़ेगा, अन्यथा वे गन्दी नालियाँ उसे भी गन्दा कर जायेंगी। उसकी सचेतना उसको पवित्र रख सकती है। इसलिए महावीर कहते हैं—सब तरह से जागरूक रहना चाहिए—सब तरह से। बहुत अद्‌भुत वचन उन्होंने कहा है।

'और किसी का विश्वास भी नहीं करना चाहिये।'

इसका यह मतलब नहीं है कि महावीर अविश्वास सिखा रहे हैं। महावीर कहते हैं कि अगर तुमने किसी सोये हुए आदमी का विश्वास किया कि तुम खुद भी सो जाओगे। तुमने अगर सोये हुए आदमी का विश्वास किया था, तो तुम सो जाओगे; क्योंकि विश्वास का मतलब यह है कि अब सचेतन रहने की कोई भी जरूरत नहीं है।

इसे थोड़ा समझ लें।

जिसका हम विश्वास करते हैं, उससे हमें सचेतन नहीं रहना पड़ता है। एक अजनबी आदमी आपके कमरे में ठहर जाए, तो आप रात ठीक से सो न पाएँगे। क्यों ?

'अजनबी आदमी कमरे में है, पता नहीं क्या करे !' नींद उखड़ी-उखड़ी रहेगी। रात में दो चार दफा आँख खोल कर देख लेंगे कि 'कुछ कर तो नहीं रहा।' आपकी पत्नी आपके कमरे में सो रही है, तो आप मजे से घोड़े बेच कर सो जाते हैं; क्योंकि पत्नी अब अजनबी नहीं है। वह जो भी कर सकती थी, कर चुकी। अब सब परिचित है। अब जो कुछ भी होगा, होगा। अब इसमें कुछ ऐसा नया कुछ होने वाला नहीं है। कोई भय नहीं है। आप चेतना खो सकते हैं। आपको चेतन रहने की कोई जरूरत नहीं है।

चित्त पहरेदार बना ही रहे और मन की कोई बीमारी तुममें प्रवेश न कर पाए।

बुद्ध कहते थे कि जिस मकान के बाहर पहरे पर कोई बैठा हो, चोर उसमें प्रवेश नहीं करते, वे उस मकान से जरा दूर ही रहते हैं। ठीक ऐसे ही जिसके भीतर होश का दिया जला हो, ठीक ऐसे ही जिसने सावधानी को पहरे पर रखा हो, उसके भीतर मन की बीमारियाँ प्रवेश नहीं करती, जरा दूर ही रहती हैं।

हम ऐसे जीते हैं कि न कोई पहरे पर है, न घर का दिया जला है, अंधकार है घना, चोरों के लिए निमंत्रण है, और चारों तरफ हमारे चोर मौजूद हैं, हम गड्ढा बन जाते हैं, वे हम में बह जाते हैं भीतर।

एक उदास आदमी आकर आपके घर बैठ जाता है, कभी आपने ख्याल किया कि थोड़ी देर में आप भी उदास हो जाते हैं! एक हंसता हुआ, मुस्कराता हुआ आदमी आप के घर में आ जाता है, तो कभी आपने ख्याल किया कि आप भी मुस्कराने लगते हैं, प्रसन्न हो जाते हैं!

छोटे बच्चे को देख कर आपको इतना अच्छा क्यों लगता है? छोटे बच्चे उसका कारण नहीं है। छोटे बच्चे प्रसन्न हैं इसलिए उनकी प्रसन्नता संक्रामक हो जाती है। वे नाच रहे हैं, कूद रहे हैं, संसार का उन्हें अभी कोई पता नहीं, मुसीबतों का उन्हें अभी कोई बोध नहीं, अभी वे नये-नये खिले फूलों जैसे हैं, न उन्होंने तूफान देखे, न आँधियाँ देखी, न अभी सूरज की तप्ती हुई आग देखी, अभी उन्हें कुछ भी पता नहीं।

बच्चों को देख कर आप भी प्रसन्न हो जाते हैं। छोटे बच्चों के बीच भी अगर कोई उदास बैठा रहे, तो समझें कि वह बीमार है, 'पैथॉलॉजिकल,' रुग्ण है।

नेहरू का छोटे बच्चों से बहुत लगाव था; उसका कारण छोटे बच्चे नहीं थे, राजनीति की बीमारी थी। बच्चों में जाकर वे दुष्टों को भूल पाते थे—जिनसे वे घिरे थे, जिनके वे बीच थे, जिस उपद्रव में वे पड़े थे। बच्चों के बीच जाकर उनका मन हल्का हो जाता था। छोटे बच्चों के बीच उनका होना इस बात का सूचक था कि नेहरू मन से राजनीतिज्ञ नहीं थे। वे इसलिए छोटे बच्चों की तलाश करते थे, ताकि उन आदमियों से बच सकें, जो उनको घेरे हुए थे।

नेहरू कम से कम राजनीतिज्ञ आदमी थे। राजनीति उनका स्वभाव नहीं थी, स्वभाव तो उनका था कि वे कवि होते। हिन्दुस्तान ने एक बड़ा कवि खो

जी न सकूंगा और सब सबके बिना जी लेते हैं। मगर यह कठोर है सत्य।

महावीर कहते हैं—कोई अपना नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि सब दुश्मन हैं। इसका कुल मतलब इतना है कि तुम होश रखना। जैसे कि कोई आदमी युद्ध के मैदान में होश रखता है। एक क्षण भी चूकता नहीं, वेहोशी वह आने नहीं देता, तलवार सजग रहती है, धार पैनी रखता है, आंख तेज रखता है, चारों तरफ से चौकन्ना होता है। कभी भी, किसी भी क्षण जरा सी वेहोशी और खतरा हो जायेगा। ठीक वैसे ही जीना, जैसे कि प्रतिपल कुरुक्षेत्र है, प्रतिपल युद्ध है। किसी का विश्वास मत करना।

'काल निर्दयी है और शरीर दुर्वल।'

इन सत्यों को स्मरण रखना कि काल निर्दयी है। समय आपकी जरा भी चिन्ता नहीं करता। समय आपका विचार ही नहीं करता, वह वहा ही चला जाता है। समय को आपके होने का कोई पता ही नहीं है। समय आपको क्षमा नहीं करता। समय आपको सुविधा नहीं देता। समय लौट कर नहीं आता। समय से आप कितनी ही प्रार्थना करें, कोई प्रार्थना नहीं सुनी जाती। समय और आपके वीच कोई भी सम्वन्ध नहीं है। मौत आ जाए द्वार पर और आप चाहें कि एक घड़ी भर ठहर जाए···'अभी मुझे लड़के की शादी करनी है, कि अभी तो कुछ काम पूरा हुआ नहीं, मकान अवूरा वना है···।'

एक वूढ़ी महिला संन्यास लेना चाहती थी दो महीने पहले। वड़ी उसकी आकांक्षा थी संन्यास लेने की, मगर उसके वेटे खिलाफ थे कि संन्यास नहीं लेने देंगे। मैंने उसके एक वेटे को वुला कर पूछा कि ठीक है संन्यास मत लेने दो। लेकिन वह वूढ़ी स्त्री है, कल अगर उसे मौत आ जाए, तो तुम मौत से क्या कहोगे कि नहीं मरने देंगे।

जैसा कि कोई भी उत्तर देता, वेटे ने उत्तर दिया। कहा कि मौत कव आएगी, कव नहीं आएगी, देखा जायेगा; मगर संन्यास नहीं लेने देंगे।

अभी दो महीने भी नहीं हुए कि वह स्त्री मर गई। जिस दिन वह मरी उसी दिन उसके वेटे की खवर आई कि क्या आप आज्ञा देंगे कि हम उसे गैरिक वस्त्रों में माला पहना कर संन्यासी की तरह चिता पर चढ़ा दें।

'काल निर्दयी है' लेकिन अव कोई अर्थ नहीं है; क्योंकि संन्यास कोई ऐसी वात नहीं है कि ऊपर से डाल दिया जाए। न जिन्दा पर डाला जा सकता है, न मुर्दा पर डाला जा सकता है। संन्यास लिया जाता है, दिया नहीं जा सकता।

को लेकर दूसरे गाँव। तब रोओगे, छाती पीटोगे, जब सूरज नहीं उगेगा।

नाराजगी में बुढ़िया अपने मुर्गे को लेकर दूसरे गाँव चली गई। दूसरे गाँव में मुर्गे ने बाँग दी और सूरज उगा। बुढ़िया ने सोचा कि अब रो रहे होंगे उस गाँव के लोग, क्योंकि सूरज यहाँ उग रहा है, जहाँ मुर्गा बाँग दे रहा है।

तिनका भी सोचता है कि मैं नहीं होऊँगा, तो नदी कैसे बहेगी! आप भी सोचते हैं कि आप न होंगे तो संसार कैसे होगा! हर आदमी यही सोचता है। कब्रों में जाकर देखें, बहुत से ऐसे सोचने वाले कब्रों में दबे पड़े हैं, जो सोचते थे कि उनके बिना संसार कैसे होगा। और संसार बड़े मजे में है। संसार उनको बिलकुल भूल ही गया है, संसार को कोई पता ही नहीं है।

हर आदमी के मरने पर हम कहते हैं कि अपूर्णनीय क्षति हो गई, अब कभी भरी न जा सकेगी, और फिर बिलकुल भूल ही जाते हैं। फिर पता ही नहीं चलता कि किसकी अपूर्णनीय क्षति हुई। ऐसा लगता है, सब अन्धकार हो गया और कोई अन्धकार नहीं होता। दिये जलते चले जाते हैं, फूल खिलते चले जाते हैं।

समय की धारा निरपेक्ष है, उसको आपसे कुछ लेना-देना नहीं है। समय में आप कुछ कर सकते हैं। समय का आप कोई उपयोग कर सकते हैं। तिनका नदी का उपयोग करके सागर तक भी पहुँच सकता है, किनारे से भी अटक सकता है, डूब भी सकता है। लेकिन नदी को कोई प्रयोजन नहीं है।

समय की धारा बही जाती है। आप उसका कोई भी उपयोग कर सकते हैं। पर आप सिर्फ एक ही उपयोग करते हैं। स्थगित करने का, कि कल करेंगे; परसों करेंगे; छोड़ते चले जाते हैं इस भरोसे कि कल भी होगा! लेकिन कल कभी होता नहीं है।

कल कभी भी नहीं होता है। जब भी हाथ में आता है, तो आता है आज। और उसको भी हम कल पर छोड़ देते हैं। जीते ही नहीं, स्थगित किये चले जाते हैं कि कल जी लेंगे, परसों जी लेंगे; फिर एक दिन द्वार पर मौत खड़ी हो जाती है, वह क्षण भर को अवसर नहीं देती और तब हम पछताते हैं। वह सब जो स्थगित किया हुआ जीवन है, सब आपके सामने खड़ा हो जाता है कि क्या क्या जीत सकते थे, क्या-क्या हो सकता था, कितने अंकुर निकल सकते थे जीवन में, कितनी यात्रा हो सकती थी, वह कुछ भी न हो पायी

बाद क्रोध किया ही नहीं जा सकता। वह उसी वक्त किया जा सकता है। जो भी किया जा सकता है, उसी वक्त किया जा सकता है। और जब क्रोध न किया जा सका और बुराई न की जा सकी, तो शक्ति बच गई।

गुरजिएफ ने ध्यान कर लिया आज और क्रोध किया कल। हम क्रोध करते हैं आज और कहते हैं कि ध्यान करेंगे कल। शक्ति क्रोध में चुक जायेगी, ध्यान कभी होगा नहीं। गुरजिएफ की शक्ति ध्यान में बह गई, क्रोध कभी हुआ नहीं। जो हम करना चाहते हैं, हम भी जानते हैं कि आज कर लो, क्योंकि समय का कोई भरोसा नहीं।

'महावीर ही जानते हैं, ऐसा नहीं, हम भी जानते हैं। जो हम करना चाहते हैं, अभी कर लेते हैं। जो हम नहीं करना चाहते...हम बेईमान हैं; नहीं करना चाहते, तो साफ कहना चाहिये कि नहीं करना चाहते। लेकिन हम होशियार हैं। अपने को धोखा देते हैं। हम कहते हैं; 'करना तो हम चाहते हैं, लेकिन अभी समय नहीं है, कल कर लेंगे।'

इसे ठीक से समझ लें।

जिसे आप कल पर छोड़ रहे हैं, यह जान लें कि आप उसे करना ही नहीं चाहते हैं। यह अच्छा होगा, ईमानदारी होगी अपने प्रति यह कहना कि मैं करना ही नहीं चाहता। पर ऐसा कहने में शायद आपको चोट लगेगी कि 'क्या मैं ध्यान करना ही नहीं चाहता? क्या मैं शांत होना ही नहीं चाहता? क्या मैं अपने को जानना ही नहीं चाहता? क्या इस जीवन के रहस्य में मैं उतरना ही नहीं चाहता?'

अगर आप ईमानदार हों, तो आपको चोट लगेगी। शायद आपको ख्याल आए कि 'मैं गलती कर रहा हूं। वह करने योग्य जो है, मैं छोड़ रहा हूं।' पर होशियारी यह है कि हम कहते हैं। 'करना तो हम चाहते हैं।'

'फिर कौन मना कर रहा है?'

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं: 'साधना में तो हम जाना चाहते हैं, लेकिन अभी नहीं। यह है तरकीब। इस तरकीब में उनको यह नहीं दिखाई पड़ता कि जो हम नहीं करना चाहते, हम भ्रम पाल रहे हैं कि उसे हम करना चाहते हैं।

महावीर कहते हैं—शरीर है दुर्बल, काल है निर्दयी। यह जानकर भारंड पक्षी की तरह अप्रमत्त भाव से विचरण करना चाहिये। भारंड पक्षी एक 'मायथोलॉजिक' पौराणिक पक्षी है। एक काल्पनिक कवि की कल्पना है कि भारंड पक्षी मृत्यु से, समय की, जीवन की क्षणभंगुरता से इतना ज्यादा भयभीत है कि वह सोता ही नहीं, वह उड़ता ही रहता है। जागता हुआ कि सोए और कहीं मौत न पकड़ ले; कि सोए और कहीं जीवन समाप्त न हो जाये; कि सोये और कहीं वापस न उठे। वह एक काल्पनिक पक्षी है।

तो महावीर कहते हैं—भारंड पक्षी की तरह। समय निर्दयी है और शरीर दुर्बल है, ऐसा जानकर अप्रमत्त भाव से, बिना बेहोश हुए होश-पूर्वक, 'विथ-अवेयरनेस' जागरूकता से जीना ही आशुप्रज्ञ व्यक्ति का, प्रज्ञावन व्यक्ति का लक्षण है।

एक ही सूत्र है कृष्ण का, महावीर का, बुद्ध का, क्राइस्ट का। वह सूत्र है—अप्रमत्त भाव, 'अवेयरनेस', होश। इसे हम आगे समझेंगे।

आज इतना ही। रुकें पांच मिनट, कीर्तन करें और फिर जाएं।

●

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१४ सितम्बर, १९७२

ग्यारहवाँ प्रवचन

पहले कुछ प्रश्न।

● एक मित्र ने पूछा है—'कल आपने कहा, प्रश्न के उत्तर देने के दो तरीके हैं : एक स्मृति से, दूसरा स्वयं की चेतना से। जब आप उत्तर देते हैं, तब आपका उत्तर चेतना से होता है या स्मृति से? क्योंकि आप अब तक हजारों किताबें पढ़ चुके हैं और आप की स्मरण शक्ति भी 'फोटोग्रेफिक' है। यदि आप की चेतना ही उत्तर देने में समर्थ है, तो इतनी विविध किताबें पढ़ने का क्या प्रयोजन है?

दो तीन बातें समझनी चाहिये। एक; आपके प्रश्न पर निर्भर होता है कि उत्तर चेतना से दिया जा सकता है या स्मृति से। यदि आपका प्रश्न बाह्य जगत् से सम्बन्धित है, तो चेतना से उत्तर देने का कोई उपाय नहीं; न महावीर दे सकते हैं, न बुद्ध दे सकते हैं, न कोई और दे सकता है। चेतना से उत्तर चेतना के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों का ही हो सकता है।

अगर महावीर से जाकर पूछें कि कार 'पंचर' हो जाती हो, तो कैसे ठीक करेंगे! तो इसका उत्तर उनकी चेतना से नहीं आ सकता। महावीर की स्मृति न हो तो भी आ सकता है। बाह्य जगत् को जानने का सूचनाओं के अतिरिक्त कोई भी उपाय नहीं है। और ठीक ऐसे ही अन्तर्जगत् को जानने का सूचनाओं के द्वारा कोई उपाय नहीं है। बाहर का जगत् जाना जाता है, 'इनफॉरमेशन्स' से, सूचनाओं से; यह भीतर का जगत् सूचनाओं से नहीं जाना जा सकता है।

इसलिए अगर कोई व्यक्ति बाहरी तथ्यों के सम्बन्ध में चेतना से उत्तर दे, तो वे वैसे ही गलत होंगे, जैसे कि चेतना के सम्बन्ध में शास्त्रों से पाई गई सूचनाओं से कोई उत्तर दे। वे दोनों गलत हैं। हम दोनों तरह की भूल करने में कुशल हैं। हमने सोचा, चूंकि महावीर, बुद्ध या कृष्ण ज्ञान को उपलब्ध हो चुके हैं, इसलिए अब बाहर के जगत् के सम्बन्ध में भी उनसे जो हम पूछेंगे,

जाए, तो उसकी दूसरी बातों पर संदेह निर्मित हो जाता है। इसलिए ईसाइयत ने यह सिद्ध करने की भरसक कोशिश की, कि जो जीसस ने कहा है, वह सभी सही है। लेकिन उसका परिणाम घातक हुआ। क्योंकि विज्ञान ने जो सिद्ध किया, उसे हजार जीसस भी कहें, तो उसको गलत नहीं किया जा सकता।

गैलीलिओ को सजा दी जाये, सताया जाये, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता। आखिर में, मजबूर होकर ईसाइयत को यह मानना ही पड़ा कि जमीन गोल है। तब ईसाइयों के मन में सन्देह उठना शुरू हो गया कि जीसस और चीजों के सम्बन्ध में जो कहते हैं, कहीं वह भी तो गलत नहीं है!

महावीर को मानने वाले सोचते हैं कि महावीर ने कहा है : 'चन्द्रमा देवताओं का आवास है।' उस समय तक ऐसी बाहरी जानकारी थी। उस समय तक जो श्रेष्ठतम् जानकारी थी, वह महावीर ने दी थी। लेकिन यह महावीर के कहने की वजह से सच नहीं होती। यह तो वैज्ञानिक तथ्य है, बाहर का तथ्य है। इसमें महावीर जो कहते हैं, वह सिर्फ उनके कहने से सही नहीं होता।

अब जैन मुनि तकलीफ में पड़ गये हैं। क्योंकि चाँद पर आदमी उतर गया है और वहाँ कोई देवता नहीं मिला है। अब जैन मुनि उसी दिक्कत में पड़ गये हैं, जिस दिक्कत में ईसाइयत पड़ गई थी। अब क्या करें? अब वे यह सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं कि वैज्ञानिक चाँद पर नहीं उतरे हैं। सिद्ध करने की तीन-चार कोशिशें हैं। वे पीटी-पिटाई हैं। वही कोशिशें हर बार की जाती हैं। पहली यह कि वह चाँद ही नहीं है। एक तो यह कोशिश है। दूसरी यह कोशिश की जा रही है कि इस चाँद पर वैज्ञानिक उतरे ही नहीं; वैज्ञानिक चाँद पर उतरे हैं, यह झूठ है, यह अफवाह है, यह पागलपन है। तीसरी कोशिश यह की जा रही है कि 'वे उतर तो गये हैं, (एक जैन मुनि कोशिश कर रहे हैं) अफवाह भी नहीं है, चाँद भी वही है, लेकिन वे चाँद पर नहीं उतरे हैं। चाँद के पास देवी-देवताओं के जो बड़े-बड़े यान, उनके बड़े-बड़े रथ, विराटकाय रथ ठहरे रहते हैं चाँद के आसपास, वे उन पर उतर गये हैं और उसी को वे समझ रहे हैं कि चाँद है।'

यह सब पागलपन है। लेकिन इस पागलपन के पीछे तर्क है। तर्क यह है कि अगर महावीर की बात गलत होती है, तो बाकी बातों का क्या होगा? तो मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि महावीर, बुद्ध या कृष्ण किसी ने भी बाहर

पर उनके कहने के कारण हैं। मेरे पास लोग आते हैं। कोई फ्रायड को पढ़कर विक्षिप्त हुआ जा रहा है। वह मेरे पास आता है। जब तक मैं फ्रायड के सम्बन्ध में उसे कुछ कह न सकूँ, तब तक उससे मेरा कोई सेतु निर्मित नहीं होता। जब उसे यह समझ में आता है कि मैं फ्रायड को समझता हूँ, तभी आगे चर्चा हो पाती है। मेरे पास कोई आदमी आइंस्टीन को समझकर आता है, और अगर मैं पीटी-पिटाई तीन हजार साल पुरानी फिजिक्स की बातें उससे कहूँ, तो मैं तत्काल ही व्यर्थ हो जाता हूँ, आगे कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। अगर मुझे उसे कोई आन्तरिक सहायता पहुँचानी हो, तो मैं बाहर के जगत् के सम्बन्ध में इतना तो कम से कम जानता ही हूँ, जितना वह जानता है, उसे यह भरोसा दिलाना आवश्यक है। इस भरोसे के बिना उसे गति नहीं हो पाती, उससे सम्बन्ध नहीं बन पाता।

आज साधुओं से, संन्यासियों से आम आदमी का सम्बन्ध टूट गया है, उसका कारण यह है कि आम आदमी उनसे ज्यादा जानता है, बाहर के जगत् के सम्बन्ध में। और जब आम आदमी भी उनसे ज्यादा जानता है, तो यह भरोसा करना आदमी को मुश्किल होता है कि जिन्हें बाहर के जगत् के सम्बन्ध में भी कुछ पता नहीं, वह भीतर के सम्बन्ध में क्या जानते होंगे? आज हालत यह है कि आपका साधु आपसे कम जानकार है। महावीर के वक्त का साधु आम आदमी से ज्यादा जानकार था।

आपसे अगर कोई भी सम्बन्ध निर्मित करता है, तो पहले तो आपका जो बाह्य-ज्ञान है, उससे ही सम्बन्ध जुड़ता है। और जब तक मैं आपके बाह्य-ज्ञान को व्यर्थ न कर दूँ, तब तक भीतर की तरफ इशारा करना असम्भव है।

अपने लिए मैं नहीं पढ़ता हूँ, आपके लिए पढ़ता हूँ। उसका पाप आपको लगेगा, मुझको नहीं। और यह मैं ऐसा कर रहा हूँ, ऐसा नहीं है। बुद्ध, महावीर या कृष्ण सभी को यही करना पड़ा है। करना ही पड़ेगा। अगर कृष्ण अर्जुन से कम जानते हों बाहर के जगत् के सम्बन्ध में, तो बात आगे नहीं चल सकती। अगर महावीर गौतम से कम जानते हों बाहर के जगत् के सम्बन्ध में, तो बात आगे नहीं चल सकती। महावीर गौतम से ज्यादा जानते हैं। आपको पता होना चाहिये गौतम महावीर का प्रमुख शिष्य है। जिसका नाम सूत्र में आया है। उसके सम्बन्ध में थोड़ा समझना अच्छा होगा, ताकि सूत्र समझा जा सके।

गौतम उस समय का बड़ा पंडित था। हजारों उसके शिष्य थे; जब वह महावीर को मिला, उससे पहले। वह एक प्रसिद्ध ब्राह्मण था। वह महावीर

पर उनके कहने के कारण हैं। मेरे पास लोग आते हैं। कोई फ्रायड को पढ़कर विक्षिप्त हुआ जा रहा है। वह मेरे पास आता है। जब तक मैं फ्रायड के सम्बन्ध में उसे कुछ कह न सकूँ, तब तक उससे मेरा कोई सेतु निर्मित नहीं होता। जब उसे यह समझ में आता है कि मैं फ्रायड को समझता हूँ, तभी आगे चर्चा हो पाती है। मेरे पास कोई आदमी आइंस्टीन को समझकर आता है, और अगर मैं पीटी-पिटाई तीन हजार साल पुरानी फिजिक्स की बातें उससे कहूँ, तो मैं तत्काल ही व्यर्थ हो जाता हूँ, आगे कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। अगर मुझे उसे कोई आन्तरिक सहायता पहुँचानी हो, तो मैं बाहर के जगत् के सम्बन्ध में इतना तो कम से कम जानता ही हूँ, जितना वह जानता है, उसे यह भरोसा दिलाना आवश्यक है। इस भरोसे के बिना उसे गति नहीं हो पाती, उससे सम्बन्ध नहीं बन पाता।

आज साधुओं से, संन्यासियों से आम आदमी का सम्बन्ध टूट गया है, उसका कारण यह है कि आम आदमी उनसे ज्यादा जानता है, बाहर के जगत् के सम्बन्ध में। और जब आम आदमी भी उनसे ज्यादा जानता है, तो यह भरोसा करना आदमी को मुश्किल होता है कि जिन्हें बाहर के जगत् के सम्बन्ध में भी कुछ पता नहीं, वह भीतर के सम्बन्ध में क्या जानते होंगे? आज हालत यह है कि आपका साधु आपसे कम जानकार है। महावीर के वक्त का साधु आम आदमी से ज्यादा जानकार था।

आपसे अगर कोई भी सम्बन्ध निर्मित करता है, तो पहले तो आपका जो बाह्य-ज्ञान है, उससे ही सम्बन्ध जुड़ता है। और जब तक मैं आपके बाह्य-ज्ञान को व्यर्थ न कर दूँ, तब तक भीतर की तरफ इशारा करना असम्भव है।

अपने लिए मैं नहीं पढ़ता हूँ, आपके लिए पढ़ता हूँ। उसका पाप आपको लगेगा, मुझको नहीं। और यह मैं ऐसा कर रहा हूँ, ऐसा नहीं है। बुद्ध, महावीर या कृष्ण सभी को यही करना पड़ा है। करना ही पड़ेगा। अगर कृष्ण अर्जुन से कम जानते हों बाहर के जगत् के सम्बन्ध में, तो बात आगे नहीं चल सकती। अगर महावीर गौतम से कम जानते हों बाहर के जगत् के सम्बन्ध में, तो बात आगे नहीं चल सकती। महावीर गौतम से ज्यादा जानते हैं। आपको पता होना चाहिये गौतम महावीर का प्रमुख शिष्य है। जिसका नाम सूत्र में आया है। उसके सम्बन्ध में थोड़ा समझना अच्छा होगा, ताकि सूत्र समझा जा सके।

गौतम उस समय का बड़ा पंडित था। हजारों उसके शिष्य थे; जब वह महावीर को मिला, उससे पहले। वह एक प्रसिद्ध ब्राह्मण था। वह महावीर

गौतम बहुत रोता था। वह महावीर से बार-बार कहता था : 'मेरे पीछे आये लोग मुझसे कम जानने वाले लोग, साधारण लोग, मेरे जो शिष्य थे, वे आपके पास आकर ज्ञान को उपलब्ध हो गये। यह मेरा दिया कब जलेगा? यह ज्योति मेरी कब पैदा होगी? मैं कब पहुँच पाऊँगा?'

जिस दिन महावीर की अन्तिम घड़ी आई, उस दिन गौतम को महावीर ने पास के गाँव में सन्देश देने भेजा था। गौतम लौट रहा है गाँव में संदेश देकर तब राहगीर ने रास्ते में खबर दी कि महावीर निर्वाण को उपलब्ध हो गये।

गौतम वहीं सड़क पर बैठकर छाती पीट कर रोने लगा, और उसने राहगीरों से पूछा कि 'वे निर्वाण को उपलब्ध हो गये, मेरा क्या होगा? मैं इतने दिन उनके साथ भटका, अभी तो मुझे वह किरण मिली नहीं। अभी तो मैं सिर्फ उधार में जी रहा हूँ। वे जो कहते थे, वही मैं लोगों को कहे चला जा रहा हूँ। मुझे वह हुआ नहीं, जिसकी वे बात करते थे। अब क्या होगा? उनके साथ न हो सका, तो उनके बिना अब क्या होगा? मैं डूबा, मैं भटका, अब मैं अनन्त काल तक भटकूँगा। अब वैसा शिक्षक कहाँ? वैसा गुरु अब कहाँ मिलेगा? क्या मेरे लिए भी उन्होंने कोई सन्देश स्मरण किया है? और कैसी कठोरता की उन्होंने मुझ पर। जब जाने की घड़ी थी, तो मुझे दूर क्यों भेज दिया?'

तो राहगीरों ने यह सूत्र उसको कहा। यह जो सूत्र है, यह राहगीरों ने कहा है। राहगीरों ने कहा, कि तेरा उन्होंने स्मरण किया और उन्होंने कहा है कि गौतम को यह सूत्र कह देना। यह जो सूत्र है गौतम के लिए कहलाया गया है।

'जैसे कमल शरद-काल के निर्मल जल को भी नहीं छूता और अलिप्त रहता है, वैसे ही संसार से अपनी समस्त आसक्तियाँ मिटाकर, सब प्रकार के स्नेह बन्धनों से रहित हो जा। अतः गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद मत कर।'

'तू इस प्रपंचमय विशाल संसार-समुद्र को तैर चुका है। भला किनारे पहुँचकर तू क्यों अटक रहा है? उस पार पहुँचने के लिए शीघ्रता कर। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद मत कर।'

सकेगा। क, ख, ग, से शुरू करना पड़ेगा। अगर हम विज्ञान की सब किताबें नष्ट कर दें, तो क्या आप सोचते हैं कि अचानक कोई आदमी हवाई जहाज बना लेगा? नहीं बना सकता। बैलगाड़ी के चक्के से शुरू करना पड़ेगा। और कोई दस हजार साल लगेंगे बैलगाड़ी के चक्के से हवाई जहाज तक आने में। और इस दस हजार साल में किसी एक आदमी से काम नहीं होने वाला है। हजारों लोगों को काम करना पड़ेगा। विज्ञान परम्परा है, 'ट्रेडीसन' है। विज्ञान हजारों लोगों के श्रम का परिणाम है।

महावीर न हों, बुद्ध न हों, तो भी आप धर्म को उपलब्ध हो सकते हैं। कोई भी बाधा नहीं है, जरा भी बाधा नहीं है। क्योंकि मेरे महावीर या मेरे बुद्ध होने में, महावीर और बुद्ध के कन्धे पर खड़े होने की कोई भी जरूरत नहीं है। कोई खड़ा हो भी नहीं सकता। धर्म के जगत् में हर आदमी अपने पैर पर खड़ा होता है। विज्ञान के जगत् में हर आदमी दूसरे के कन्धे पर खड़ा होता है। इसलिए विज्ञान की शिक्षा दी जा सकती है, पर धर्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती। विज्ञान की शिक्षा हमें देनी ही पड़ेगी। अगर हम एक बच्चे को गणित न सिखाएँ, तो वह कैसे समझेगा आइन्स्टीन को। धर्म का मामला उल्टा है। अगर हम एक बच्चे को धर्म सिखा दें, तो वह महावीर को समझ न सकेगा।

धर्म की कोई शिक्षा नहीं हो सकती। शिक्षा बाहर की होती है, भीतर की नहीं होती। भीतर की साधना होती है, बाहर की शिक्षा होती है। शिक्षा से स्मृति प्रबल होती है, साधना से ज्ञान के द्वार खुलते हैं। इसको इस तरह समझें, कि बाहर के सम्बन्ध में हम जो जानते हैं, वह 'लिन्क' बात है। जो कल पता नहीं थी, और अगर हम खोजते न, तो कभी नहीं पता चलती। भीतर के सम्बन्ध में जो हम जानते हैं, वह सिर्फ दबी थी; पता थी गहरे में। खोज लेने पर जब हम उसे पाते हैं, तो वह कोई नई चीज नहीं होती।

बुद्ध से पूछें, महावीर से पूछें—वे कहेंगे, 'जो हमने पाया, वह मिला ही हुआ था; सिर्फ हमारा ध्यान उस पर नहीं था।'

आपके घर में हीरा पड़ा हो, रोशनी न हो, तो हीरा नहीं दिखाई पड़ेगा। फिर दिया जले, रोशनी हो जाये, हीरा मिल जाये, तब आप ऐसा नहीं कहेंगे कि हीरा कोई नई चीज है। वह था ही घर में; सिर्फ प्रकाश नहीं था, अँधेरा था, इसलिए वह दिखाई नहीं पड़ता था।

उसके लिए तो कोई भी सूचना नहीं है। यह सारी सूचनाएँ मार्ग पर चलने वाले के लिए हैं, साधक के लिए हैं।

एक और प्रश्न।

आशुप्रज्ञ होना प्रकृतिदत्त, आकस्मिक घटना है या साधना-जन्म परिणाम ?

प्रकृतिदत्त घटना नहीं है, आकस्मिक घटना नहीं है, साधना-जन्य परिणाम है। प्रकृति है अचेतन। आपको भूख लगी है, यह प्रकृतिदत्त है; आपको प्यास लगती है, यह प्रकृतिदत्त है; आप सोते हैं रात, यह प्रकृतिदत्त है; आप जागते हैं सुबह, यह प्रकृतिदत्त है; यह सब प्रकृतिदत्त है। यह अचेतन है। इसमें आपको कुछ भी नहीं करना पड़ा है। यह आपने पाया है। यह आपके पास जुड़ा हुआ है। लेकिन एक आदमी ध्यान करता है, यह प्रकृतिदत्त नहीं है। अगर आदमी न करे, तो अपने-आप यह कभी भी न होगा। भूख लगेगी अपने-आप, प्यास लगेगी अपने-आप, पर ध्यान अपने-आप नहीं लगेगा। कामवासना भी लगेगी अपने-आप, मोह के बन्धन निर्मित हो जायेंगे अपने-आप, लोभ पकड़ेगा अपने-आप, क्रोध पकड़ेगा अपने-आप, पर धर्म नहीं पकड़ेगा अपने-आप।

इसे ठीक से समझ लें।

धर्म निर्णय है, चेष्टा है, 'इन्टेन्शन' है; बाकी सब 'इन्सटिंक्ट' है, बाकी सब प्रकृति है। आपके जीवन में जो अपने-आप हो रहा है, वह प्रकृति है। जो आप करेंगे, तो ही होगा, और तो भी बड़ी मुश्किल से होगा, वह धर्म है—जो आप करेंगे, तभी होगा, बड़ी मुश्किल से होगा। क्योंकि आपकी प्रकृति पूरा विरोध करेगी कि यह क्या कर रहे हो ! इसकी क्या जरूरत है ? पेट कहेगा कि ध्यान की क्या जरूरत है ? भोजन की जरूरत है। शरीर कहेगा, नींद की जरूरत है, ध्यान की क्या जरूरत है ? काम ग्रन्थियाँ कहेंगी, काम की, प्रेम की जरूरत है, धर्म की क्या जरूरत है ?

आपके शरीर को सर्जन के टेबल पर रखकर अगर पूरा परीक्षण किया जाये, तो कहीं भी धर्म की कोई जरूरत नहीं मिलेगी। 'किडनी' की जरूरत है, फेफड़े की जरूरत है, मस्तिष्क की जरूरत है। वे सब जरूरतें सर्जन काटकर अलग-अलग बता देगा कि किस अंग की क्या जरूरत है, लेकिन एक भी अंग मनुष्य के शरीर में ऐसा नहीं जिसकी जरूरत धर्म हो।

धर्म बिलकुल गैर-जरूरत है। इसीलिए तो जो आदमी केवल शरीर की भाषा में सोचता है, वह कहता है : धर्म पागलपन है, शरीर के लिए उसकी

उसके लिए तो कोई भी सूचना नहीं है। यह सारी सूचनाएँ मार्ग पर चलने वाले के लिए हैं, साधक के लिए हैं।

एक और प्रश्न।

आशुप्रज्ञ होना प्रकृतिदत्त, आकस्मिक घटना है या साधना-जन्य परिणाम ?

प्रकृतिदत्त घटना नहीं है, आकस्मिक घटना नहीं है, साधना-जन्य परिणाम है। प्रकृति है अचेतन। आपको भूख लगी है, यह प्रकृतिदत्त है; आपको प्यास लगती है, यह प्रकृतिदत्त है; आप सोते हैं रात, यह प्रकृतिदत्त है; आप जागते हैं सुबह, यह प्रकृतिदत्त है; यह सब प्रकृतिदत्त है। यह अचेतन है। इसमें आपको कुछ भी नहीं करना पड़ा है। यह आपने पाया है। यह आपके पास जुड़ा हुआ है। लेकिन एक आदमी ध्यान करता है, यह प्रकृतिदत्त नहीं है। अगर आदमी न करे, तो अपने-आप यह कभी भी न होगा। भूख लगेगी अपने-आप, प्यास लगेगी अपने-आप, पर ध्यान अपने-आप नहीं लगेगा। कामवासना भी लगेगी अपने-आप, मोह के बन्धन निर्मित हो जायेंगे अपने-आप, लोभ पकड़ेगा अपने-आप, क्रोध पकड़ेगा अपने-आप, पर धर्म नहीं पकड़ेगा अपने-आप।

इसे ठीक से समझ लें।

धर्म निर्णय है, चेष्टा है, 'इन्टेन्शन' है; बाकी सब 'इन्सटिंक्ट' है, बाकी सब प्रकृति है। आपके जीवन में जो अपने-आप हो रहा है, वह प्रकृति है। जो आप करेंगे, तो ही होगा, और तो भी बड़ी मुश्किल से होगा, वह धर्म है—जो आप करेंगे, तभी होगा, बड़ी मुश्किल से होगा। क्योंकि आपकी प्रकृति पूरा विरोध करेगी कि यह क्या कर रहे हो ! इसकी क्या जरूरत है ? पेट कहेगा कि ध्यान की क्या जरूरत है ? भोजन की जरूरत है। शरीर कहेगा, नींद की जरूरत है, ध्यान की क्या जरूरत है ? काम ग्रन्थियाँ कहेंगी, काम की, प्रेम की जरूरत है, धर्म की क्या जरूरत है ?

आपके शरीर को सर्जन के टेबल पर रखकर अगर पूरा परीक्षण किया जाये, तो कहीं भी धर्म की कोई जरूरत नहीं मिलेगी। 'किडनी' की जरूरत है, फेफड़े की जरूरत है, मस्तिष्क की जरूरत है। वे सब जरूरतें सर्जन काटकर अलग-अलग बता देगा कि किस अंग की क्या जरूरत है, लेकिन एक भी अंग मनुष्य के शरीर में ऐसा नहीं जिसकी जरूरत धर्म हो।

धर्म बिलकुल गैर-जरूरत है। इसीलिए तो जो आदमी केवल शरीर की भाषा में सोचता है, वह कहता है : धर्म पागलपन है, शरीर के लिए उसकी

आदमी ही उनके पास जाता है। दुख जब होता है, तब आपको धर्म की याद आती है। क्यों ? क्योंकि आप सोचते हैं, अब यह दुख मिटता नहीं, दिखता है। अब कोई उपाय नहीं दिखता इसे मिटाने का, तो अब धर्म की तलाश में जाएँ। जब आप सुखी होते हैं, तब कोई बात ही नहीं है। आप ही अपने मसले हल कर रहे हैं, तब परमात्मा की कोई जरूरत नहीं है। जब आपकी समस्या कहीं उलझ जाती है—प्रकृतिदत्त समस्या, और उसे आप हल नहीं कर पाते, तो आप परमात्मा की तरफ जाते हैं।

आदमी की विवशता उसका धर्म है। जब वह कुछ नहीं कर पाता, तब वह परमात्मा की तरफ चल पड़ता है। तब तो उसका मतलब यह हुआ कि वह परमात्मा की तरफ किसी प्रकृति-जन्य प्यास, या भूखे को पूरा करने जा रहा है। अगर आप परमात्मा के सामने हाथ जोड़ कर प्रार्थना करते हैं कि मेरे लड़के को नौकरी लगा दें, कि मेरी पत्नी की बीमारी ठीक कर दें, तो उसका अर्थ क्या हुआ ? उसका अर्थ हुआ कि आपकी भूख प्रकृति-जन्य है, इसलिए आप परमात्मा के सामने हाथ जोड़ कर खड़े हैं। आप परमात्मा से भी थोड़ी सेवा लेने की उत्सुकता रखते हैं। थोड़ा अनुग्रहित करना चाहते हैं उसको भी, कि थोड़ा सा अवसर देना चाहते हैं। इसका, ऐसे धर्म का कोई भी सम्बन्ध धर्म से नहीं है।

यह जो आशुप्रज्ञ होना है, यह प्रकृतिदत्त नहीं है। यह आपकी 'इन्सटिंक्ट', आपकी मनःवृत्तियों से पैदा नहीं होगा। कब होगा पैदा यह ? अगर यह प्रकृति से पैदा नहीं होगा, तो फिर पैदा कैसे होगा ? यह कठिन बात मालूम होती है। यह तब पैदा होता है, जब हम प्रकृति से ऊब जाते हैं। यह तब पैदा होता है, जब हम प्रकृति से भर जाते हैं। यह तब पैदा होता है, जब हम देखते हैं कि प्रकृति में कुछ भी पाने को नहीं है। यह दुख से पैदा नहीं होता। जब हमें सुख भी दुख जैसा मालूम होने लगा है, तब पैदा होता है। यह अतृप्ति से पैदा नहीं होता है।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

(प्रकृति की सब भूख-प्यास कमी से पैदा होती है। शरीर में पानी की कमी है, तो प्यास पैदा होती है। शरीर में भोजन की कमी होती है, तो भूख पैदा होती है। शरीर में वीर्य-ऊर्जा ज्यादा इकट्ठी हो गई हो, तो काम-वासना पैदा होती है।

एक सुलतान को नहीं लगेगा; क्योंकि भरने की जरूरतें सब उसकी पूरी हैं, जरूरत से ज्यादा पूरी हैं, सिर्फ निकालने की ही उसको जरूरतें रह गई हैं।

यह जो स्थिति है, यह तो प्रकृति दत्त है।

धर्म कहाँ से शुरू होता है? धर्म वहाँ से शुरू होता है, जहाँ भरना भी व्यर्थ हो गया और निकालना भी व्यर्थ हो गया। जहाँ दुख तो व्यर्थ हो ही गये, सुख भी व्यर्थ हो गये। जहाँ सारी प्रकृति व्यर्थ मालूम होने लगी।

एक स्त्री से आप असन्तुष्ट हैं, तो आप दूसरी स्त्री की तलाश में जायेंगे। लेकिन अगर आप स्त्री मात्र से असन्तुष्ट हो गये, तो आप के जीवन में धर्म का प्रारम्भ हो जायेगा। इस भोजन से असन्तुष्ट हो, तो दूसरे भोजन की तलाश में जायेंगे। लेकिन भोजन मात्र अगर एक व्यर्थ का क्रम हो गया, तो धर्म की खोज शुरू होगी। एक सुख भोग लिया, उससे असंतुष्ट हो गए, तो दूसरे सुख की खोज शुरू होगी। सब सुख देखे और व्यर्थ पाए, तो धर्म की खोज शुरू होगी।

जहाँ प्रकृति व्यर्थता, 'मीनिंगलेसनेस' की जगह पहुँचाती है, वहाँ आदमी आशुप्रज्ञता की तरफ—उस अन्तस चैतन्य, उस भीतरी ज्योति की तरफ यात्रा करता है।

क्यों?

क्योंकि प्रकृति है बाहर, और जब बाहर से कोई व्यर्थता का अनुभव करता है, तो भीतर की तरफ आना शुरू होता है। एक है जगत्—जहाँ जो खाली है उसे भरो और जो भरा है उसे खाली करो, ताकि फिर भर सको; ताकि फिर खाली कर सको। यह जगत् है एक दुष्ट-चक्र, 'व्हीसियस सर्किल' का। एक और जगत् भी है, जहाँ बाहर व्यर्थ हो गया, तो भीतर की तरफ चलो। प्रकृति व्यर्थ हो गई, तो परमात्मा की तरफ चलो।

इसलिए प्रकृति की ही माँग के लिए अगर आप परमात्मा की तरफ जाते हैं, तो जानना कि अभी गये नहीं हैं। जिस दिन आप परमात्मा के लिए ही परमात्मा की तरफ जाते हैं, उसी दिन जानना कि धर्म का प्रारम्भ हुआ।

अब हम सूत्र लें।

● 'जैसे कमल शरद-काल के निर्मल जल को भी नहीं छूता और अलिप्त रहता है।'

कमल को देखा आपने? कमल हमारा बड़ा पुराना प्रतीक है। महावीर बात करते हैं, कृष्ण बात करते हैं, बुद्ध बात करते हैं। उनकी बातों में कितने

को कीचड़ में पैदा होना पड़ता है। संसार कीचड़ है। थोड़े लोग इस कीचड़ के पार जाते हैं और कमल हो जाते हैं। वे ही कीचड़ के पार जाते हैं, जो अलिप्तता को साध लेते हैं। अलिप्तता ही कीचड़ के पार जाने की पगडण्डी है। कीचड़ नीचे रह जाता है, कमल ऊपर आ जाता है। जिस दिन कमल ऊपर आ जाता है, उस दिन कमल को देख कर कीचड़ की याद भी नहीं आती। कभी कमल आपको दिखाई पड़े, तो क्या आपको कीचड़ की याद आती है ? याद भी नहीं आती। इसलिए बड़ी अद्भुत घटनाएँ घटीं।

जीसस को मानने वाले कहते हैं कि जीसस सामान्य सम्भोग से पैदा नहीं हुए। कुँआरी माँ से पैदा हुए हैं। यह बात बड़ी मीठी है, और बड़ी गहरी है। असल में जीसस को देख कर ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि वे दो व्यक्तियों की कामवासना से पैदा हुए हैं। कमल को देख कर कहाँ कीचड़ का ख्याल आता है। जीसस को देख कर ख्याल नहीं आता कि दो व्यक्ति कामवासना में जुट गये हैं, और उनके शरीर की बेचैनी, और उनके शरीर की अस्त-व्यस्तता, अराजकता, पशुता और उनके शरीर की वासना से, दुर्गन्ध की कीचड़ से जीसस पैदा हुए हों।

कमल को देख कर कीचड़ का ख्याल ही भूल जाता है। और अगर हमें पता ही न हो कि कमल कीचड़ से पैदा होता है, तो जिस आदमी ने कभी कीचड़ न देखी हो और कमल ही देखा हो, तो वह कहेगा कि असम्भव है कि यह कमल और कीचड़ से पैदा हो जाये।

इसलिए जीसस को देख कर अगर लोगों को लगा हो कि ऐसा व्यक्ति कुँआरी माँ से ही पैदा हो सकता है, तो वह लगना वैसा ही है, जैसे कि कमल को देख कर किसी को लगे कि ऐसा, कमल जैसा फूल तो मक्खन से ही पैदा हो सकता है, कीचड़ से नहीं। लेकिन मक्खन से कोई कमल पैदा नहीं होता। अभी तक कोई मक्खन कमल पैदा नहीं कर पाया। कमल कीचड़ से पैदा होता है। असल में पैदा होने का ढंग कीचड़ में ही सम्भव है। इसलिए हमने कहा, जब एक दफा कमल हो जाता है, फिर वह दुबारा पैदा नहीं होता; क्योंकि दुबारा पैदा होने का कोई उपाय नहीं रहा। अब वह कीचड़ में नहीं उतर सकता, इसलिए दुबारा पैदा नहीं हो सकता। इसलिए हम कहते हैं कि उस दिन जन्म-जन्म की यात्रा समाप्त हो जाती है, जिस दिन व्यक्ति कमल हो जाता है। कमल तक यात्रा है कीचड़ की। कीचड़ कमल हो सकती है,

दूसरे पर ध्यान जाता है, वहीं हम लिप्त हो जाते हैं।

आपका ध्यान चारों तरफ तलाश करता रहता है कि किसको देखें, किसको छुएँ। आपका ध्यान चारों तरफ दौड़ता रहता है। जैसे 'आक्टोपस' के पंजे चारों तरफ घूमते रहते हैं, किसी को पकड़ने को। आपका ध्यान भी सारी इन्द्रियों के बाहर जाकर तत्पर रहता है कि किसको छुएँ। आप अपने को रोकते होंगे, सँभालते होंगे। जरूरी है, उपयोगी है, सुविधापूर्ण है। लेकिन आपका ध्यान भागता रहता है चारों तरफ। आप अपने मन की खोज करेंगे, तो आप पाएँगे कि कहाँ-कहाँ आप लिप्त हो जाना चाहते हैं, कहाँ-कहाँ आप छू लेना चाहते हैं।

भागता हुआ, चारों तरफ बहता हुआ मन है आपका। सारे संसार को छू लेने का मन है आपका।

बायरन ने कहीं कहा है कि एक स्त्री से नहीं चलेगा। मन तो सारी स्त्रियों को भोग लेना चाहता है। उसने अपने गीत में एक कड़ी लिखी है और कहा है कि ऐसा नहीं है कि एक स्त्री को मैं माँगता हूँ; एक स्त्री के द्वारा मैं सारी स्त्रियों को माँगता हूँ। और ऐसा भी नहीं है कि सारी स्त्रियों को भोग लूँ तो तृप्त हो जाऊँगा, तब भी माँग जारी रहेगी। छूने की जो माँग है, वह फैलती ही चली जाती है—स्त्री हो या पुरुष हो, धन हो या मकान हो—वह फैलती चली जाती है।

महावीर कहते हैं : अलिप्त हो जा, समस्त आसक्तियाँ मिटा कर, सब तरफ से अपने स्नेह-बन्धनों को तोड़ ले। यह जो फैलता हुआ वासना का विस्तार है, इसको काट दे।

यह कैसे कटेगा ?

तो महावीर कहते हैं, 'हे गौतम ! क्षण-मात्र प्रमाद मत कर।'

प्रमाद का अर्थ है : बेहोशी। प्रमाद का अर्थ है, गैर ध्यान-पूर्वक जीना। प्रमाद मूर्च्छा में है। जब-जब हम सम्बन्ध निर्मित करते हैं स्नेह का, तब-तब बेहोशी में निर्मित करते हैं, होश में निर्मित नहीं करते। होश-पूर्वक जो व्यक्ति जियेगा, वह कोई स्नेह के बन्धन निर्मित नहीं करेगा। इसका यह मतलब नहीं कि वह पत्थर हो जायेगा और उसमें प्रेम नहीं होगा। सच तो यह है कि उसी में प्रेम होगा। लेकिन उसका प्रेम अलिप्त होगा। यह कठिनतम घटना है जगत् में—प्रेम का, और अलिप्त होना!

भी पता नहीं चलता कि क्या होता है; एक स्त्री अप्सरा हो जाती है ! उस स्त्री का सब कुछ बदल जाता है, 'मेटामॉर्फोसिस' हो जाती है। उस स्त्री में आपको वह सब दिखाई पड़ने लगता है, जो आपको कभी दिखाई नहीं पड़ा था। सारा संसार उस स्त्री के आसपास इकट्ठा हो जाता है। सारे सपने उस स्त्री के पूरे होते मालूम होने लगते हैं। सारे कवियों की कविताएँ एकदम फीकी पड़ जाती हैं : वह स्त्री काव्य हो जाती है ! क्या हो जाता है ?

'बायोलॉजिस्ट' कहते हैं कि आपके शरीर में भी सम्मोहित करने के केमिकल्स हैं। कोई आदमी बाहर से एल. एस. डी. ले लेता है। एल. एस. डी. लेने से ही, जब हक्सले ने एल. एस. डी. लिया, तो जिस कुर्सी के सामने वह बैठा था, वह कुर्सी एकदम इन्द्रधनुषी रंगों से भर गई। लिया एल. एस. डी., भीतर एक केमिकल डाला, उससे सारी आँखें आच्छादित हो गईं। वह साधारण सी कुर्सी, जिस पर उसने कभी ध्यान ही नहीं दिया था, जो उसके घर में सदा से ही थी। वह उसके सामने रखी थी। उस कुर्सी में से रंग-बिरंगी किरणें निकलने लगीं। वह कुर्सी एक इन्द्रधनुष बन गई।

हक्सले ने लिखा है—उस कुर्सी से सुन्दर कोई चीज ही नहीं थी, उस क्षण में। ऐसा मैंने कभी देखा ही नहीं था। हक्सले ने लिखा है कि कबीर ने क्या जाना होगा अपनी समाधि में, इकहार्ट को क्या पता चला होगा, जब वह कुर्सी ऐसी रंगीन हो गई, स्वर्गीय हो गई। देवताओं के स्वर्ग की कुर्सियाँ फीकी पड़ गईं। सारा जगत् एक-सा मालूम पड़ने लगा।

क्या हो गया उस कुर्सी को ? कुर्सी को कुछ नहीं हुआ। कुर्सी अब भी वही है। हक्सले को कुछ हो गया। हक्सले को भीतर कुछ हो गया। वह जो भीतर 'केमिकल' गया है। वह खून में दौड़ गया है। इससे हक्सले की मनोदशा बदल गई है। हक्सले अब सम्मोहित है। अब यह कुर्सी अप्सरा हो गई है। छः घण्टे बाद जब नशा उतर गया एल० एस० डी० का, तो कुर्सी वापस कुर्सी हो गई। कुर्सी, कुर्सी ही थी। हक्सले वापिस हक्सले हो गये। फिर कुर्सी साधारण है।

इसलिए हनीमून के बाद अगर स्त्री साधारण हो जाये, तो घबराना मत— कुर्सी, कुर्सी हो गई। कोई आदमी सुहागरात में ही जिन्दगी बिताना चाहे, तो वह गलती में है। पूरी रात भी सुहागरात हो जाए, तो यह जरा कठिन है।

ही रहेगा। उसे इस कीचड़ के जगत् में फूल के होने का आनन्द उपलब्ध नहीं हो सकता। उसे कीचड़ से ही पूरा गुजरना पड़ेगा।

प्रमाद मिटता है ध्यान से। ध्यान प्रमाद के विपरीत है। ध्यान का अर्थ है होश। जो भी करें, होश से करना। अगर प्रेम भी करें, तो होश से करना। यह कठिन मामला है। न चोरी हो सकती होश से, न क्रोध हो सकता होश से, न प्रेम हो सकता होश से। वेहोशी उनकी अनिवार्य शर्त है। वेहोशी हो, तो ही वे होते हैं।

हम कहते हैं कि कोई आदमी प्रेम में गिर गया—वन हैज फॉलन इन लव। होना चाहिए—'वन हैज अराइजन इन लव।' 'कोई गिर गया वेचारा'—यह गिर गया ठीक ही कहते हैं। क्योंकि वेहोशी का अर्थ है, गिर जाना—होश खो दिया, होश गवाँ दिया।

इसलिए प्रेमी सबको पागल मालूम पड़ता है। इसका यह मतलब नहीं कि जब आप प्रेम में गिरेंगे, तब आपको पागलपन पता चलेगा। तब तो आपको सारी दुनिया पागल मालूम पड़ेगी; आप भर आपको समझदार मालूम पड़ेंगे; सारी दुनिया आपको पागल समझेगी। ऐसा नहीं कि उनकी कोई बुद्धि बढ़ गई है। वे भी गिरते रहे हैं। गिरेंगे। लेकिन जब तक नहीं गिरे हैं, तब तक वे समझते हैं कि देखें किसके पैर डगमगाते हैं; कि कौन वेहोशी में चल रहा है।

आसक्ति प्रमाद है। ध्यान अनासक्ति है। कि कितने होश से जीते हैं। एक-एक पल होश में रहे गौतम !

'तू इस प्रपंचमय विशाल संसार-समुद्र को तैर चुका है। भला किनारे पहुँच कर तू क्यों अटक रहा है ?'

महावीर कहते हैं, गौतम ! तेरा स्नेह मुझसे अटक गया है। अब तू मुझे प्रेम करने लगा है; यह भी छोड़। पत्नी का, मित्र का, स्वजन का मोह छोड़ दिया, यह गुरु का मोह भी छोड़। यह स्नेह मत बना। यह आसक्ति मत बना।

'उस पार पहुँचने की शीघ्रता कर। हे गौतम ! क्षण मात्र भी प्रमाद मत कर।'

एक क्षण को भी वेहोश मत हो। उठ ! यह जानते हुए उठ कि तू उठ रहा है। वैठ, तो जानते हुए वैठ कि वैठ रहा है। श्वांस भी ले, तो जानते हुए ले कि तू श्वांस ले रहा है। यह श्वांस भीतर गई, तो जान कि भीतर गई।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१५ सितम्बर, १९७२

बारहवां प्रवचन

पहले एक-दो प्रश्न।

एक मित्र ने पूछा है कि स्नेहयुक्त प्रेम और स्नेहमुक्त प्रेम में क्या अन्तर है। साथ ही काम, प्रेम और करुणा की आन्तरिक भिन्नता पर भी कुछ कहें।

जिस प्रेम को हम जानते हैं, वह एक वन्धन है, मुक्ति नहीं। और जो प्रेम वन्धन है, उसे प्रेम कहना भी व्यर्थ ही है। प्रेम का वन्धन पैदा होता है अपेक्षा से। मैं किसी को प्रेम करूँ, तो मैं सिर्फ प्रेम नहीं करता, वल्कि कुछ पाने को प्रेम करता हूँ। मेरा प्रेम करना साधन है, प्रेम पाना साध्य है। मैं प्रेम पाना चाहता हूँ, इसलिए प्रेम करता हूँ। मेरा प्रेम करना एक 'इनवेस्टमेन्ट' है। उसके विना प्रेम पाना असंभव है। इसलिए जव मैं प्रेम पाने के लिए प्रेम करता हूँ, तव मेरा प्रेम करना केवल साधन है, साध्य नहीं। नजर मेरी पाने पर लगी है। देना गौण है। देना, पाने के लिए ही है। अगर विना दिये चल जाए, तो मैं विना दिये चला लूँगा। अगर धोखा देने से चल जाए कि मैं प्रेम दे रहा हूँ, तो मैं धोखे से चला लूँगा। क्योंकि मेरी आकांक्षा देने की नहीं है, पाने की है—मिलना चाहिए।

जव भी हम देते हैं कुछ पाने को, तव हम सौदा करते हैं। स्वभावतः सौदे में हम कम देना चाहेंगे और ज्यादा पाना चाहेंगे। इसलिए सभी 'सौदे के प्रेम' व्यवसाय हो जाते हैं; और सभी व्यवसाय कलह को उत्पन्न करते हैं। क्योंकि सभी व्यवसायों के गहरे में लोभ होता है, छीनना है, झपटना है, लेना है; इसीलिए तो हम इस पर ध्यान ही नहीं देते कि कितना दिया। हम सदा इस पर ध्यान देते हैं कि कितना मिला। और दोनों ही व्यक्ति इसी पर ध्यान देते हैं कि कितना मिला। दोनों ही देने में उत्सुक नहीं है, पाने में उत्सुक हैं।

वस्तुतः हम देना वन्द कर देते हैं और पाने की आकांक्षा में पीड़ित होते रहते हैं। फिर प्रत्येक को यह ख्याल होता है कि मैंने वहुत दिया और मिला कुछ भी नहीं।

हैं, उनमें वह एक है; कि जो माँगता है, उसे मिलता नहीं और जो नहीं माँगता, उसे बहुत मिल जाता है। जो देता है पाने के लिए, उसके हाथ की पूंजी समाप्त हो जाती है, लौटता कुछ नहीं। और जो देता है—पाने के लिए नहीं, दे देने के लिए—बहुत वर्षा हो जाती है उसके ऊपर, बहुत लौट आता है उसके पास।

उसके कारण हैं।

जब भी हम माँगते हैं, तो दूसरे आदमी को देना मुश्किल हो जाता है। जब भी हम माँगते हैं, तो दूसरे आदमी को लगता है कि उससे कुछ छीना जा रहा है। जब भी हम माँगते हैं, तो दूसरे आदमी को लगता है कि परतंत्र हो रहे हैं।

जब हमारी माँग चारों तरफ से उसे घेर लेती है, तो उसे लगता है कि कारागृह हो गया है यह। अगर वह देता भी है, तो मजबूरी में प्रसन्नता उसकी खो जाती है। और बिना प्रसन्नता के जो दिया गया है, वह कुम्हलाया हुआ होता है, मरा हुआ होता है। अगर वह देता भी है, तो एक कर्तव्य हो जाता है, एक भार हो जाता है कि देना पड़ेगा। और प्रेम इतना कोमल, इतना 'डेलिकेट', इतना नाजुक है कि कर्तव्य का ख्याल आते ही मर जाता है।

जहाँ यह ख्याल आया, कि प्रेम मुझे करना ही पड़ेगा, क्योंकि यह मेरा पति है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा मित्र है इसलिए प्रेम करना ही पड़ेगा, वहीं प्रेम प्राणहीन हो जाता है, वहीं प्रेम मर जाता है। जहाँ प्रेम करना पड़ेगा बन जाता है वहीं प्रेम कर्तव्य बन जाता है, वहीं उसके प्राण तिरोहित हो गये, जिससे पक्षी उड़ता था। अब वह मरा हुआ पक्षी है, जिसके पंख सजा कर रखे जा सकते हैं, लेकिन जो उड़ने के काम नहीं आ सकते। वह जो उड़ता था, वह थी स्वतंत्रता। कर्तव्य में कोई स्वतंत्रता नहीं है; कर्तव्य एक बोझ है, एक ढोने का ख्याल है।

प्रेम इतना नाजुक है कि वह जरा-सा बोझ भी नहीं सह सकता। प्रेम सूक्ष्मतम घटना है, मनुष्य के मन में घटने वाली। जहाँ तक मन का सम्बन्ध है, प्रेम बारीक से बारीक घटना है। फिर प्रेम के बाद मन में घटने वाली और कोई बारीक घटना नहीं है। फिर तो जो घटता है, वह मन के पार है। जिसको हम प्रार्थना कहते हैं, वह मन के भीतर नहीं है। लेकिन मन की आखिरी सीमा पर, मन का जो सूक्ष्मतम रूप घट सकता है, वह प्रेम है। मन की जो शुद्धतम, आत्यंतिक, 'अल्टीमेट पॉसिबिलिटी' है, आखिरी संभावना

हैं, उनमें वह एक है; कि जो माँगता है, उसे मिलता नहीं और जो नहीं माँगता, उसे बहुत मिल जाता है। जो देता है पाने के लिए, उसके हाथ की पूंजी समाप्त हो जाती है, लौटता कुछ नहीं। और जो देता है—पाने के लिए नहीं, दे देने के लिए—बहुत वर्षा हो जाती है उसके ऊपर, बहुत लौट आता है उसके पास।

उसके कारण हैं।

जब भी हम माँगते हैं, तो दूसरे आदमी को देना मुश्किल हो जाता है। जब भी हम माँगते हैं, तो दूसरे आदमी को लगता है कि उससे कुछ छीना जा रहा है। जब भी हम माँगते हैं, तो दूसरे आदमी को लगता है कि परतंत्र हो रहे हैं।

जब हमारी माँग चारों तरफ से उसे घेर लेती है, तो उसे लगता है कि कारागृह हो गया है यह। अगर वह देता भी है, तो मजबूरी में प्रसन्नता उसकी खो जाती है। और बिना प्रसन्नता के जो दिया गया है, वह कुम्हलाया हुआ होता है, मरा हुआ होता है। अगर वह देता भी है, तो एक कर्तव्य हो जाता है, एक भार हो जाता है कि देना पड़ेगा। और प्रेम इतना कोमल, इतना 'डेलिकेट', इतना नाजुक है कि कर्तव्य का ख्याल आते ही मर जाता है।

जहाँ यह ख्याल आया, कि प्रेम मुझे करना ही पड़ेगा, क्योंकि यह मेरा पति है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा मित्र है इसलिए प्रेम करना ही पड़ेगा, वहीं प्रेम प्राणहीन हो जाता है, वहीं प्रेम मर जाता है। जहाँ प्रेम करना पड़ेगा बन जाता है वहीं प्रेम कर्तव्य बन जाता है, वहीं उसके प्राण तिरोहित हो गये, जिससे पक्षी उड़ता था। अब वह मरा हुआ पक्षी है, जिसके पंख सजा कर रखे जा सकते हैं, लेकिन जो उड़ने के काम नहीं आ सकते। वह जो उड़ता था, वह थी स्वतंत्रता। कर्तव्य में कोई स्वतंत्रता नहीं है; कर्तव्य एक बोझ है, एक ढोने का ख्याल है।

प्रेम इतना नाजुक है कि वह जरा-सा बोझ भी नहीं सह सकता। प्रेम सूक्ष्मतम घटना है, मनुष्य के मन में घटने वाली। जहाँ तक मन का सम्बन्ध है, प्रेम बारीक से बारीक घटना है। फिर प्रेम के बाद मन में घटने वाली और कोई बारीक घटना नहीं है। फिर तो जो घटता है, वह मन के पार है। जिसको हम प्रार्थना कहते हैं, वह मन के भीतर नहीं है। लेकिन मन की आखिरी सीमा पर, मन का जो सूक्ष्मतम रूप घट सकता है, वह प्रेम है। मन की जो शुद्धतम, आत्यंतिक, 'अल्टीमेट पॉसिबिलिटी' है, आखिरी संभावना

लेने को तब राजी नहीं था। आज उसके एक-एक चित्र की कीमत पांच लाख, दस लाख रुपया है। वान गॉग का एक भाई था; थियो उसका नाम था। वही कुछ पैसा देकर वान गॉग की जिन्दगी चलाता था। उसने कई बार वान गॉग को कहा कि बन्द करो यह, इससे कुछ मिलता तो है नहीं। तुम चित्र बनाए चले जाते हो, मिलता तो कुछ भी नहीं। भूखे मरते हो। क्योंकि उसे थियो जितना देता था, उससे सिर्फ उसकी रोटी का काम चलता था सात दिन। तो वह चार दिन खाना खाता था और तीन दिन उपवास करता था। ताकि तीन दिन में जो रोटी के पैसे बचें, उनसे रंग और 'कैनव्हास' खरीदा जा सके। उनसे वह चित्र बनाता था। इस तरह से बहुत कम लोगों ने चित्र बनाए हैं। इसलिए जैसे चित्र वान गॉग ने बनाए हैं, वैसे चित्र किसी ने भी नहीं बनाए।

लेकिन वान गॉग हँसता और वह कहता कि मिलना! जब मैं चित्र बनाता हूँ, तब सब मिल जाता है। जब बना रहा होता हूँ, तो सब मिल जाता है। चित्र बनने के बाद कुछ मिलेगा, यह बात ही बेहूदी है। इसका बनाने से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जब भी मैं बनाता हूँ, तभी मेरे प्राण उस बनाने में खिल जाते हैं। जब वहाँ रंग खिलने लगते हैं तभी मेरे भीतर भी रंग खिलने लगते हैं। जब वहां रूप निर्मित होने लगता है, तो मेरे भीतर भी रूप निर्मित होने लगता है। जब वहाँ सौन्दर्य प्रकट हो जाता है, तो यहां मेरे भीतर भी सौन्दर्य प्रकट हो जाता है। वह चित्र में हुआ सूर्योदय, मेरे भीतर हो रहा सूर्योदय है—साथ ही साथ। उसके पार और कुछ मिलने का सवाल ही नहीं है। यह बात ही व्यवसाय की है। यह बात एक व्यवसायी ही सोचेगा कि चित्र बिकेगा या नहीं।

थियो ने एक बार सोचा कि बेचारा वान गॉग! जिन्दगी चित्र बनाते बीत चली वान गॉग की। (थियो अन्यथा सोच ही नहीं सकता, क्योंकि वह एक दुकानदार है। वह काम ही करता है, चित्रों के बेचने का। उसकी कल्पना के ही बाहर है, समझ के ही बाहर है कि चित्र बनाने में ही कोई बात हो सकती है। जब तक चित्र बिके न तब तक बेमानी है; तब तक व्यर्थ गया श्रम।)

उसने सोचा कि जीवन भर हो गया चित्र बनाते-बनाते वान गॉग को, इसका एक चित्र न बिका। कितना दुखी होता होगा मन में। (स्वभावतः व्यवसायी को लगेगा कि कितना दुखी होता होगा मन में। कभी कुछ नहीं मिला, सारा जीवन व्यर्थ गया।) तो उसने एक मित्र को कुछ पैसे दिये और कहा कि जाकर वान गॉग का एक चित्र खरीद लो। कम से कम एक चित्र तो उसका

है, मकान में हो सकता है, सुरक्षा में हो सकता है; इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता। यह सब 'इकॉनामिकल', आर्थिक मामले हैं—चाहे नगद रुपये हों, चाहे नगद साड़ियाँ हों, चाहे नगद गहने हों, चाहे नगद मकान हों; चाहे भविष्य की सुरक्षा हो, बुढ़ापे में सेवा की व्यवस्था हो; कुछ भी हो—यह सब पैसे का ही मामला है···तो फिर वेश्या में और प्रेयसी में फर्क कहाँ है? इतना ही फर्क है कि वेश्या तत्काल इन्तजाम कर रही है और प्रेयसी लम्बा इन्तजाम कर रही है—'लांग टर्म प्लानिंग।' लेकिन फर्क कहाँ है? अगर मिलने पर ही ध्यान है, तो कोई फर्क नहीं है। फिर प्रेम वहाँ नहीं है, व्यवसाय है। हाँ, व्यवसाय कई ढंग के होते हैं; पत्नी के ढंग का भी होता है, वेश्या के ढंग का भी होता है।

वेश्या और पत्नी में कोई बुनियादी अन्तर तब तक नहीं हो सकता, जब तक ध्यान मिलने पर लगा हुआ है। बुनियादी अन्तर उस दिन पैदा होता है, जिस दिन प्रेम अपने में पूरा है, उसके पार कुछ भी नहीं। इसका यह मतलब नहीं कि उसके पार कुछ घटित नहीं होगा। बहुत घटित होगा, लेकिन मन से उसका कोई लेना-देना नहीं, उसकी कोई अपेक्षा नहीं, उसकी कोई आयोजना नहीं; क्षण काफी है, क्षण अनन्त है; जो मौजूद है, वह बहुत है। इसलिए प्रेम में गहन संतृप्ति है। गहन सन्तोष है। एक इतनी गहन तृप्ति का भाव है; 'फुलफिलमेन्ट' का कि सब आपका हो जाता है।

लेकिन हम प्रेमियों को देखें, वहाँ कोई 'फुलफिलमेन्ट' का भाव नहीं है। वहाँ सिवाय दुख, छीना-झपटी, कलह, और ज्यादा मिलना चाहिए, इसकी दौड़, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या—ऐसी हजार तरह की बीमारियाँ हैं, तृप्ति का कोई भी भाव नहीं।

जिस प्रेम में माँग है, वह बन्धन-युक्त है। और जिस प्रेम में दान है, वह बन्धन-मुक्त है। यह जो दान है मुक्त प्रेम का, इसे ठीक से समझ लें।

जिस प्रेम में माँग है, उसमें काम तो घटेगा ही। घटेगा ही नहीं, काम के लिए ही प्रेम होगा। 'सेक्स' ही आधार होगा सारे प्रेम का, जिसमें व्यवसाय है। वैज्ञानिक कहते हैं कि वह प्रेम तो बहाना होगा। वह, 'जस्ट फोर ए प्ले'। वह काम-वासना में उतरने के पहले की थोड़ी क्रिड़ा होगी।

इसलिए जब नया-नया सम्बन्ध होता है दो व्यक्तियों का, तो पहले काफी काम-क्रीड़ा चलती है। पति-पत्नी की काम-क्रीड़ा बन्द हो जाती है। उनका सीधा काम ही शुरू हो जाता है—'फोर प्ले'। वह जो काम में उतरने के पहले

बुद्ध, महावीर, क्राइस्ट, कृष्ण—ये हैं शुद्ध प्रेम, जिन्हें अब लेने का तो कोई सवाल ही नहीं है, जिन्हें अब देने का भी कोई भाव नहीं है। इसको ठीक से समझ लें। यहाँ लेने का कोई सवाल ही नहीं और देने का भी कोई भाव नहीं है। यहाँ तो करुणा ऐसे ही बहती है, जैसे फूल से गंध बहती है। राह निर्जन हो, तो भी बहती है। कोई न निकले, तो भी बहती है। जैसे दीये से रोशनी बहती है। कोई न हो देखनेवाला, तो भी बहती है।

पहले तरह के प्रेम में कोई देनेवाला हो, तो बहता है। दूसरे तरह के प्रेम में कोई लेनेवाला हो, तो बहता है। तीसरे तरह के प्रेम में, जिसको हमने करुणा कहा है, कोई भी न हो—न लेनेवाला, न देनेवाला—तो भी बहता है। वह स्वभाव है।

बुद्ध अकेले बैठे हैं, तो भी करुणापूर्ण हैं। कोई आ गया है, तो भी करुणा-पूर्ण हैं। कोई चला गया है, तो भी करुणापूर्ण हैं।

पहला प्रेम माँग करता है कि मेरे अनुकूल जो है, वह दो, तो मेरे प्रेम को मैं दूंगा। दूसरा प्रेम अनुकूल की माँग नहीं करता लेकिन जहाँ प्रतिकूल होगा, वहाँ से हट जाएगा। तीसरा प्रेम, प्रतिकूल हो, तो भी नहीं हटेगा।

मैं दूँ, पहले प्रेम में, उसे आप भी लौटाएँ तो ही टिकेगा। दूसरे प्रेम में आप न लौटाएँ, सिर्फ लेने को राजी हों, तो भी टिकेगा। तीसरे प्रेम में आप द्वार भी बन्द कर लें और लेने को भी राजी न हों, नाराज भी हो जाते हैं, क्रोधित भी होते हों, तो भी बहेगा।

तीसरा प्रेम अबाध है, उसे कोई बाधा नहीं रोक सकती। उसे लेनेवाला भी नहीं रोक सकता। वह बहता ही रहेगा। वह अपने को लेने से रोक सकता है, लेकिन प्रेम की धारा को नहीं रोक सकता। उसको हमने करुणा कहा है।

करुणा, प्रेम का परम-रूप है।

पहला प्रेम, शरीर से बँधा होता है। दूसरा प्रेम, मन के घेरे में होता है। तीसरा प्रेम, आत्मा के जीवन में प्रवेश कर जाता है। ये हमारे तीन घेरे हैं—शरीर का, मन का और आत्मा का।

शरीर से बँधा हुआ प्रेम यौन होता है मूलतः। प्रेम सिर्फ आसपास चिपकाए हुए कागज के फूल होते हैं। दूसरा प्रेम मूलतः प्रेम होता है। उसके आसपास शरीर की घटनाएँ भी घटती हैं, क्योंकि मन शरीर के करीब है। तीसरा प्रेम शरीर से बहुत दूर हो जाता है, बीच में मन का विस्तार हो जाता

अगर आपने कोई भी काम बेहोशीपूर्वक किया हो, आपको करना पड़ा हो, आप अचेतन हो गए हों करते वक्त, आप अपने मालिक न रहे हों करते वक्त, आपको ऐसा लगा हो जैसे आप 'पजेस्ड' हो गये हैं, किसी ने आपसे करवा लिया है, आप मुक्त नियंता न रहे हों, तो कर्म है।

अगर आप अपने कर्म के मालिक हों, नियंता हो, किसी ने करवा न लिया हो, आपने ही किया हो, पूरी सचेतना से, पूरे होश से, अप्रमाद से, तो महावीर कहते हैं, वह अकर्म है।

इसे हम उदाहरण लेकर समझें।

आपने क्रोध किया। क्या आप कह सकते हैं कि आपने क्रोध किया? या आपसे क्रोध करवा लिया गया? एक आदमी ने आपको गाली दी, एक आदमी ने आपको धक्का मार दिया, एक आदमी ने आपके पैर पर पैर रख दिया, एक आदमी ने आपको इस ढंग से देखा, इस ढंग से व्यवहार किया कि क्रोध आप में पैदा हुआ, तो क्रोध आप में किसी से पैदा हुआ।

यह एक आदमी गाली न देता, यह आदमी पैर पर पैर न रख देता, यह आदमी इस भद्दे ढंग से देखता नहीं, तो क्रोध पैदा नहीं होता।

क्रोध आपने नहीं किया, किसी और ने आपसे करवा लिया—पहली बात। मालिक कोई और है, मालिक आप नहीं हैं। इसको कर्म कहना ही फिजूल है। करनेवाले ही जब आप नहीं हैं, तो इसे कर्म कहना ही फिजूल है।

बुद्ध को कोई गाली दे, महावीर को कोई पत्थर मारे, जीसस को कोई सूली लगाए, तो भी वे साक्षी वने रहते हैं। जीसस मरते वक्त भी प्रार्थना करते हैं कि 'हे प्रभु ! इन सवको माफ कर देना, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।'

यह वही आदमी कह सकता है, जो अपने शरीर से भी दूर खड़ा हो। नहीं तो यह कैसे कह सकते हैं आप ? आपको कोई सूली दे रहा हो, तो आप यह कह सकते हैं कि इनको माफ कर देना ?

जीसस के शिष्य नहीं सोच रहे थे ऐसा। जीसस के शिष्य सोच रहे थे कि इस वक्त चमत्कार होगा, पृथ्वी फटेगी, आग वरसेगी आकाश से, महाप्रलय हो जाएगी। जीसस का एक इशारा और भगवान से यह कहना कि नष्ट कर दो इन सवको अभी चमत्कार हो जाएगा।

लेकिन जीसस ने जो कह दिया वह असली चमत्कार है। अगर जीसस ने कहा होता नष्ट कर दो इन सवको, आग लगा दो, राख कर दो इस पूरी भूमि को, जिन्होंने ऐसा मेरे साथ व्यवहार किया। मैं तो ईश्वर, तेरा इकलौता वेटा हूँ, नष्ट कर दो इन सवको, तो शिष्य समझते कि चमत्कार हुआ।

लेकिन यह चमत्कार न होता। यह तो आप भी करते। यह तो कोई भी कर सकता था। यह चमत्कार होता ही नहीं, क्योंकि यह तो जिसको सूली लगती वह करता ही। हो या न हो, यह दूसरी वात है। सूली तो वहुत दूर, पाँव में काँटा भी गड़ता है, तो सारी दुनिया में आग लगवा देने की इच्छा होती है।

जव आपके दाँत में दर्द होता है, तो लगता है कि कोई ईश्वर वगैरह नहीं है, सव नर्क है। यह तो सभी करते। आप थोड़ा सोचें, आप सूली पर लटके होते, क्या भाव उठता आपके भीतर ? न तो पृथ्वी फटती आपके कहने से; क्योंकि ऐसा फटने लगे, तो एक दिन भी विना फटे नहीं रहती। एक क्षण नहीं रह सकती। न कोई सूरज आग वरसाता, न कुछ और होता; लेकिन इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। आपका मन तो यही कहता कि ऐसा हो जाए।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जो जिन्दगी में दस-पाँच वार हत्याएँ करने का विचार न करता हो। दस-पाँच वार अपनी हत्या करने का विचार न करता हो। दस-पाँच वार सारी दुनिया को नष्ट कर देने का जिसे ख्याल न आ जाता हो, ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है।

जीसस ने यह जो कहा कि इनको माफ कर देना, क्योंकि ये नहीं जानते

के मत जाओ। कोई फिक्र ही मत करो, जो होगा देखा जाएगा। क्योंकि आज तक तुमने बहुत क्रोध पत्नी पर कर लिया है; कोई परिणाम तो होता नहीं, कोई हल तो होता नहीं। एक नई तरकीब का प्रयोग करो। जब पत्नी क्रोध करे, तो तुम मुस्कराते रहना। कुछ नहीं करना है, ऐसा नहीं; कुछ नहीं करोगे, तो मुश्किल पड़ेगी। तुम मुस्कराते रहना। यह कुछ करना रहेगा, एक बहाना रहेगा। तुम हँसते रहना।

पाँच-सात दिन के बाद, उनकी पत्नी ने आकर कहा कि यह मेरे पति को क्या हो गया है। बिलकुल हाथ से बाहर जाते हुए मालूम पड़ते हैं। उनका दिमाग तो ठीक है? पहले मैं कुछ कहती थी, तो वे क्रोधित होते थे, वह समझ में आता था। अब मैं कुछ कहती हूँ, तो वह हँसते हैं। इसका मतलब क्या है? उनका दिमाग तो ठीक है?

जब उनका दिमाग बिगड़ जाता था, तब पत्नी मानती थी कि ठीक है, क्योंकि वह 'नॉरमल' था। अब ठीक हो रहा है, तो पत्नी समझती है कि दिमाग कुछ खराब हो रहा है।

स्वभावतः जब कोई गाली दे, तो हँसना।

...तो अगर जीसस को सूली देनेवाले लोगों को लगा हो कि यह आदमी पागल है, तो आश्चर्य नहीं है। क्योंकि यह 'एबनॉरमल' था, असाधारण थी यह बात—जो सूली दे रहे हों उनके लिए प्रार्थना करना कि हे प्रभू! इन्हें माफ कर देना।

(हम सब जीते हैं प्रमाद में, इसलिए प्रमाद में होना हमारी साधारण, 'नॉरमल' अवस्था हो गई है। हमारे बीच कोई जरा होश से जिए, तो हमें अड़चन मालूम होती है। क्योंकि होश से जीनेवाला, हमारे बन्धन के बाहर होने लगता है। होश से जीनेवाला, हमारे हाथ से बाहर खिसकने लगता है, क्योंकि होश से जीनेवाले का अर्थ है कि हम बटन दबाते हैं, तो उसके भीतर क्रोध नहीं होता, हम बटन दबाते हैं, तो उसके भीतर आनन्द नहीं होता, वह अपना मालिक होता जा रहा है।

एक और ध्यान रखने की बात है कि आनन्दित आप अकेले हो सकते हैं; लेकिन क्रोधित आप अकेले नहीं हो सकते। आनन्द के लिए किसी की आपको अपेक्षा नहीं है कि कोई आपका बटन दबाए। इसलिए हमने कहा है कि जब कोई व्यक्ति अपना परम मालिक हो जाता है, तो परम आनन्द को उपलब्ध हो जाता है।

गलत होने का मतलब ही इतना है कि वह केवल बेहोशी में ही सम्भव है। गलत होने का एक ही मतलब है कि जो बेहोशी में ही सम्भव है। सही होने का एक ही मतलब है कि जो केवल होश में ही होता है, जो बेहोशी से कभी नहीं होता।

इसका क्या मतलब हुआ ?

इसका मतलब हुआ कि अगर आप बेहोशी से दान करते हैं, तो वह बन्धन है।

एक आदमी रास्ते पर भीख माँगता हुआ खड़ा है। आप अकेले जा रहे हैं, तो आप भीख माँगने वाले की फिक्र नहीं करते। चार लोग आपके साथ हैं और भीख माँगने वाला हाथ फैला देता है आपके सामने, तो आपको कुछ देना पड़ता है। यह भीख माँगने वाले को आप नहीं देते, यह अपनी इज्जत को देते हैं आप, जो चार लोगों के सामने दाव पर लगी है। इसलिए भिखारी भी जानता है कि अकेले आदमी से उलझना ठीक नहीं है, वह चार आदमियों के सामने हाथ फैला देता है, पैर पकड़ लेता है। उस वक्त सवाल यह नहीं है कि भिखारी को देना है। उस वक्त सवाल यह है कि लोग क्या कहेंगे कि दो पैसे न दे सके। आपका हाथ खीसे में जाता है। यह लोगों के लिए जा रहा है, जो मौजूद हैं। यह दान नहीं है, यह मूर्छा है। आप भिखारी को दे तो रहे हैं, लेकिन कहीं कोई दया-भाव नहीं है, यह मूर्छा है।

आप दान करते हैं, इसलिए कि मन्दिर पर मेरे नाम का पत्थर लग जाए, यह मूर्छा है। आप ही नहीं बचते, तो मन्दिर का पत्थर कितने दिन बचेगा ? और जरा जाकर देखें पुराने मन्दिरों पर जो पत्थर लगे हैं, उन्हें कौन पढ़ रहा है। वह भी आप जैसे ही लोग लगवा गये हैं। आप भी लगा जाएँगे।

अगर दान मूर्छा है, तो कर्म बन्धन है। लेकिन दान मूर्छा से हो ही नहीं सकता। अगर हो रहा है, तो उसका मतलब वह दान नहीं है; आप धोखे में हैं, वह कुछ और है।

चार लोगों में प्रशंसा मिलेगी, यह दान नहीं है। हजारों साल तक नाम रहेगा, यह दान नहीं है। यह तो सीधा सौदा है। अगर अकेले भी हैं आप, कोई देखने वाला नहीं है और भिखारी हाथ फैलाता है, तब भी जरूरी नहीं कि वह दान ही हो।

कई बार ऐसा होता है कि इंकार करना ज्यादा मँहगा और दे देना सस्ता होता है। एक-दो पैसे दे देने में ज्यादा सस्ता मालूम पड़ता है मामला; बजाए

लगेगा। यह जरा अजीब सा गणित मालूम पड़ता है। महावीर चलते हैं, तो पाप नहीं लगता। आप चलते हैं, तो पाप लगता है। चींटी वही मरती है; क्या फर्क है ?

आप वेहोशी से चल रहे हैं. इसलिए प्रकृति-प्रदत्त मरना नहीं है चींटी का; उसमें आपका हाथ है। आप अपनी तरफ से होश से चले होते; आपने मारने के लिए, न जाने, न अनजाने कोई चेष्टा की होती; आपने सव भांति अपने होश को सँभाल कर कदम उठाया होता, और फिर चींटी मर जाती, तो वह चींटी जाने, प्रकृति जाने, आप जिम्मेवार नहीं थे। आप जो कर सकते थे, वह किया आपने।

लेकिन आप वेहोशी से चलते हैं। आपको पता ही नहीं कि आप चल रहे हैं। आपको पता ही नहीं कि पैर आपका कहाँ पड़ रहा है, क्यों पड़ रहा है ? आपका सिर कहीं आसमान में घूम रहा है और पैर जमीन पर चल रहे हैं। आप मौजूद यहाँ हैं शरीर से और मन कहीं और है आपका।

यह जो वेहोश चलना है, इसमें जो चींटी मर रही है, उसमें आप जिम्मेदार हैं। वह जिम्मेदारी वेहोशी की जिम्मेदारी है, चींटी के मरने की नहीं। चींटी तो आपके होश में भी मर सकती है, लेकिन तव जिम्मेदारी आपकी नहीं।

महावीर चालीस साल जिए और यह वड़ी गहन चिन्तना का विषय रहा है, दार्शनिकों और तत्वज्ञों के लिए, कि महावीर को जब ज्ञान हुआ, उसके वाद चालीस साल वे जिन्दा रहे, तो कर्म तो कुछ किया ही होगा इन चालीस सालों में। तो उन्होंने जो कर्म किए, उसका वन्धन महावीर पर हुआ या नहीं ? कितना ही कम किया हो, कुछ तो किया ही होगा—उठे होंगे, वैठे होंगे— नहीं उठे, नहीं वैठे, सांस तो ली होगी। साँस लेने में भी तो जीवाणु मर रहे हैं; लाखों मर रहे हैं। एक सांस में तो एक लाख जीवाणु मर जाते हैं। वहुत छोटे हैं, सूक्ष्म हैं।

जव महावीर ने पहली दफा इनकी वात कही थी, तो लोगों को भरोसा ही नहीं आया—'कहां के जीवाणु।' लेकिन अव तो विज्ञान भी कहता है कि वे तो हैं; और महावीर ने जितनी संख्या वताई थी, उससे ज्यादा संख्या में हैं।

आपके ख्याल में नहीं है कि आप एक ही चुम्वन लेते हैं, तो एक लाख जीवाणु मर जाते हैं। दो ओठों के संस्पर्श के दवाव में एक लाख जीवाणु मर जाते हैं, यह वैज्ञानिक कहते हैं। महावीर ने, तो वहुत पहले इशारा किया था कि श्वास लेते हैं, तो भी जीवाणु मर जाते हैं।

'प्रमाद को कर्म, अप्रमाद को अकर्म कहा है अर्थात् जो प्रवृत्तियाँ प्रमादयुक्त हैं, वे कर्मवन्धन करनेवाली हैं और जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद-रहित हैं, वे कर्मवन्धन नहीं करती।'

इसलिए उन प्रवृत्तियों की खोज कर लेना, जो मूर्छा के विना नहीं हो सकतीं; उनको छोड़ना। उन प्रवृत्तियों की भी खोज कर लेना, जो वेहोशी में हो ही नहीं सकती, सिर्फ होश में होती हैं; उनकी खोज करना, उनका अभ्यास करना। लेकिन यह अभ्यास वहिर्मुखी न हो, भीतरी हो और होश से प्रारम्भ होता हो।

होश को वढ़ाना, ताकि वे प्रवृत्तियाँ वढ़ जाएँ जीवन में, जो होश में ही होती हैं। जैसे मैंने कहा 'प्रेम।' अगर आप वेहोश हैं, तो फिर पहले तरह का प्रेम होगा। थोड़े से होश में हैं और थोड़े से वेहोश हैं, तो दूसरे तरह का प्रेम होगा। अगर विलकुल होश में हैं, तो तीसरे तरह का प्रेम होगा। तीसरे तरह का प्रेम करुणा वन जाएगा। अगर वेहोश हैं, तो करुणा काम-वासना वन जाती है। अगर दोनों के मध्य में हैं, तो काम और करुणा के वीच में, वह जो कवियों का प्रेम है, वह होता है।

प्रमाद के होने और न होने से—ज्ञान के होने या न होने से नहीं—प्रमाद के होने या न होने से, महावीर कहते हैं, मैं किसी को मूढ़ और किसी को ज्ञानी कहता हूँ। वह कितना जानता है, इससे नहीं—कितना होशपूर्वक जीता है, इससे। उसकी जानकारी कितनी है, इससे उसे मैं ज्ञानी नहीं कहता हूँ; और उसकी जानकारी विलकुल नहीं है, इससे अज्ञानी भी नहीं कहता हूँ। जानकारी का ढेर लगा हो और आदमी वेहोश जी रहा हो, ऐसा भी हो सकता है।

मैंने सुना है एडिसन की वावत। शायद इस सदी के वड़े से वड़े आविष्कार एडिसन ने किये हैं, किसी दूसरे आदमी ने नहीं किये। आपकी जिन्दगी अधिकतर एडिसन से घिरी हुई है, चाहे आप कितना ही कहते हों कि हम भारतीय हैं और महावीर और वुद्ध से घिरे हैं। भूल में मत रहना; महावीर और वुद्ध से आपके फासले अनन्त हैं, घिरे आप किसी और से हैं। एडिसन से आप ज्यादा घिरे हैं, वजाए महावीर या वुद्ध के।

विजली का वटन दवाएँ, तो एडिसन का आविष्कार है। रेडियो खोलें, तो एडिसन का आविष्कार है। फोन उठाओ, तो एडिसन का आविष्कार है। हिलो-डुलो, सव तरह एडिसन। एक हजार आविष्कार हैं, जो हमारी जिन्दगी के हिस्से वन गये हैं। इस आदमी के पास जानकारी का अन्त नहीं था। वड़ा

नहीं हो सकते।

यह जो महावीर कहते हैं, 'जिसे मोह है, उसे तृष्णा है। अगर दुख है तो जानना कि मोह का सागर भरा है नीचे। अगर मोह है, तो जानना कि तृष्णा की दौड़ है पीछे।'

'जिसे लोभ नहीं, उसे तृष्णा नहीं।'

और इसलिए लोभ गहरे से गहरा है। तृष्णा भी लोभ का विस्तार है, 'ग्रीड' का। मैं ज्यादा हो जाऊँ। ज्यादा होने की जो दौड़ है, वह तृष्णा है। ज्यादा होने की जो वृत्ति है, वह लोभ है।

तृष्णा परिधि है, लोभ केन्द्र है। परिधि सफल हो जाए, तो मोह निर्मित होता है। परिधि असफल निर्मित हो जाए, असफल हो जाए, तो क्रोध निर्मित होता है। जितनी तृष्णा सफल होती जाए, उतना मोह बनता जाता है। और जितनी सफलता, उतना दुख। असफल हो, तो दुख।

'जिसे लोभ नहीं, उसे तृष्णा नहीं। और जो ममत्व से अपने पास कुछ भी नहीं रखता, उसका लोभ नष्ट हो जाता है।'

क्या है उपाय फिर?

एक ही उपाय है—'मेरे' को क्षीण करते जाना। पत्नी होगी, पर मेरे के भाव को क्षीण कर लेना। बेटा होगा, पर मेरे का भाव क्षीण कर लें। मकान को रहने दें, मकान के गिराने से कुछ न गिरेगा, मेरे को हटा लें। मकान से वह जो 'मेरे' को चिपका दिया है, वह जो आपके प्राण भी मकान के ईंट गारे में समा गये हैं, उनको वापस हटा लें।

मेरे को हटाते जाएँ। ममत्व को तोड़ते चलें जाएँ। और एक दिन ऐसी स्थिति आ जाए कि मकान तो दूर यह जो और भी पास का मकान है—देह, शरीर—इससे भी पीछे हटा लें। यह हड्डियाँ भी मेरी नहीं। और हैं भी नहीं। यह मांस भी मेरी नहीं। यह खून भी मेरा नहीं। यह चमड़ी भी मेरी नहीं। है भी नहीं। मैं नहीं था, तब ये हड्डियाँ किसी और की हड्डियाँ थीं। और मैं नहीं रहूँगा, तब यह मांस किसी और का मांस हो जाएगा। यह खून किसी और की नसों में बहेगा। और यह चमड़ी किसी और के मकान का घेरा बनेगी। यह मेरा है नहीं। यह मेरे पहले भी था और मेरे बाद भी होगा। इनसे भी अपने को हटा लें।

फिर और भीतर 'मैं' का एक मकान है 'मन' का। कहते हैं, मेरे विचार।

नहीं हो सकते।

यह जो महावीर कहते हैं, 'जिसे मोह है, उसे तृष्णा है। अगर दुख है तो जानना कि मोह का सागर भरा है नीचे। अगर मोह है, तो जानना कि तृष्णा की दौड़ है पीछे।'

'जिसे लोभ नहीं, उसे तृष्णा नहीं।'

और इसलिए लोभ गहरे से गहरा है। तृष्णा भी लोभ का विस्तार है, 'ग्रीड' का। मैं ज्यादा हो जाऊँ। ज्यादा होने की जो दौड़ है, वह तृष्णा है। ज्यादा होने की जो वृत्ति है, वह लोभ है।

तृष्णा परिधि है, लोभ केन्द्र है। परिधि सफल हो जाए, तो मोह निर्मित होता है। परिधि असफल निर्मित हो जाए, असफल हो जाए, तो क्रोध निर्मित होता है। जितनी तृष्णा सफल होती जाए, उतना मोह बनता जाता है। और जितनी सफलता, उतना दुख। असफल हो, तो दुख।

'जिसे लोभ नहीं, उसे तृष्णा नहीं। और जो ममत्व से अपने पास कुछ भी नहीं रखता, उसका लोभ नष्ट हो जाता है।'

क्या है उपाय फिर?

एक ही उपाय है—'मेरे' को क्षीण करते जाना। पत्नी होगी, पर मेरे के भाव को क्षीण कर लेना। बेटा होगा, पर मेरे का भाव क्षीण कर लें। मकान को रहने दें, मकान के गिराने से कुछ न गिरेगा, मेरे को हटा लें। मकान से वह जो 'मेरे' को चिपका दिया है, वह जो आपके प्राण भी मकान के ईंट गारे में समा गये हैं, उनको वापस हटा लें।

मेरे को हटाते जाएँ। ममत्व को तोड़ते चलें जाएँ। और एक दिन ऐसी स्थिति आ जाए कि मकान तो दूर यह जो और भी पास का मकान है—देह, शरीर—इससे भी पीछे हटा लें। यह हड्डियाँ भी मेरी नहीं। और हैं भी नहीं। यह मांस भी मेरी नहीं। यह खून भी मेरा नहीं। यह चमड़ी भी मेरी नहीं। भी नहीं। मैं नहीं था, तब ये हड्डियाँ किसी और की हड्डियाँ थीं। और नहीं रहूँगा, तब यह मांस किसी और का मांस हो जाएगा। यह खून किसी की नसों में बहेगा। और यह चमड़ी किसी और के मकान का घेरा बनेगी। मेरा है नहीं। यह मेरे पहले भी था और मेरे बाद भी होगा। इससे भी अपने को हटा लें।

फिर और भीतर 'मैं' का एक मकान है 'मन' का। कहते हैं, मेरे विचार।

नहीं हो सकते।

यह जो महावीर कहते हैं, 'जिसे मोह है, उसे तृष्णा है। अगर दुख है तो जानना कि मोह का सागर भरा है नीचे। अगर मोह है, तो जानना कि तृष्णा की दौड़ है पीछे।'

'जिसे लोभ नहीं, उसे तृष्णा नहीं।'

और इसलिए लोभ गहरे से गहरा है। तृष्णा भी लोभ का विस्तार है, 'ग्रीड' का। मैं ज्यादा हो जाऊँ। ज्यादा होने की जो दौड़ है, वह तृष्णा है। ज्यादा होने की जो वृत्ति है, वह लोभ है।

तृष्णा परिधि है, लोभ केन्द्र है। परिधि सफल हो जाए, तो मोह निर्मित होता है। परिधि असफल निर्मित हो जाए, असफल हो जाए, तो क्रोध निर्मित होता है। जितनी तृष्णा सफल होती जाए, उतना मोह बनता जाता है। और जितनी सफलता, उतना दुख। असफल हो, तो दुख।

'जिसे लोभ नहीं, उसे तृष्णा नहीं। और जो ममत्व से अपने पास कुछ भी नहीं रखता, उसका लोभ नष्ट हो जाता है।'

क्या है उपाय फिर?

एक ही उपाय है—'मेरे' को क्षीण करते जाना। पत्नी होगी, पर मेरे के भाव को क्षीण कर लेना। बेटा होगा, पर मेरे का भाव क्षीण कर लें। मकान को रहने दें, मकान के गिराने से कुछ न गिरेगा, मेरे को हटा लें। मकान से वह जो 'मेरे' को चिपका दिया है, वह जो आपके प्राण भी मकान के ईंट गारे में समा गये हैं, उनको वापस हटा लें।

मेरे को हटाते जाएँ। ममत्व को तोड़ते चले जाएँ। और एक दिन ऐसी स्थिति आ जाए कि मकान तो दूर यह जो और भी पास का मकान है—देह, शरीर—इससे भी पीछे हटा लें। यह हड्डियाँ भी मेरी नहीं। और हैं भी नहीं। यह मांस भी मेरी नहीं। यह खून भी मेरा नहीं। यह चमड़ी भी मेरी नहीं। है भी नहीं। मैं नहीं था, तब ये हड्डियाँ किसी और की हड्डियाँ थीं। और मैं नहीं रहूँगा, तब यह मांस किसी और का मांस हो जाएगा। यह खून किसी और की नसों में बहेगा। और यह चमड़ी किसी और के मकान का घेरा बनेगी। यह मेरा है नहीं। यह मेरे पहले भी था और मेरे बाद भी होगा। इससे भी अपने को हटा लें।

फिर और भीतर 'मैं' का एक मकान है 'मन' का। जहाँ हैं, मेरे विचार।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१६ सितम्बर, १९७२

तेरहवाँ प्रवचन

पहले एक दो प्रश्न।

● एक मित्र ने पूछा है, 'यदि महावीर की साधना की विधि में अप्रमाद प्राथमिक है, तो क्या अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, अकाम उसके ही परिणाम हैं या वे साधना के अलग आयाम हैं ?'

जीवन अति जटिल है, और जीवन की बड़ी से बड़ी और गहरी से गहरी जटिलता यह है कि जो भीतर है, आन्तरिक है, वह बाहर से जुड़ा है; और जो बाहर है, वह भी भीतर से संयुक्त है। यह जो सत्य की यात्रा है, वह कहाँ से शुरू हो, यह गुह्यतम् प्रश्न रहा है मनुष्य जाति के इतिहास में।

हम भीतर से यात्रा शुरू करें या बाहर से; हम आचरण बदलें या अन्तस्; हम अपना व्यवहार बदलें या अपना चैतन्य ? स्वभावतः इसके दो विपरीत उत्तर दिये गये हैं। एक ओर वे लोग हैं, जो कहते हैं कि आचरण को बदले बिना अन्तस् को बदलना असम्भव है। उनके कहने में भी गहरा विचार है। वे कहते हैं, 'अन्तस् तक हम पहुँच ही नहीं पाते, बिना आचरण को बदले; वह जो भीतर छिपा है, उसका तो हमें कोई पता ही नहीं। जो हमसे बाहर है, उसका ही हमें पता है। तो जिसका हमें पता ही नहीं है, उसे हम बदलेंगे कैसे ? जिसका हमें पता है, उसे ही हम बदल सकते हैं। हमें अपने केन्द्र का तो कोई अनुभव ही नहीं है, परिधि का ही बोध है। हम तो वही जानते हैं, जो हम करते हैं।'

मनस्विदों का एक वर्ग है, जो कहता है, 'मनुष्य उसके कर्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।' कहलर ने कहा है—'यू आर वोट यू डू।' (जो करते हो, वही हो तुम।) उससे ज्यादा नहीं। उससे ज्यादा की बात करनी ही नहीं चाहिए। हमारा किया हुआ ही हमारा होना है। इसलिए हम जो करते हैं, उससे हम निर्मित होते हैं।

सार्त्र ने भी कहा है कि प्रत्येक कृत्य तुम्हारा जन्म है। क्योंकि प्रत्येक कृत्य से तुम निर्मित होते हो। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिपल अपने को जन्म दे रहा है। आत्मा

इसलिए जो दूसरा अन्तस्‌वादी वर्ग है, उसका कहना है—जब तक भीतरी चेतना न बदल जाए, तब तक बाहर का कर्म बदल नहीं सकता। हम सिर्फ धोखा दे सकते हैं। हम इतना बड़ा धोखा भी दे सकते हैं कि हिंसा की जगह अहिंसा का व्यवहार करने लगें। लेकिन अन्तर नहीं पड़ेगा। हमारी अहिंसा में भी हमारी हिंसा की वृत्ति मौजूद रहेगी और यह भी कर सकते हैं कि क्रोध की जगह हम क्षमा और शान्ति को ग्रहण कर लें। लेकिन हमारी शान्ति और क्षमा की पर्त के नीचे क्रोध की आग जलती रहेगी।

इसलिए बहुत बार ऐसा दिखाई पड़ता है कि जिस आदमी के लिए हम कहते हैं कि वह कभी क्रोध नहीं करता, वह सिर्फ क्रोध का उबलता हुआ एक ज्वालामुखी होता है। करता कभी नहीं, लेकिन भरा सदा रहता है। साधुओं में, सन्यासियों में निरन्तर ऐसे लोग मिल जाएँगे, जो बाहर से, सब तरफ से; अपने को रोके खड़े हैं। लेकिन भीतर उनके बाँध तैयार है, जो किसी भी समय दीवार को तोड़ कर बहने को उत्सुक है। और जो बहता है नए-नए मार्गों से।

हम सबने सुन रखा है दुर्वासा और इस तरह के अन्य ऋषियों के बाबत, जो क्षुद्र सी बात पर पागल हो सकते हैं; क्रोध की आग बन जाते हैं। क्या हुआ होगा दुर्वासा के जीवन में? हुआ क्या होगा?

अन्तस् नहीं बदला है, आचरण बदल डाला है। अन्तस् से लपटें निकल रही हैं, और आचरण को शीतल कर लिया है। ये लपटें उबल रही हैं भीतर। वह कोई भी बहाना पाकर बाहर निकल आती हैं। कोई भी मार्ग उनके लिए यात्रा-पथ बन जाता है। जो आदमी इस दूसरी विचार-दृष्टि से आचरण को बदलेगा, वह दमन में पड़ जायेगा।

यह दो विचार-दृष्टियाँ हैं। लेकिन महावीर की विचार-दृष्टि दोनों में से कोई भी नहीं है। महावीर या बुद्ध या कृष्ण जैसे लोग मनुष्य को उसकी समग्रता में देखते हैं—'इन्टिग्रेटेड।' हम आदमी को तोड़ कर देखते हैं। तोड़ कर देखना हमारी विधि है। इसलिए हम अक्सर पूछते हैं, 'अंडा पहले या मुर्गी?' प्रश्न बिलकुल सार्थक मालूम पड़ता है। और लोग जवाब देने की कोशिश भी करते हैं। कुछ लोग हैं, जो कहते हैं, 'मुर्गी पहले; क्योंकि बिना मुर्गी के अंडा हो कैसे सकेगा?' और कुछ लोग हैं, जो उतनी ही तर्क-शीलता से कहते हैं कि अंडा पहले; क्योंकि अंडे के पहले मुर्गी हो कैसे सकेगी? और ऐसा नहीं कि गैर-बुद्धिमान इस तरह के तर्क में पड़ते हैं, बड़े-बड़े विचारशील

जो मारने का विचार करता है, वह हिंसक है। कोई मरता नहीं मेरे मारने से, लेकिन मार-मार के मैं अपने भीतर सड़ता हूँ।

हम अक्सर कहते हैं कि दूसरे को दुख नहीं देना है, क्योंकि दूसरे को दुख देना हिंसा है। यह बात भी महावीर की नहीं हो सकती। क्योंकि दूसरे को मैं दुख कैसे दे सकता हूँ? आप महावीर को दुख देकर देखें, तो आपको पता चलेगा। आप लाख उपाय करें, आप महावीर को दुख नहीं दे सकते। दूसरे को दुख देना मेरे हाथ में कहाँ है? जब तक दूसरा दुखी होने को तैयार न हो। यह मेरी स्वतंत्रता नहीं है कि मैं दूसरे को दुख दे दूँ।

जीसस को हमने सूली देकर देख लिया, जीसस को हम दुख नहीं दे पाये। और मंसूर के हमने हाथ-पैर काट डाले और उसकी गर्दन तोड़ डाली, तो भी मंसूर हँस रहा था; हम उसे दुख नहीं दे पाये। और हमने वे लोग भी देख लिये हैं कि जिनको सिंहासनों पर बैठा दें, तो भी उनके चेहरे पर हँसी नहीं आती।

हम न सुख दे सकते हैं, न दुख दे सकते हैं। यह हमारे हाथ में नहीं है। यह भी थोड़ा समझ लेने जैसा है।

हम आमतौर से सोचते हैं कि किसी को दुख मत दो। आप दे कब सकते हैं दूसरे को दुख? यह कहा किसने? यह वहम आपको पैदा कैसे हुआ?

यह वहम एक दूसरे गहरे वहम पर खड़ा हुआ है। वह दूसरा वहम यह है कि हम सोचते हैं कि हम दूसरे को सुख दे सकते हैं। सब आदमी दूसरे सुख दे रहे हैं। माँ बेटे को सुख दे रही है, बेटे माँ को सुख दे रहे हैं, पति पत्नियों को सुख दे रहे हैं, भाई भाइयों को, मित्र मित्रों को सुख देने की कोशिश में लगे हुए हैं; और कोई किसी को सुख नहीं दे पा रहा है। अभी तक मुझे ऐसा आदमी नहीं मिला, जो कहे कि मुझे मेरी माँ ने सुख दिया; कि माँ मिले और कहे कि मेरे बेटे ने मुझे सुख दिया।

कोई किसी को सुख नहीं दे पा रहा है। और सारी दुनिया सुख देने की कोशिश में लगी हुई है। इतनी सुख देने की चेष्टा है और सुख का कोई पता नहीं चलता। बल्कि, अक्सर ऐसा लगता है कि जितनी सुख देने की चेष्टा करो, उतना दुख पहुँचता हुआ मालूम पड़ता है। क्या, हो क्या रहा है?

अगर हम सुख दे सकते दूसरे को, तब तो यह पृथ्वी स्वर्ग बन सकती थी। कभी की बन जाती। कोई कमी नहीं है इसमें। कभी कोई कमी नहीं रही है। लेकिन यह पृथ्वी स्वर्ग नहीं बन पाती। क्योंकि हम दूसरे को सुख

हम और गहराई से समझें, तो दूसरों को हम सुखी कर ही न पाएँगे; लेकिन दूसरों को सुखी करने की चेष्टा में हम अपने को दुखी कर लेते हैं।

यह बड़े मजे की बात है कि अगर आप अपने को सुखी करने में लग जाएँ, तो शायद आपके आसपास के लोग भी थोड़े सुखी होने लगें। लेकिन हम उनको सुखी करने में लगे रहते हैं। उसमें तो वे सुखी हो नहीं पाते और हम दुखी हो जाते हैं। अगर आप अपने आसपास के लोगों को पूरी स्वतंत्रता दे सकें, तो यही अहिंसा है। इसे ठीक से समझ लें।

अगर मैं दूसरे को परिपूर्ण स्वतन्त्रता दे सकूँ कि न तो मैं तुम्हें दुखी करूँगा और न मैं तुम्हें सुखी करूँगा, मैं तुम्हें परिपूर्ण स्वतन्त्रता देता हूँ, तुम जो होना चाहो हो जाओ, मैं कोई बाधा नहीं डालूँगा, तो इस भाव का नाम अहिंसा है। अहिंसा जरा जटिल मामला है। वह इतना आसान नहीं है, जितना आप सोचते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि हम किसी को दुखी नहीं कर रहे हैं। फिर भी यह अहिंसा नहीं हो जायेगी। यह ख्याल भी कि आप दूसरे को दुखी कर सकते थे और अब नहीं कर रहे हैं, भ्रम है।

अहिंसा का अर्थ है : व्यक्ति परम स्वतन्त्र है और मैं कोई बाधा नहीं डालूँगा। इतनी बाधा भी नहीं डालूँगा कि उसे सुखी करने की कोशिश करूँ। मैं सुखी हो जाऊँ, तो मेरे आसपास जो आभा निर्मित होती है सुख की, वह शायद किसी के काम आ जाए। लेकिन वह भी मेरी चेष्टा से काम नहीं आएगी। वह भी दूसरे का ही भाव होगा उसे काम में लाने का, तो ही काम में आएगी।

अहिंसा का इतना ही मतलब है मेरे चित्त में कि दूसरे को कुछ करने की धारणा मिट जाए। अगर कोई आदमी अहिंसा से शुरू करेगा, तो भी वह अप्रमाद पर पहुँच ही जायेगा। क्योंकि उसे बड़ा होश रखना पड़ेगा। हमें पता ही नहीं रहता कि हम किन-किन मार्गों से, कितनी-कितनी तरकीबों से दूसरे को बाधा देते हैं। हमें पता ही नहीं रहता कि हमारे उठने में, हमारे बैठने में निन्दा व प्रशंसा सम्मिलित रहती है। हमारे देखने में समर्थन और विरोध शामिल रहता है। हम दूसरे को स्वतन्त्रता देना ही नहीं चाहते। और जितने निकट हमारे कोई हो, हम उसको उतना ही परतन्त्र करने की कोशिश में संलग्न रहते हैं। हमारी चेष्टा ही यह है कि दूसरा स्वतन्त्र न हो जाये। इसका नाम हिंसा है—इस चेष्टा का नाम।

किसी को आप परतन्त्र कर पाएँगे इस भ्रम में आप मत पड़ें। कोई

आप रास्ते से गुजर रहे हैं; और एक आदमी की तरफ आप किस भाँति देखते हैं ? क्या उसमें निन्दा है ? और भले आदमी बड़े निन्दा के भाव से देखते हैं। एक साधु के पास आप सिगरेट पीते हुए चले जाएँ, फिर उसकी आँखें देखें कैसी हो गई ! उसका वश चले तो अभी इसी वक्त आपको नर्क भेज दे। साधु नहीं है यह आदमी। क्योंकि वह आपकी स्वतन्त्रता में गहन बाधा डाल रहा है, चेष्टा कर रहा है।

साधुओं के पास जाओ, तो उनके पास बात ही कुल इतनी है कि ऐसा मत करो, वैसा मत करो ! जैसे ही आप किसी साधु के पास जाएँगे, वैसे ही वह आपकी स्वतन्त्रता को छीनने की चेष्टा में संलग्न हो जाएगा। और वह उसको कहेगा कि व्रत दे रहा हूँ। कौन किसको व्रत दे सकता है ? इसलिए साधुओं के पास जाने में डर लगता है लोगों को, कि वहाँ गये, तो कहा जायेगा—यह छोड़ दो, यह पकड़ लो, ऐसा मत करो, वैसा मत करो, यह नियम ले लो; मगर उसकी सारी चेष्टा का मतलब यह है कि साधु आपको वैसे ही बर्दाश्त नहीं कर सकता, आप जैसे हैं। वह आप में फर्क करेगा। आपके पंख काटेगा। आपकी शक्ल-सूरत में थोड़ा सा हिसाब किताब छाँटेगा।

आप जैसे हैं, इसकी परम स्वतन्त्रता का कोई समादर साधु के पास नहीं है। और जिसके पास आपकी स्वतन्त्रता का समादर नहीं है, वह साधु कहाँ है ? साधुता का मतलब ही यह है कि मैं कौन हूँ, जो बाधा दूँ ! मुझे जो ठीक लगता है, वह मैं निवेदन कर सकता हूँ, आग्रह नहीं।

महावीर ने कहा है—साधु उपदेश दे सकता है, आदेश नहीं। उपदेश का मतलब अलग होता है, आदेश का मतलब अलग। उपदेश का मतलब होता है—ऐसा मुझे ठीक लगता है, वह मैं कहता हूँ। आदेश का मतलब है—ऐसा ठीक है, तुम भी करो। मुझे जो ठीक लगता है, वह जरूरी नहीं कि ठीक हो। यह मेरा लगना है। मेरे लगने की क्या गारन्टी है ? मेरे लगने का मूल्य क्या है ? यह मेरी रुचि है, यह मेरा भाव है, यह परम सत्य होगा, यह मैं कैसे कहूँ ?

असाधुता वहीं से शुरू हो जाती है, जहाँ से मैं कहता हूँ कि मेरा सत्य तुम्हारा भी सत्य है—बस, वहीं से असाधुता शुरू हो गई; हिंसा शुरू हो गई।

जब मैं कहता हूँ कि मेरा सत्य, मेरा सत्य है। निवेदन करता हूँ कि मुझे क्या ठीक लगता है। शायद तुम्हारे काम आ जाए, और शायद काम न भी आए। शायद तुम्हें सहयोगी भी हो, शायद तुम्हें बाधा बन जाये। सोच कर, समझ कर, अप्रमाद से, होशपूर्वक, तुम्हें जैसा ठीक लगे करना, आदेश मैं नहीं

मामला बाहर का है। बाहर क्या रखा है। बाहर तो माया है।

एक बौद्ध-भिक्षु कहता था कि सारा संसार माया है। बाहर क्या रखा है ? है ही नहीं कुछ; सपना है। इसलिए वह वेश्या के घर में भी ठहर जायेगा, शराब भी पी लेगा। क्योंकि अगर सपना है, तो पानी और शराब में कैसे फर्क हो सकता है ! अगर शराब में कुछ वास्तविकता हो, तो ही फर्क हो सकता है। नहीं तो पानी और शराब में क्या फर्क है ?

अगर सब माया है, तो मैं आपको मारूँ कि जिलाऊँ, कि जहर दूँ, कि दवा दूँ, क्या फर्क है ? फर्क तो सच्चाइयों में होता है। दो झूठ बराबर झूठ होते हैं। और अगर आप कहते हैं कि एक झूठ थोड़ा कम झूठ है, तो इसका मतलब हुआ कि वह थोड़ा सच भी हो गया।

अगर सारा जगत् माया है, तो ठीक है। तो वह भिक्षु जो मन में आया करता था, एक सम्राट ने उसे अपने द्वार पर बुलाया विवाद में। जीतना उस आदमी से मुश्किल था। असल में विवाद की जिसे कुशलता आती हो, उसे जीतना किसी भी हालत में मुश्किल है। क्योंकि तर्क वेश्या की तरह है, कोई भी उसका उपयोग कर ले सकता है। और यह तर्क गहन है कि सारा जगत् माया है। सिद्ध भी कैसे करोगे कि माया नहीं है।

पर सम्राट था बुद्धू; और कभी-कभी बुद्धू तार्किकों को बड़ी मुश्किल में डाल देते हैं। सम्राट ने कहा, अच्छा ! सब माया है, तो अपना जो पागल हाथी है, उसे ले आओ। वह भिक्षु घबड़ाया कि अब झंझट होगी। तर्क का मामला था, तो वह सिद्ध कर लेता था। तर्क के मामले में आप उस आदमी से जीत नहीं सकते, जो आदमी कहता है कि सब असत्य है। उसे कैसे सिद्ध करियेगा कि वह असत्य है ? क्या उपाय है ? कोई उपाय नहीं है।

उस सम्राट ने कहा कि बैठ ! अभी पता चलता है। पागल हाथी बुलाकर उसने महल के आंगन में छोड़ दिया और भिक्षु को खींचने लगे सिपाही, तो वह चिल्लाने लगा कि यह क्या कर रहे हैं ! विचार से तर्क करिये।

पर सम्राट ने कहा—हाथी पागल है। हमारी समझ में यह वास्तविकता है और तुम्हारी समझ में सब माया है। माया के हाथी से ऐसा भय भी क्या ?

उस भिक्षु ने कहा—क्या मेरी जान लोगे ?

सम्राट ने कहा कि माया का हाथी, वह क्या जान ले पाएगा !

भिक्षु चिल्लाता रहा, जबरदस्ती उसे आंगन में छोड़ दिया गया। भिक्षु

हैं। चींटी पर पैर नहीं रखता। लेकिन भीतर उसके दूसरे को दुख और सुख पहुँचाने का भाव घना होता है। वह साधु हो जाता है, लेकिन दूसरों को ऐसे देखता है, जैसे कि वे कीड़े-मकोड़े हों।

शायद साधु होने का गहरा मजा ही यह है कि दूसरे कीड़े-मकोड़े दिखाई पड़ने लगते हैं। हम सभी दूसरे को कीड़ा-मकोड़ा देखना चाहते हैं; पर तरकीबें अलग-अलग हैं। कोई एक बहुत बड़ा मकान बना कर, उस पर खड़ा हो जाता है, तो उसे झोपड़ों के लोग कीड़े-मकोड़े हो जाते हैं। कोई आदमी चढ़ जाता है राजधानी के शिखर पर, तो उसे भीड़ कीड़ा-मकोड़ा हो जाती है। एक आदमी त्याग के शिखर पर चढ़ जाता है, तो उसे भोगी कीड़े-मकोड़े हो जाते हैं।

और बड़ा मजा यह है कि झोपड़े वाला आदमी तो शायद अकड़ कर भी चल सके महल वाले के सामने कि तुम शोषक, हत्यारे, हिंसक। भीड़ का आदमी राजनीति के शिखर पर खड़े आदमी के सामने अकड़ कर भी चल सके कि तुम बेईमान, झूठे; लेकिन भोगी, त्यागी के सामने अकड़ कर नहीं चल सकता।

तो त्याग बारीक से बारीक अकड़ है, जिसका जवाब देना मुश्किल है। भोगी को खुद ही लगता है कि वह गलत है, त्यागी ठीक है। यह भोगी को इसलिए लगता है कि त्यागी हजारों साल से उसको समझा रहे हैं, 'बिल्ट इन कन्डीशनिंग' कर दी है उसके दिमाग में कि तुम गलत हो। और जब भी उसको लगता है कि गलत तो मैं हूँ और त्यागी ठीक है, तो त्यागी शिखर पर हो जाता है और भोगी नीचे पड़ जाता है। सारी दुनिया में एक ही चेष्टा चलती रहती है कि मैं दूसरे से ऊपर हो जाऊँ—यही हिंसा है।

तो चींटी से बहुत बच कर चलने में कठिनाई नहीं है। अगर कोई चींटी से बच कर नहीं चलता, तो मैं उसको समझता हूँ कि वह कीड़ा-मकोड़ा है। तो कोई कठिनाई नहीं है चींटी से बच कर चलने में। अगर यही मजा है कि जो बच कर नहीं चलते, उनको मैं पापी की तरह देखता हूँ, तो चींटी से बचा जा सकता है। लेकिन यह हिंसा और गहरी हो गई। चींटी का मर जाना, उसको बेहोशी से दबा देना हिंसा थी, प्रमाद था, तो यह प्रमाद और गहरा हो गया। इसने रास्ता बदल लिया, रुख बदल लिया। बीमारी दूसरी तरफ चली गई। लेकिन मौजूद है तथा और भी गहरी हो गई है।

यह नया आदमी शराब से नहीं आता। यह नया आदमी भीतर छिपा था। शराब उसको बाहर आने में सिर्फ सहारा दे सकती है। शराब आपके भीतर कुछ पैदा नहीं करती। शराब भीतर जो छिपा है, उसको उकसा सकती है, जगा सकती है। इसलिए बहुत मजे की घटनाएँ घटती हैं।

एक आदमी शराब पीकर उदास हो जाता है और एक आदमी शराब पीकर प्रसन्न हो जाता है। एक आदमी गाली-गलौच बकने लगता है और एक आदमी बिलकुल मौनी हो जाता है, मौन साध लेता है। एक आदमी नाचने-कूदने लगता है और एक आदमी बिलकुल शिथिल हो जाता है, मुर्दे की भाँति हो जाता है, सोने की तैयारी करने लगता है। शराब तो एक है। शराब और कुछ भी नहीं करती है, जो आदमी के भीतर पड़ा है, सिर्फ उसको भर उत्तेजित करती है।

अक्सर उल्टा हो जाता है कि जो आदमी आमतौर से हँसता रहता है, वह शराब पीकर उदास हो जाता है। क्योंकि उसकी वह हँसी झूठी थी, ऊपर-ऊपर थी। उसके भीतर तो उदासी थी। वह असली थी। शराब ने झूठ को हटा दिया। शराब सत्य की बड़ी खोजी है। शराब ने असत्य को हटा दिया। वह जो हँसते रहते थे बन-बन कर, शराब पीकर अब उन्हें उतना भी होश रखना मुश्किल है कि वे बन-बन के हँस सकें। अब बनावट नहीं टिकेगी। हँसी खो जायेगी। और वह जो हँसी के नीचे छिपा रखा था, अम्बार लगा रखा था—उदासी का, दुख का, आँसुओं का—वह बाहर आने लगेगा।

इसलिए गुरजिएफ के पास जब भी कोई जाता था, तो पन्द्रह दिन तक गुरजिएफ उसे खूब धुआँधार शराब पिलाता था। सिर्फ उसकी 'डाइग्नोसिस', उसके निदान के लिए। पन्द्रह दिन तक वह उसे इतनी शराब पिलाता था कि जब तक वह उसे बेहोश न कर दे इतना कि जो उसने ऊपर-ऊपर से थोपा है, वह टूट जाए और जो भीतर है, जब तक वह बाहर न आने लगे। तब तक वह उसका निरीक्षण करता था।

गुरजिएफ कहता था—'जब तक कोई साधक मेरे पास आकर पन्द्रह दिन तक जितनी शराब मैं कहूँ पीने को राजी न हो, तब तक मैं उसकी साधना शुरू नहीं करता। क्योंकि मुझे असली आदमी का पता ही नहीं चलता। जो वह बताता है कि मैं हूँ—वह, वह है नहीं। इसलिए उस पर मैं जो मेहनत करूँगा, वह बेकार जायेगी। वह पानी पर खींची गई लकीर सिद्ध होगी। और वह जो

आप होश में हैं, उस वक्त आप आदर दिखा रहे हैं। जब पत्नी होश में है, उस वक्त वह कह रही है पति से—'तुम मेरे परमात्मा हो' और सपने में उसे दूसरा आदमी पति और परमात्मा दिखाई पड़ रहा है।

सपना इसलिए ज्यादा गहरा है, क्योंकि सपने में न सिद्धान्त काम आते हैं, न समाज काम आता है, न सिखावन काम आती है। सपने में तो जो असली मन है, अचेतन है, वह प्रकट होता है। इसलिए फ्रायड ने कहा है कि अगर असली आदमी को जानना हो, तो सपनों का अध्ययन जरूरी है। वात एक ही है। गुरजिएफ ने कहा है कि शराव पिलाकर उघाड़ लेंगे 'अन्कांशस' को, अचेतन को।

गुरजिएफ का 'मैथड' ज्यादा तेज है। पन्द्रह दिन में ही पता चल जाता है। फ्रायड के मैथड में पाँच साल लग जाते हैं। पाँच साल सपनों का अध्ययन करना पड़ेगा, तव नतीजा निकलेगा कि तुम आदमी कैसे हो, तुम्हारे भीतर की असलियत क्या है? तुम्हारा मूल-रोग क्या है? लेकिन यह निदान वहुत लम्वा हो गया। महावीर कहते हैं कि जो भी हम वाहर से भीतर ले जाते हैं, वह भीतर किसी चीज को पैदा नहीं कर सकता, लेकिन भीतर अगर कोई चीज पड़ी है, तो उसके लिए सहयोगी या विरोधी हो सकता है।

तो जो आदमी भीतर अप्रमाद की साधना करने में लगा है, जो इस साधना में लगा है कि होश को जगा ले, वह यदि शराव पीता रहे और होश जगाने की कोशिश भी करता रहे—सायं शराव पी ले और सुवह प्रार्थना करे और पूजा करे, और ध्यान करे, तो वह आदमी असंगत है; वह अपने ही साथ उल्टे, 'कन्ट्राडिक्टरी' काम कर रहा है। वह आदमी कभी कहीं पहुँचेगा नहीं। उसकी गाड़ी का एक वैल एक तरफ जा रहा है, दूसरा वैल दूसरी तरफ जा रहा है। एक चक्का एक तरफ जा रहा है, दूसरा चक्का दूसरी तरफ जा रहा है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक यात्रा में था। जव ऊपर की वर्थ में वह सोने लगा, तो उसने नीचे की वर्थ के आदमी से कहा—कि मैं यह पूछना तो भूल ही गया कि आप कहाँ जा रहे हैं? उस नीचे के आदमी ने कहा कि मैं वम्वई जा रहा हूँ।

मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा—'गजव! विज्ञान का चमत्कार! और मैं कलकत्ता जा रहा हूँ—एक ही गाड़ी में हम दोनों! विज्ञान का चमत्कार देखो कि नीचे की वर्थ वम्वई जा रही है। और ऊपर की वर्थ कलकत्ता जा रही है!

करने की। अब आप फिर क्रोध कर सकते हैं। अब आप फिर अपनी जगह आ गये। दो में से एक भी टूट जाए, तो दूसरा नहीं टिक सकता। मुर्गी मर जाये, तो फिर अण्डा नहीं हो सकता। और अण्डा अगर टूट जाए, तो फिर मुर्गी नहीं हो सकती। क्रोध को तो छोड़ने की बहुत ही कोशिश की; अब कृपा करके इतना ही करो कि पश्चात्ताप ही छोड़ दो। मत करो पश्चाताप, रहने दो क्रोध को वहीं, तो आपकी प्रतिमा वापस खड़ी न हो पाएगी। वही प्रतिमा खड़ी होकर क्रोध करती है। लेकिन हम होशियार हैं। हम हर कृत्य से दूसरे कृत्य को 'बैलेन्स' कर देते हैं। तराजू को हम सम्हाल कर रखते हैं। अच्छाई करते हैं थोड़ी, तत्काल थोडी बुराई करते हैं। थोड़ा हँसते हैं, तो थोड़ा रोते हैं। थोड़ा रोते हैं, तो थोड़ा हँस लेते हैं। सम्हाले रहते हैं अपने आपको।

हम नटों की तरह हैं, जो रस्सियों पर चल रहे हैं पूरे वक्त अपने को सम्हाल कर। बाएँ झुकने लगते हैं, तो दाएँ झुक जाते हैं। दाएँ गिरने लगते हैं, तो बाएँ झुक जाते हैं। अपने को सम्हाले हुए रस्सी पर खड़े हैं। आदमी तभी पहुँचता है मंजिल तक, जब उसके जीवन की यात्रा इस चमत्कार से बच जाती है—कि एक वर्ष बम्बई और एक वर्ष कलकत्ता नहीं जाती।

जब आदमी एक दिशा में यात्रा करता है, तो परिणाम, निष्पत्तियाँ, उपलब्धियाँ आती हैं; नहीं तो जीवन व्यर्थ हो जाता है। अपने ही हाथों व्यर्थ हो जाता है।

महावीर कहते हैं—'रस वाले पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिये।'

महावीर बहुत ही सुविचारित बोलते हैं। उन्होंने ऐसा भी कहा कि सेवन नहीं करना चाहिये क्योंकि वह अति हो जायेगी। कभी सेवन की जरूरत पड़ सकती है। कभी जहर भी औषधि होता है।

महावीर बहुत ही सुविचारित बोलते हैं। एक-एक शब्द उनका तुला हुआ है। कहीं भी वे अति नहीं करते। क्योंकि अति में हिंसा हो जाती है। वे ऐसा नहीं कहते कि सेवन करना ही नहीं चाहिये। वे कहते हैं कि अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिये।

ध्यान रहे—औषधि की मात्रा होती है, शराब की कोई मात्रा नहीं होती। शराब का मजा ही अधिक मात्रा में है। औषधि मात्रा से ली जाती है, शराब कोई मात्रा से नहीं ली जाती। शराब की जितनी मात्रा आप आज लेते हैं,

लेकिन हम तो चाहते हैं कि लोग हमारे चारों तरफ दौड़े हुए आएँ। हम तो चाहते हैं कि हम स्वादिष्ट फल बन जाएँ—लदे हुए वृक्ष। सारे पक्षी हम पर ही डेरा कर लें। तो जहां नहीं है फल, वहां हम झूठे, नकली फल लटका देते हैं; ताकि फल की ओर लोग दौड़े हुए आएँ। पक्षी तो धोखा खाते नहीं नकली फलों से, आदमी धोखा खाते हैं।

हर आदमी बाजार में खड़ा है, अपने को रसीला बनाए हुए कि चारों तरफ से लोग दौड़ें और मधुमक्खियों की तरह उस पर छा जाएँ। जब तक किसी को ऐसा न लगे कि मैं बहुत लोगों को पागल कर पाता हूँ, तब तक उसे आनन्द ही नहीं मालूम होता जीवन में। जब भीड़ चारों तरफ से दौड़ने लगे आपकी ओर, तो आपको लगता है कि आप 'मैगनेट' हो गये, 'कॅरिज्मैटिक' हो गए। अब आप चमत्कारी हैं।

राजनीतिज्ञ को रस ही यही है, नेता को रस ही यही है कि लोग उसकी तरफ दौड़ रहे हैं। अभिनेता का, अभिनेत्री का रस ही यही है कि लोग उसकी तरफ भाग रहे हैं।

तो, हम तो अपने को एक ऐसा मादक बिंदु बनाना चाहते हैं, जो चारों तरफ से खींच ले; जिसके व्यक्तित्व में शराब हो। और महावीर कहते हैं कि जो दूसरे को खींचने जायेगा, वह पहले ही दूसरों से खिंच चुका है; जो दूसरों के आकर्षण पर जियेगा, वह दूसरों से आकर्षित है; और जो अपने भीतर मादकता भरेगा, बेहोशी भरेगा, लोग उसकी तरफ खींचेंगे जरूर, लेकिन वह अपने को खो रहा है, डुबा रहा है। और एक दिन वह रिक्त हो जायेगा और वह जीवन के अवसर से चूक जायेगा।

निश्चित ही, एक स्त्री जो होशपूर्ण हो, वह कम लोगों को आकर्षित करेगी। एक स्त्री जो मदमत्त हो, वह ज्यादा लोगों को आकर्षित करेगी; क्योंकि मदमत्त स्त्री पशु जैसी हो जाएगी। सारी सभ्यता, सारा संस्कार जो ऊपर था, वह सब टूट जायेगा, वह पशुवत् हो जायेगी। एक पुरुष जो मदमत्त हो, वह ज्यादा स्त्रियों को आकर्षित कर लेगा; क्योंकि वह पशुवत् हो जायेगा, उसमें ठीक पशुओं जैसी गति आ जायेगी।

सब वासनाएँ यदि पशु जैसी हों, तो ज्यादा रसपूर्ण हो जाती हैं; इसलिए जिन मुल्कों में भी कामवासना प्रगाढ़ हो जायेगी, उन मुल्कों में शराब भी प्रगाढ़ हो जायेगी। सच तो यह है कि फिर बिना शराब पिये काम-वासना में उतरना मुश्किल हो जायेगा; क्योंकि वह जो थोड़ी समझ है, वह बाधा डालती

'काम-भोग अपने-आप न किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं और न किसी में राग-देष रूप विकृति पैदा करते हैं। परन्तु मनुष्य स्वयं ही उनके प्रति राग-द्वेष के नाना संकल्प बनाकर मोह से विकारग्रस्त हो जाता है।'

यह सूत्र कीमती है।

महावीर कहते हैं कि सारा खेल काम-वासना का तुम्हारा अपना है।

मैं कुम्भ के मेले में था और एक मित्र मेरे साथ थे। मेला शुरू होने में अभी देर थी कुछ। हम दोनों बैठे थे गंगा के किनारे। दूर; पर बहुत दूर नहीं—दिखाई न पड़े, इतनी ही दूर एक महिला अपने बाल संवार रही थी स्नान करने के बाद। वहाँ से उसकी पीठ ही दिखाई पड़ती थी। वह मित्र उसकी पीठ देखकर बिलकुल पागल हो गये। बात-चीत में उनका रस जाता रहा। उन्होंने मुझसे कहा कि आप रुकें, मैं जब तक उस स्त्री का चेहरा न देख लूँ, तब तक मुझे चैन नहीं पड़ेगा; मैं जाऊँ और चेहरा देख आऊँ। वे गए, पर वहाँ से बड़े उदास लौटे; क्योंकि वहाँ कोई स्त्री नहीं थी। वह एक साधु था, जो अपने बाल संवार रहा था!

गये, तब उनके पैरों की चाल...!

लौटे, तब उनके पैरों का हाल...!

...मगर संकोची होते, शिष्ट होते, मन में ही रख लेते, तो जिन्दगी भर परेशान रहते।

सच में ही पीछे से वह आकृति आकर्षक मालूम पड़ती थी; पर वह आकर्षण वहाँ था या उन मित्र के मन में था? क्योंकि वहाँ जाकर जब यह पता चला कि वह पुरुष है, तो उनका सारा आकर्षण खो गया।

आकर्षण स्त्री में है या स्त्री के भाव में? आकर्षण पुरुष में है या पुरुष के भाव में?

वास्तविक आकर्षण भीतर है, उसे हम फैलाते हैं बाहर। बाहर खूंटियाँ हैं सिर्फ, उन पर हम टाँगते हैं अपने आकर्षण को। और ऐसा भी नहीं है कि ऐसी घटना घटे, तभी हमें पता चलता है।

आज आप किसी के लिए दिवाने हैं; बड़ा रस है। और कल जब सब फीका हो जाता है, तो आप खुद ही नहीं सोच पाते कि क्या हुआ—कल इतना रस था और आज सब फीका क्यों हो गया?—व्यक्ति वही है, पर सब रस फीका हो गया!

विवाह है; अन्यथा समझना कि धोखा था। जिस दिन विवाह के कोई बन्धन नहीं होंगे, उसी दिन हमें पता चलेगा कि कौन पति-पत्नी हैं; उसके पहले कोई पता नहीं चल सकता—कोई उपाय नहीं है पता चलने का।

मुझे क्या पसन्द है, मेरा किसके साथ गहरा आन्तरिक नाता है, वह तभी पता चलेगा, जब बदलने के सब उपाय हों और बदलाहट न हो। जब बदलने के कोई उपाय न हों और बदलाहट न हो, तो सभी पत्नियाँ 'सतियाँ' हैं—कोई अड़चन नहीं है—तो सभी पति एक पत्नीव्रती हैं; जितनी हमारे चारों तरफ खूँटियाँ हों, उतना ही हमें पता चलेगा कि कितना 'प्रोजेक्शन' है, कितना हमारा मन एक खूँटी से दूसरी खूँटी पर, दूसरी खूँटी से तीसरी खूँटी पर नाचता रहता है। जो रस हम पाते हैं उस खूँटी से, वह हमारा ही दिया हुआ दान है—यह महावीर कह रहे हैं; उससे कुछ मिलता नहीं है हमें।

एक कुत्ता है, वह एक हड्डी को मुँह में लेकर चूस रहा है। कुत्ता जब हड्डी चूसता है तब बैठ कर ध्यान करना चाहिये उस पर; क्योंकि वह बड़ा गहरा काम कर रहा है, जो सभी आदमी करते हैं। कुत्ता हड्डी चूसता है, तो हड्डी में कुछ रस तो होता नहीं, लेकिन कुत्ते के खुद के ही मुँह में जख्म हो जाते हैं हड्डी चूसने से, और उनसे खून निकलने लगता है। वह जो खून निकलता है, तो कुत्ता समझता है कि खून हड्डी से आ रहा है। अपना ही खून है, लेकिन कुत्ता समझे भी कैसे कि खून हड्डी से नहीं निकल रहा है, हड्डी चूसने से निकल रहा है। स्वभावतः तर्क उपयुक्त है, गणित साफ है कि जब वह हड्डी चूसता है, तभी खून निकलता है, हड्डी से निकलता है; लेकिन वह निकलता है उसके अपने ही मसूड़ों के टूट जाने से, अपने ही मुंह में घाव हो जाने से। कुत्ता मजे से हड्डी चूसता रहता है और अपना ही खून पीता रहता है।

जब आप किसी और से रस ले रहे हैं, तब आप हड्डी चूस रहे हैं। रस आपके ही मन का है। अपना ही खून झरता है, किसी दूसरे से कोई रस मिलता नहीं, मिल सकता नहीं। अगर एक व्यक्ति को सम्भोग में भी सुख मिलता है, तो अपने ही खून झरने से मिलता है; किसी दूसरे से कुछ लेना-देना नहीं है। वह हड्डी चूसना है। लेकिन कठिनाई यह है कि न कुत्ते की समझ में आता है और न आदमी की समझ में आता है। खुद को समझना जटिल है।

दिखाई पड़ता है।

ध्यान रहे; जब मैं किसी स्त्री, किसी पुरुष, किसी मित्र, किसी शत्रु के प्रति किसी भाव में पड़ जाता हूँ, तो 'प्रोजेक्टर' पीछे, मेरे भीतर छिपा है, जहाँ मैं चित्र हूँ; और दूसरा व्यक्ति केवल एक परदा है, जिस पर वह चित्र दिखाई पड़ता है। इस भाँति मैं ही दिखाई पड़ता हूँ बहुत लोगों पर।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जब किसी आदमी में तुम्हें कोई बुराई दिखाई पड़े, तो बहुत गौर से सोचना! ज्यादा मौके ऐसे होंगे कि वह बुराई तुम्हारी ही होगी। जैसे एक बाप अगर गधा रहा हो स्कूल में, तो बेटे को गधा वह बिलकुल बर्दाश्त नहीं करेगा; वह बेटे को बुद्धिमान बनाने की कोशिश में लगा रहेगा। और जरा सा भी बेटा अगर ना-समझी करे, या उसके नम्बर कम हो जाएँ परीक्षा में तो बाप भारी शोर-गुल मचायेगा। बुद्धिमान बाप शोर-गुल नहीं मचायेगा, लेकिन बुद्धू बाप जरूर मचायेगा। उसका कारण है कि बेटा सिर्फ 'प्रोजेक्शन' का परदा है। जो उनमें कम रह गया है, उसे वह बेटे में पूरा करने की कोशिश कर रहे हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन का बेटा एक दिन अपने स्कूल का प्रमाण-पत्र लेकर लौटा सालाना परीक्षा का, तो मुल्ला ने बहुत हाय-तोबा मचाई; बहुत उछला कूदा और कहा—बर्बाद कर दिया, नाम डुबा दिया, किसी विषय में उत्तीर्ण नहीं हुआ है; अधिकतर में शून्य प्राप्त हुआ है।

लेकिन बेटा नसरुद्दीन का ही था, वह खड़ा मुस्कराता रहा। जब बाप काफी शोर-गुल कर लिया और काफी अपने को उत्तेजित कर लिया, तब बेटे ने कहा—'जरा ठहरिये! यह प्रमाण-पत्र मेरा नहीं है, यह एक पुरानी किताब में रखा हुआ था, यह आप का है!'

मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा—'तब ठीक है। तो जो मेरे बाप ने मेरे साथ किया था, वही मैं तेरे साथ करूँगा।'

बेटे ने पूछा—'तुम्हारे साथ क्या किया था?'

नसरुद्दीन ने कहा—'नंगा करके चमड़ी उघेड़ दी थी।'

...तो ठीक! मेरा ही सही, कोई हर्जा नहीं; पर तेरा कहाँ है?

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१७ सितम्बर, १९७२

चौदहवाँ प्रवचन

सूत्र के पूर्व कुछ प्रश्न।

महावीर ने अप्रमाद को साधना का आधार कहा है। इस सम्बन्ध में एक मित्र ने पूछा है कि हम अपने काम-काज में, अपनी ऑफिस में, दुकान में कार्य करते समय अप्रमाद को कैसे आचरण में लाएँ? होश रहने पर ध्यान रखें, तो काम कैसे हो? काम में होते हुए क्या होश की साधना हो सकती है?

दो तीन बातें ख्याल में लेनी चाहिए।

पहली बात—होश कोई अलग प्रक्रिया नहीं है कि भोजन करने में बाधा डाले। जैसे मैं आप से कहूँ कि आप भोजन करें और दौड़ें भी, तो दोनों में से एक ही काम हो सकेगा—दौड़ना या भोजन करना। आप से मैं कहूँ कि दफ्तर जाएँ और सोएँ भी, तो दोनों में से एक ही हो सकेगा—सोना या दफ्तर जाना।

होश कोई प्रतियोगी क्रिया नहीं है। भोजन आप कर सकते हैं—होश रखते हुए या वेहोशी में। होश, भोजन के करने में बाधा नहीं बनेगा। होश रखने का अर्थ सिर्फ इतना ही है कि भोजन करते समय मन कहीं और न जाए, भोजन करने में ही हो। मन कहीं और चला जाए, तो भोजन करना होशपूर्वक नहीं हो सकेगा। आप भोजन कर रहे हैं और मन दफ्तर में चला गया, शरीर भोजन की टेवल पर है और मन दफ्तर में, तो न तो दफ्तर में हैं आप, क्योंकि वहाँ आप हैं नहीं और न भोजन की टेवल पर हैं आप, क्योंकि मन वहाँ नहीं रहा। तो वह जो भोजन कर रहे हैं आप, वह वेहोशी में हो रहा है, आप के विना हो रहा है।

इस वेहोशी को तोड़ने की प्रक्रिया है—होश। भोजन करते वक्त मन भोजन में ही हो, कहीं और न जाए। सारा जगत् जैसे मिट गया और सिर्फ यह छोटा सा काम भोजन करने का रह गया। पूरी चेतना भोजन के सामने है। एक कौर भी आप बनाते हैं, उठाते हैं, मुंह में ले जाते हैं, चवाते हैं, तो यह सारा होशपूर्वक हो रहा है। आपका सारा ध्यान भोजन करने में ही है;

जो भी हम ध्यान से करते हैं, उससे कुशलता वढ़ जाती है। लेकिन अनेक लोग ध्यान का मतलव समझते हैं, जोर-जबरदस्ती से की गई एकाग्रता। अगर आप जवरदस्ती अपने को खींचकर किसी काम पर लगते हैं, तो आप थक जाएँगे। तव तो यह ध्यान भी एक काम हो गया। जो भी जवरदस्ती किया जाता है, वह काम हो जाता है।

ध्यान को भी आनन्द समझें। इसको भी वेचैनी मत वनाएँ। यह आपके सिर पर एक वोझ न हो जाए कि मुझे ध्यानपूर्वक ही काम करना है। इसको चेष्टा और प्रयत्न का वोझ न दें। हल्के-हल्के इसे विकसित होने दें, इसे सहारा दें। जव भी ख्याल आ जाए, तो होशपूर्वक करें। भूल जाएँ, तो चिन्ता न लें। जव ख्याल आ जाए, फिर होशपूर्वक करने लगें।

अगर आपने तय किया है कि मैं अपना काम होशपूर्वक करूँगा, तो आप कर पाएँगे। आज ही कर पायेंगे, ऐसा नहीं है। वर्षो लग जाएँगे; क्योंकि क्षण भर भी होश रखना मुश्किल है। तय करेंगे कि होशपूर्वक चलूँगा, तो दो कदम भी नहीं उठा पाएँगे कि होश कहीं और चला जाएगा और कदम कहीं और चलने लगेंगे। उससे चिन्तित न हों, पश्चात्ताप न करें। लाखों-लाखों जन्मों की आदत है वेहोशी की, इसलिए दुखी होने का कोई कारण नहीं है। हमने ही साधा है वेहोशी को, इसलिए किससे शिकायत करने जाएँ और परेशान होने से कुछ हल नहीं होता।

जैसे की ख्याल आ जाए कि पैर वेहोशी में चलने लगे, मेरा ध्यान कहीं और चला गया था, तो आनन्दपूर्वक फिर ध्यान को ले आएँ। इसको पश्चात्ताप न वनाएँ। इससे मन में दुखी न हों। इससे पीड़ित न हों। इससे ऐसा न समझें कि यह अपने से न होगा। यह भी न समझें कि मैं तो वहुत दीन-हीन हूँ, वहुत कमजोर हूँ, मुझसे होने वाला ही नहीं है, होता होगा महावीर से, अपने वश की वात नहीं है। विलकुल न सोचें ऐसा। महावीर भी शुरू करते हैं, तो ऐसा ही होगा। कोई भी शुरू करता है, तो ऐसा ही होता है। महावीर इस यात्रा का अन्त हैं, प्रारम्भ पर वे भी आप जैसे हैं। अन्त आपको दिखाई पड़ा है। महावीर के प्रारम्भ का आपको कोई पता नहीं है। प्रारम्भ में सभी के पैर डगमगाते हैं।

छोटा वच्चा चलना शुरू करता है; अगर वह आपको देख ले चलता हुआ और सोचे कि यह अपने से न होगा, तो वह चल ही न पायेगा। आप भी ऐसे ही चले थे। आपने भी ऐसे ही कदम उठाए थे और गिरे थे। दो कदम उठाने

आप अपने से बहुत अपेक्षा कर लेते हैं पहले, फिर उतनी पूरी नहीं होती। वह अपेक्षा आपका अहंकार है। एक क्षण भी होश सधता है, तो बहुत है। एक क्षण भी जो आज सधता है, वह कल दो क्षण भी सध जाएगा। और ध्यान रहे, एक क्षण से ज्यादा तो आदमी के हाथ में कभी होता भी नहीं। दो क्षण तो किसी को इकट्ठे मिलते भी नहीं। इसलिए दो क्षण की चिन्ता भी क्या? जब भी आपके हाथ में समय आता है, एक ही क्षण आता है। अगर आप एक क्षण में होश साध सकते हैं, तो समस्त जीवन में होश सध सकता है। इसका बीज आपके पास है। एक ही क्षण तो मिलता है हमेशा। और एक क्षण का होश साधने की क्षमता आप में है।

आदमी एक कदम चलता है एक बार में, कोई मीलों की छलांग नहीं लगाता। और एक-एक कदम चलकर आदमी हजारों मील चल लेता है। जो आदमी अपने पैरों को देखेगा और देखेगा कि एक कदम चलता हूँ, एक फीट पूरा नहीं हो पाता, हजार मील कहाँ पार होने वाले हैं, वह वहीं बैठ जाएगा। लेकिन जो आदमी यह देखता है कि एक कदम चल लेता हूँ, तो एक कदम, हजार मील में कम हुआ, और अगर जरा सी भी कम होता है, तो एक दिन सागर को भी चुकाया जा सकता है। फिर कुछ भी अड़चन नहीं है। इतना चल लेता हूँ, तो एक हजार मील भी चल लूंगा, दस हजार मील भी चल लूंगा। लाओत्से ने कहा है—पहले कदम को उठाने में जो समर्थ हो गया, उसको अंतिम बहुत दूर नहीं है।

जिसने पहला कदम उठा लिया है, वह अंतिम भी उठा लेगा। पहले में ही अड़चन है, अंतिम में अड़चन नहीं है। जो पहले पर ही थक कर बैठ गया, निश्चित ही वह अंतिम नहीं उठा पाता है। पहला कदम आधी यात्रा है, चाहे यात्रा कितनी ही बड़ी क्यों न हो। जिसने पहले कदम के रहस्य को समझ लिया, वह चलने की तरकीब समझ गया, विज्ञान समझ गया। एक-एक कदम उठाये जाना है। एक-एक पल को प्रमाद से मुक्त करते जाना है। जो भी करते हैं, होशपूर्वक करें। होश अलग काम नहीं है, उस काम को ही ध्यान बना लें।

दुनिया में जो और साधन पद्धतियाँ हैं, वे सब ध्यान को अलग काम बताती हैं। वे कहती हैं रास्ते पर चलें, तो राम को स्मरण करते रहो। वे कहती हैं कि बैठे हो खाली, तो माला जपते रहो। कोई भी पल ऐसा न जाए, जो प्रभु-स्मरण से खाली हो। इसका मतलब हुआ कि जिन्दगी का काम एक तरफ चलता रहेगा और भीतर एक नए काम की धारा शुरू करनी पड़ेगी।

को अलग क्रिया मत बनाओ, विपरीत क्रिया मत बनाओ। जो चल रहा है, जो मौजूद है, उसको ही ध्यान का 'आब्जैक्ट', उसको ही ध्यान का विषय बना लो। और तब इन अर्थों में महावीर की पद्धति जीवन विरोधी नहीं है, और जीवन में कोई अड़चन खड़ी नहीं करती।

महावीर ने सीधी सी बात कही है—चलो, तो होशपूर्वक; बैठो, तो होशपूर्वक; उठो, तो होशपूर्वक; भोजन करो, तो होशपूर्वक—जो भी तुम कर रहे हो जीवन की क्षुद्रतम क्रिया, उसको भी होशपूर्वक किये चले जाओ। क्रिया में बाधा न पड़ेगी, क्रिया में कुशलता बढ़ेगी। और होश भी साथ-साथ विकसित होता चला जायेगा। एक दिन तुम पाओगे कि सारा जीवन होश का एक दीप-स्तम्भ बन गया है, तुम्हारे भीतर सब होशपूर्ण हो गया है।

एक दूसरे मित्र ने पूछा है कि कल आपने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति की परम स्वतंत्रता का समादर करना ही अहिंसा है। दूसरे को बदलने का, अनुशासित करने का, उसे भिन्न करने का प्रयास हिंसा है। तो फिर गुरजिएफ और झेन गुरुओं का अपने शिष्यों के प्रति इतना सख्त अनुशासन और व्यवहार और उन्हें बदलने के तथा नया बनाने के भारी प्रयत्न के सम्बन्ध में क्या कहियेगा? क्या उसमें भी हिंसा नहीं छिपी है?

दूसरे को बदलने की चेष्टा हिंसा है, अपने को बदलने की चेष्टा हिंसा नहीं है। दूसरे की जीवन पद्धति पर आरोपित होने की चेष्टा हिंसा है, अपने जीवन को रूपान्तरण करना हिंसा नहीं है; और यहीं फर्क शुरू हो जाता है।

जब भी एक व्यक्ति किसी झेन गुरु के पास जाकर समर्पण कर देता है, तो गुरु और शिष्य दो नहीं रहते। अब यह दूसरे को बदलने की कोशिश नहीं है। झेन गुरु आपको आकर बदलने की कोशिश नहीं करेगा, जब तक कि आप जाकर बदलने के लिए अपने को उसके हाथ में नहीं छोड़ देते। जब आप बदलने के लिए अपने-आप को उसके हाथ में छोड़ देते हैं, समग्र-रूपेण समर्पण कर देते हैं, 'टोटल सरेन्डर' कर देते हैं, तब गुरु आपको अलग नहीं देखता। अब आप उसका ही विस्तार हैं, उसका ही फैलाव हैं। अब वह आपको ऐसे ही बदलने में लग जाता है, जैसे अपने को बदल रहा है। इसलिए झेन गुरु सख्त मालूम पड़ सकता है बाहर से देखनेवालों को, शिष्यों को कभी सख्त मालूम नहीं पड़ा।

हुई-हाई ने कहा है कि जब मेरे गुरु ने मुझे खिड़की से उठाकर बाहर फेंक दिया, तो जो भी देखनेवाले थे, सभी ने समझा कि यह गुरु दुष्ट है—'यह भी

को दिखाई पड़ता होगा कि कैसी हिंसा है, लेकिन गुरु का डंडा जब कन्धे पर पड़ता है, कन्धे पर हर कहीं नहीं पड़ता, खास केन्द्र हैं, जिन पर झेन गुरु डंडा मारते हैं; उन केन्द्रों पर चोट पड़ते ही भीतर का पूरा स्नायु तन्तु झनझना जाता है। उस स्नायु तन्तु की झनझनाहट में निद्रा मुश्किल हो जाती है, झपकी मुश्किल हो जाती है; होश आ जाता है।

तो हमें बाहर से दिखाई पड़ेगा। बाहर से जो दिखाई पड़ता है, उसको सच मत मान लेना। जल्दी निष्कर्ष मत ले लेना। भीतर एक अलग जगत् भी है; और गुरु और शिष्य के बीच जो घटित हो रहा है, वह बाहर से नहीं जाना जा सकता। उसे जानने का उपाय भीतर ही है। उसे शिष्य होकर ही जाना जा सकता है। उसे बाहर से खड़े होकर देखने में आप से भूल होगी, निर्णय गलत हो जाएँगे, निष्पत्तियाँ भ्रांत होंगी।

अगर आप एक रास्ते से गुजर रहे हैं और एक मठ के भीतर एक झेन गुरु किसी को बाहर फेंक रहा है खिड़की के, तो आप सोचेंगे पुलिस में खबर कर देनी चाहिए। आप सोचेंगे यह आदमी कैसा है! अगर आप इस आदमी से मिलने आये थे, तो बाहर से ही लौट आएँगे। लेकिन भीतर क्या घटित हो रहा है, वह है सूक्ष्म; और वह केवल हुई-हाई और उसका गुरु ही जानता है कि भीतर क्या हो रहा है।

पश्चिम में 'शॉक ट्रीटमेन्ट' बहुत बाद में विकसित हुआ। आज हम जानते हैं, मनस्विद, मनोचिकित्सक जानते हैं कि अगर एक व्यक्ति ऐसी हालत में आ जाए पागलपन की कि कोई दवा काम न करे, तो भी 'शॉक' काम करता है। अगर हम उनके स्नायु तन्तुओं को इतना झनझना दें कि एक क्षण को भी सातत्य टूट जाए, 'कन्टिन्यूटी' टूट जाए···।

एक आदमी अपने को नैपोलियन समझ रहा है, या अपने को हिटलर माने हुए है—उसके सब इलाज हो चुके हैं; लेकिन कोई उपाय नहीं होता। जितना इलाज करो वह उतना और मजबूत होता चला जाता है—क्या करें? इसके मन की एक धारा बँध गई है, एक सातत्य हो गया है, एक 'कन्टिन्यूटि' हो गई है—वह दुहराए ही चला जा रहा है कि मैं हिटलर हूँ। आप कुछ भी करो, वह उस सबसे यही नतीजा लेगा कि मैं हिटलर हूँ। उसे समझाने का कोई उपाय नहीं है। समझाने की सीमा के बाहर चला गया है वह···!

मैं निरन्तर कहता हूँ कि एक आदमी को अब्राहम लिंकन होने का ख्याल पैदा हो गया। नाटक में काम मिला था उसको अब्राहम लिंकन का। अमेरिका

इस सब इलाज, चिकित्सा से, समझाने से। उसने आज तय कर लिया था कि ठीक है, आज मान लूंगा—जो वे कहते हैं, वही ठीक है।

बहुत से प्रश्न उससे पूछे गये, फिर पूछा गया कि तुम्हारा नाम क्या है? क्या अब्राहम लिंकन है? उसने कहा—'नहीं'। और मशीन ने नीचे बताया कि यह आदमी झूठ बोल रहा है। तब तो मनोचिकित्सक ने भी सिर ठोक लिया। उसने कहा अब कोई उपाय ही न रहा। क्योंकि 'लाई-डिटेक्टर' कह रहा है कि यह आदमी झूठ बोल रहा है। क्योंकि भीतर तो उसे आया 'हां', लेकिन उसने सोचा—'कब तक इस उपद्रम में पड़ा रहूं? एक दफे नहीं कहकर झंझट छुड़ाऊँ।' तो उसने ऊपर से कहा—'नहीं, मैं अब्राहम लिंकन नहीं हूं।'

अब इस आदमी के लिए क्या किया जाए? तो 'शॉक ट्रीटमेण्ट' है; और कोई उपाय नहीं है। ऐसे आदमी से मस्तिष्क को बिजली से धक्का पहुँचाना पड़ेगा। धक्के का एक ही उपयोग है कि वह जो सतत धारा चल रही है कि मैं अब्राहम लिंकन हूँ, मैं अब्राहम लिंकन हूँ, उस धारा को समझाने से कोई उपाय नहीं है; क्योंकि धारा उससे टूटती नहीं। बिजली के धक्के से वह धारा टूट जायेगी, छिन्न-भिन्न हो जायेगी। एक क्षण को इस आदमी के भीतर का जो सातत्य है, वह खण्डित हो जायेगा—'गैप', अंतराल हो जायेगा। शायद उस 'गैप' के कारण दुबारा इसको ख्याल न आये कि मैं अब्राहम लिंकन हूं। इसलिए मनोविज्ञान अब 'शॉक-ट्रीटमेण्ट' का उपयोग करता है। अन्तिम उपाय वही है—धक्का पहुँचा कर स्नायु-तन्तुओं की धारा को तोड़ देना।

झेन गुरु बहुत प्राचीन समय से—कोई हजार साल से, डेढ़ हजार साल से उसका उपयोग कर रहे हैं। यह जो शिष्य के साथ झेन गुरु का इतना तीव्र हिंसात्मक दिखाई पड़नेवाला व्यवहार है, यह तो कुछ भी नहीं है।

एक झेन गुरु वांकेई की आदत थी कि जब वह ईश्वर के बाबत कुछ बोलता था, तो एक अँगुली ऊपर उठाकर इशारा करता था। जैसा कि अक्सर हो जाता है, जहां गुरु और शिष्य एक दूसरे को प्रेम करते हैं, वहां शिष्य पीठ-पीछे गुरु की मजाक भी करते हैं। जब बहुत आत्मीय निकटता होती है, तब ऐसा हो जाता है।

तो, यह जो उसकी आदत थी अँगुली ऊपर उठा कर बात करने की सदा, यह मजाक करने का विषय बन गई थी। जब भी कोई बात कहता शिष्यों में, तो वह अँगुली ऊपर उठा देता। उनमें एक छोटा बच्चा भी था, जो आश्रम

न हो, वह साधना पद्धति मर जाती है। हमारे पास भी बहुत सी साधना पद्धतियाँ हैं, लेकिन करीब-करीब वह मर गई हैं। क्योंकि न गुरु में साहस है, न उसमें इतनी करुणा है कि वह रास्ते के बाहर जाकर भी शिष्य को सहायता पहुँचाए। नियम ही रह गये हैं। नियम धीरे-धीरे मुर्दा हो जाते हैं। उनका पालन चलता रहता है। मरी हुई व्यवस्था की तरह हम उन्हें ढोते रहते हैं।

दूसरे को बदलने की चेष्टा नहीं है झेन गुरु की; लेकिन जिसने अपने को समर्पित किया बदलने के लिए, वह दूसरा नहीं है। दूसरे को बदलने में कोई अपने अहंकार की तृप्ति नहीं है।

यह बहुत मजे की बात है कि जब कोई व्यक्ति किसी के प्रति पूरा समर्पित हो जाता है, तो उन दोनों के बीच अहंकार की सीमाएँ जो उन्हें तोड़ती थीं, अलग करती थीं, वे विलीन हो जाती हैं। यह मिलन इतना गहरा है, जितना पति-पत्नी का भी कभी नहीं होता, प्रेमी और प्रेयसी का भी कभी नहीं होता—जितना गुरु और शिष्य का हो सकता है। लेकिन अति कठिन है; क्योंकि पति और पत्नी का मामला तो 'बायलॉजिकल', शारीरिक है। पर गुरु और शिष्य का सम्बन्ध 'स्पीरिचुअल', आध्यात्मिक है, 'बायलॉजिकल' नहीं है।

पति और पत्नी तो पशुओं में भी होते हैं, प्रेमी और प्रेयसी तो पक्षियों में भी होते हैं, कीड़े-मकोड़ों में भी होते हैं; सिर्फ गुरु और शिष्य का एकमात्र सम्बन्ध है, जो मनुष्यों में होता है, बाकी सब सम्बन्ध सब में होता है। इसलिए जो व्यक्ति गुरु-शिष्य के गहन सम्बन्ध को उपलब्ध न हुआ हो, एक अर्थ में वह ठीक से अभी मनुष्य नहीं हो पाया है। उसके सारे सम्बन्ध अभी पाशविक हैं। क्योंकि वे सब सम्बन्ध तो पशु होने में भी हो जाते हैं। कोई अड़चन नहीं है, कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन पशुओं में गुरु और शिष्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता। हो नहीं सकता। यह जो सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध के हो जाने के बाद फासला नहीं है, कि हम दूसरे को बदल रहे हैं—हम अपने को ही बदल रहे हैं। इसलिए बुद्ध का जब कोई शिष्य मुक्त होता है, तो बुद्ध कहते हुए सुने गये हैं कि आज मैं फिर तेरे द्वारा पुनः मुक्त हुआ।

महायान बौद्ध धर्म एक बड़ी मीठी कथा कहता है। वह कथा यह है कि बुद्ध का निर्वाण हुआ, शरीर छूटा, वे मोक्ष के द्वार पर जाकर खड़े हो गये, लेकिन उन्होंने पीठ कर ली। द्वारपाल ने कहा—'आप भीतर आएँ, युगों-युगों से हम प्रतीक्षा कर रहे हैं आपके आगमन की और आप पीठ फेर कर खड़े हो गये हैं। तो बुद्ध ने कहा कि जिन-जिन ने मेरे प्रति समर्पण किया, जिन-जिन ने

अगर साधक यह फर्क करता है, तो समर्पित नहीं है। शिष्य नहीं है वह। तो उसे पहले ही, गुरु के पास आने के पहले सोच लेना चाहिए। यह समर्पण के पहले सोच लेना चाहिए। गुरु के चुनाव की स्वतंत्रता है, गुरु के आदेशों में चुनाव की स्वतंत्रता नहीं है। मैं अ को गुरु चुनूं कि ब को या स को—मैं स्वतंत्र हूँ लेकिन अ को चुनने के बाद स्वतंत्र नहीं हूँ—कि अ का आदेश मानूं कि ब का आदेश मानूं कि स का आदेश मानूं ?

गुरु को चुनने का अर्थ, समग्र चुनना है। इसलिए झेन और सूफियों ने बहुत गहन गुरु की परम्परा विकसित की, और बहुत बड़े आंततिक रहस्य उन्होंने खोले हैं।

सूफी शास्त्र कहते हैं कि गुरु को चुनने के बाद खण्ड-खण्ड विचार नहीं लिया जा सकता है कि वह क्या ठीक कहता है और क्या गलत कहता है। अगर लगे कि गलत कहता है, तो पूरे ही गुरु को छोड़ देना तत्काल। ऐसा मत सोचना कि यह बात न मानेंगे, यह गलत है; यह बात मानेंगे, यह सही है। इसका तो मतलब हुआ कि गुरु के ऊपर आप हैं, और अन्तिम निर्णय आपका ही चल रहा है, कि क्या ठीक और क्या गलत, तो परीक्षा गुरु की चल रही है, आपकी नहीं। और इस तरह के लोग जब मुसीबत में पड़ते हैं, तो जिम्मा गुरु का है।

सूफी कहते हैं कि जब गुरु को चुन लिया, तो पूरा चुन लिया। यह 'टोटल एक्सेप्टेन्स' है। अगर किसी दिन छोड़ना हो, तो 'टोटल' छोड़ देना, पूरा छोड़ देना, हट जाना वहाँ से। लेकिन आधा चुनने और आधा छोड़ने का काम मत करना। यदि ठीक लगता है इसलिए चुनेंगे, तो आखिर में आप ही ठीक हैं। जो ठीक लगता है वह चुनते हैं और जो गलत लगता है, वह नहीं चुनते, तो आप को ठीक और गलत का राज मालूम ही है—अब बचा क्या है चुनने को ? जब आप यह भी पता लगा लेते हैं कि क्या ठीक है और क्या गलत है, तो आपका बचा ही क्या है—शिष्य होने की कोई जरूरत ही नहीं है। लेकिन अगर शिष्य होने की जरूरत है, तो आपको पता नहीं है कि क्या ठीक है और क्या गलत है।

गुरु का चुनाव समग्र है। छोड़ना हो, तो सूफी कहते हैं, पूरा छोड़ देना। बड़ी मजे की बात सूफियों ने कही है। बायजीद ने कहा है कि अगर गुरु को छोड़ना हो, तो जितने आदर से स्वीकार किया था, जितनी समग्रता से, उतने ही आदर से, उतनी ही समग्रता से छोड़ देना। कठिन है मामला। किसी को

रात संगीत चलेगा दो-दो बजे तक। गुरजिएफ के बँगले की रोशनी बाहर पड़ती रहेगी और हार्टमेन अपनी कोठरी में सोया रहेगा। सभाएँ होंगी, भीड़ होगी, लोग आयेंगे, अतिथि आयेंगे, चर्चा होगी, प्रश्न होंगे, पर हार्टमेन नहीं होगा साल भर।

जिस दिन साल भर पूरा हुआ, उस दिन गुरजिएफ हार्टमेन के झोपड़े पर गया और गुरजिएफ ने हार्टमेन से कहा कि अब तुम जब भी आना चाहो, आधी रात को भी, जब मैं सो रहा हूँ तब भी, किसी भी क्षण, चौबीस घण्टे तुम आ सकते हो। अब तुम्हें किसी से पूछने की जरूरत नहीं है, कोई आज्ञा लेने की जरूरत नहीं है।

तो हार्टमेन ने गुरजिएफ के चरण छुए और कहा कि अब तो जरूरत भी न रही। सालभर दूर रखकर आपने मुझे बदल दिया।

हार्टमेन की तरह धैर्य रखना मुश्किल मामला है। हार्टमेन सोच सकता था कि यह क्या बात हुई—एक प्रश्न का उत्तर नहीं मिला, कुछ चर्चा नहीं, कुछ बात नहीं—यह क्या ? एक साल ! दिन, दो दिन की बात भी नहीं ! लेकिन गुरु को चुनने का मतलब है—पूरा चुनना या पूरा छोड़ देना, तो गुरु कुछ कर सकता है। वह तभी कुछ कर सकता है जब इतना समर्पण हो, अन्यथा नहीं कर सकता।

एक मित्र ने पूछा है कि आप महावीर, बुद्ध, लाओत्से पर न बोलकर अपनी निजी और आन्तरिक बातें बतायें। और यह भी लिखा है (बिना दस्तखत किये) कि आपको इतना मैं कायर नहीं मानता हूँ कि आप अपनी निजी बातें नहीं बतायेंगे।

आप तो नहीं मानते हैं मुझे इतना कायर, लेकिन मैं आपको इतना बहादुर नहीं मानता हूँ कि मेरी निजी बातें आप सुन पायेंगे; और जिस दिन तैयारी हो जाए निजी बातें सुनने की, उस दिन मेरे पास आ जाना, क्योंकि निजी बातें निजता में ही कही जा सकती हैं, पब्लिक में नहीं। मगर उसके पहले कसौटी से गुजरना पड़ेगा। बहादुरी की मैं जाँच कर लूँगा। चूँकि क्या मैं आपको दूँ, यह आपके पात्र की क्षमता पर निर्भर है।

मेरे निजी जीवन में कुछ छिपाने जैसा नहीं है, लेकिन आप देख भी पायेंगे, समझ भी पायेंगे, उसका उपयोग भी कर पायेंगे, आपके जीवन में वह सृजनात्मक भी होगा, सहयोगी भी होगा—यह सोचना जरूरी है ! क्योंकि जो भी मैं कह रहा हूँ, वह आपके काम पड़ सके, तो ही उसका कोई अर्थ है।

जाता है। उनका जो 'आई-क्यू', उनका जो बुद्धि-माप है, वह नीचे गिर जाता है पन्द्रह प्रतिशत।

इसलिए परीक्षा के समय स्त्रियों के लिए विशेष सुविधा होनी चाहिए। 'मेन्सेस' में किसी लड़की की परीक्षा नहीं होनी चाहिए; अन्यथा वह अकारण पिछड़ जाएगी। ठीक 'पीरियड' के मध्य में, पिछले 'पीरियड' और दूसरे 'पीरियड' के ठीक बीच में, चौदह दिन के बाद, स्त्रियों के पास सबसे ज्यादा प्रसन्न-भाव होता है और उस समय वे कम क्रोधी होती हैं, कम चिड़चिड़ी होती हैं; और उस समय उनका बुद्धि-माप पन्द्रह प्रतिशत बढ़ जाता है। इसलिए अगर मध्य 'पीरियड' में लड़की लड़के के साथ परीक्षा दे तो वह फायदे में रहेगी, पन्द्रह प्रतिशत ज्यादा। और अगर 'मेन्सेस' में हो, तो नुकसान में रहेगी, पन्द्रह प्रतिशत कम। और दोनों मिलकर तीस प्रतिशत का फर्क हो जाता है; जो कि बड़ा फर्क है।

इस पर जितना काम चलता है, उससे धीरे-धीरे यह ख्याल में आना शुरू हुआ। लेकिन इतने हजार साल लग गए और ख्याल में नहीं आया कि स्त्री और पुरुष दोनों एक ही जाति के पशु हैं। स्त्रियों में ही मासिक-धर्म हो, यह आवश्यक नहीं है, कहीं न कहीं पुरुष में भी मासिक-धर्म जैसी कोई समान घटना होनी चाहिए; लेकिन पुरुषों को अब तक ख्याल नहीं आया। होनी चाहिए ही; क्योंकि दोनों की शरीर रचना एक ही ढांचे में होती है। दोनों की सारी व्यवस्था एक जैसी है। जो भेद है, वह थोड़ा सा ही भेद है। और वह भेद इतना है कि स्त्री ग्राहक है और पुरुष दाता है जीवाणुओं के सम्बन्ध में। बाकी तो सारी बात एक है। तो स्त्री में अगर मासिक धर्म जैसी कोई घटना घटती है, तो पुरुष में भी घटनी चाहिए।

सौ वर्ष पहले एक जर्मन सर्जन, डॉक्टर विल्हेम प्लाइस ने इस सम्बन्ध में थोड़ी खोजबीन की है। उसे शक हुआ कि पुरुष में भी मासिक-धर्म होता है। चूंकि कोई बाह्य घटना नहीं घटती रक्तस्राव की, इसलिए आदमी भूल गया है। तो उसने आदमी के क्रोध और चिड़चिड़ेपन के 'रिकॉर्ड' बनाये और पाया कि कि हर अट्ठाइसवें दिन पुरुष भी चार-पाँच दिन के लिए उसी तरह अस्त-व्यस्त होता है, जैसे स्त्री अस्त-व्यस्त होती है। और अभी एक दूसरे विचारक ने एक नये विज्ञान, बायो-डायनेमिक्स को जन्म दिया है। प्रैट्रिक इव्हान्स उसका नाम है। उसने समस्त रूप से वैज्ञानिक अर्थों में सिद्ध कर दिया है कि पुरुष का भी 'मेन्सेस' होता है। कोई बाहर घटना नहीं घटती, लेकिन भीतर वैसी ही

हैं और हर छोटी चीज से काँपने लगते हैं।

क्या इसका अर्थ हुआ कि छोटे-छोटे 'हारमोन्स' इतने प्रभावी हैं और आपकी चेतना इतनी दीन है कि एक 'इन्जेक्शन' आपको स्त्री और पुरुष बना सकता है! और एक 'इन्जेक्शन' आपको बहादुर और कायर बना सकता है। तो फिर जिसको आप कहते हैं कि भयभीत है, कायर है; जिसको आप कहते हैं कि बहादुर है, हिम्मतवर है; जिसको आप कहते हैं कि साहसी है, दुस्साहसी है तो इसका अर्थ हुआ कि इनके बीच जो फर्क है, वह छोटे से 'हारमोन' का है।

आमतौर से यही बात है। आपकी कुछ ग्रन्थियाँ निकाल ली जाएँ, तो आप क्रोध नहीं कर पाएँगे। कुछ ग्रन्थियाँ निकाल ली जाएँ, तो आपकी कामवासना तिरोहित हो जाएगी। तो क्या यह शरीर आप पर इतना हावी है और आप की आत्मा को कोई स्वतंत्रता नहीं है?

इसलिए महावीर क्रोध, मान, माया और लोभ को चार शत्रु कहते हैं। क्योंकि जब तक कोई इन चार के ऊपर न उठ जाए, तब तक उसको आत्मा का कोई अनुभव नहीं होता।

क्रोध के 'हारमोन्स' आपके भीतर मौजूद हैं और फिर भी आप क्रोध नहीं करते, काम-वासना के हारमोन्स आपके भीतर मौजूद हैं और फिर भी आप ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो जाते हैं, लोभ की सारी की सारी रासायनिक प्रक्रिया भीतर है और फिर भी आप अलोभ को उपलब्ध हो जाते हैं, तभी आपको आत्मा का अनुभव होगा।

आत्मा का अर्थ है शरीर के पार सत्ता का अनुभव।

लेकिन हम तो शरीर के पार होते ही नहीं, शरीर ही हमें चलाता है। कई बार ऐसा भी होता है, आप सोचते हैं कि आप पार हो गए। जैसे सुबह आप उठते हैं, पत्नी कुछ बोल रही है, बच्चे कुछ गड़बड़ कर रहे हैं, नौकर कुछ उपद्रव कर रहा है और आप हँसते रहते हैं। तो आप सोचते हैं कि मैंने तो क्रोध पर विजय पा ली। यही घटना साँझ को घटती है, तो आप विक्षिप्त हो जाते हैं। सुबह 'हारमोन्स' ताजे हैं, शरीर थका हुआ नहीं है, इसलिए आप ज्यादा आश्वस्त हैं। साँझ थक गए हैं, 'हारमोन्स' टूट गये हैं, शक्ति क्षीण हो गई है—साँझ आप 'वनरेबल' हैं, ज्यादा खुले हैं, इसलिए जरा सी बात भी आप को पीड़ा और चोट पहुँचा जाएगी। तो सुबह जिसको आपने सह लिया, साँझ उसे नहीं सह पाते। लेकिन सुबह भी आप आत्मा को नहीं पा गए थे; सुबह भी शरीर ही कारण था, साँझ भी शरीर ही कारण है।

अब यह बड़ी कठिन बात है—लोग कहते हैं कि आवागमन हमारा कैसे रुके ! उनसे पूछें—क्यों, किसलिए, आवागमन से दिक्कत क्या हो रही है आपको ? चलते जाओ मजे से, जन्म लेते जाओ बार-बार, हर्ज क्या है ?

नहीं, पैदा होने से उन्हें भी तकलीफ नहीं है, जीवन से उन्हें कोई कठिनाई नहीं है, जीवन में जो दुख मिलता है, उससे उन्हें कठिनाई है। दुख न हो और जीवन हो, दुख कट जाए और जीवन हो, हम ऐसी दुनिया चाहते हैं—जिसमें रातें न हों और दिन ही दिन हों। हम ऐसी दुनिया चाहते हैं, जहाँ जवानी ही जवानी हो, बुढ़ापा न हो; स्वास्थ्य ही स्वास्थ्य हो, बीमारी न हो; मित्र ही मित्र हों, शत्रु न हों; प्रेम ही प्रेम हो, घृणा न हो।

हम दुनिया में एक हिस्से को काट देना चाहते हैं और एक को बचा लेना चाहते हैं। और मजा यह है कि दूसरा हिस्सा इसीलिए बचा हुआ है कि हम इस एक को बचाना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि दुनिया में मित्र ही मित्र हों, इसीलिए शत्रु ही शत्रु हो जाते हैं। हम चाहते हैं दुनिया में सुख ही सुख हो, इसीलिए दुख ही दुख हो जाता है। हम सुख को बचाना चाहते हैं और दुख को हटाना चाहते हैं; लेकिन सुख जड़ है और दुख पत्ता है। जिसे हम बचाना चाहते हैं, उसी को बचाने में हम उसे बचा लेते हैं जिसे हम बचाना नहीं चाहते, जिससे हम छूटना चाहते हैं।

एक आदमी जब यह कहता है कि आवागमन से मुक्ति हो जाये, तो वह यह नहीं कहता कि मैं समाप्त हो जाऊँ; वह कहता है—मैं मोक्ष में रहूँ, मैं स्वर्ग में रहूँ—दुख न हो वहाँ, दुख से छुटकारा हो जाये ! बुद्ध ने इसे ही कहा है—'जीवेषणा', होने की वासना; 'मैं रहूँ' यही समस्त दुखों का मूल है।

महावीर कहते हैं कि ये जो चार शत्रु हैं, ये भी जीवेषणा से पैदा होते हैं।

क्रोध क्यों आता है ?—जब कोई आपके जीवन में बाधा बनता है—तब। जब कोई आपको मिटाना चाहता है या आपको लगता है कि कोई मिटाना चाहता है—तब। जब आपको कोई बचाना चाहता है, तब आपको क्रोध नहीं आता।

अगर मैं एक छुरा लेकर आपके पास आऊँ, तो आप डरेंगे। लेकिन छुरे से नहीं डर रहे हैं आप; क्योंकि सर्जन उससे भी बड़ा छुरा लेकर आपके पास आता है। तब आप निश्चिन्त 'टेबल' पर लेटे रहते हैं, मुस्कराते रहते हैं—क्या मामला है, दोनों ही छुरा लेकर आते हैं ? लेकिन अगर आपको लगता

कोई आपको जन्म देता नहीं, आप ही अपने को जन्म देते हैं। आप ही अपने पिता हैं, आप ही अपनी माता हैं। आप ही अपने को जन्म दिये चले जाते हैं। यह जन्म का जो उपद्रव है, इसके कारण आप ही हैं। इसीलिए तो मौत से इतनी घबड़ाहट होती है, इतनी बेचैनी होती है और मरते वक्त आदमी कहता है कि जन्म-मरण से छुटकारा हो जाए। लेकिन मतलब उसका इतना ही होता है कि मरण से छुटकारा हो जाए। जन्म तो वह भाषा की भूल से कह रहा है। फिर से सोचेगा तो नहीं कहेगा।

सोचें, जन्म से छुटकारा चाहते हैं? जीवन से छुटकारा चाहते हैं? जिस दिन आप जन्म से छुटकारा चाहते हैं, उस दिन मरण से छुटकारा हो जाएगा। हम सब मरण से छुटकारा चाहते हैं, इसलिए नये जन्म का सूत्र-पात हो जाता है। हम छोर से बचना चाहते हैं, जड़ से नहीं। मरण है पत्ता आखिरी, जन्म है जड़। जड़ ही काटनी होगी।

संन्यास का अर्थ है, जड़ को काटना। संसार का अर्थ है पत्तों को काटना। काटते दोनों हैं। *संन्यासी बुद्धिमान है, वह वहाँ से काटता है, जहाँ से काटना* चाहिए। संसारी मूढ़ है, वह वहाँ से काटता है, जहाँ से काटने का कोई अर्थ नहीं है, बल्कि खतरा है। पत्ते समझते हैं कि कलम की जा रही है। इसलिए एक पत्ता काटो, तो चार निकल आते हैं।

(महावीर कहते हैं कि इन जड़ों को सींचने से होगा बार-बार जन्म, बार-बार मृत्यु और घूमोगे चक्र में—नीचे-ऊपर, नीचे-ऊपर—सुख में, दुख में, हार में, जीत में—और यह चक्र है अनन्त। और ऐसा मत सोचना कि दुख इसलिए है कि मुझे अभी अभाव है, सब मिल जायेगा तो दुख न रहेगा।

महावीर कहते हैं कि तुम्हें अगर सभी मिल जाये स्वर्ण पृथ्वी का, सभी मिल जाये धन-धान्य, हो जाये समस्त पृथ्वी तुम्हारी दास, तो भी वे तुम्हें तृप्त करने में असमर्थ हैं)

तृप्ति का सम्बन्ध क्या तुम्हारे पास है, इससे नहीं है—क्या तुम हो, इससे है। और जो अतृप्त है, उसके पास कुछ भी हो, तो अतृप्त होगा। और जो तृप्त है उसके पास कुछ भी हो या कुछ भी न हो, तो भी तृप्त होगा।

(तृप्ति या अतृप्ति अन्तर्दशाएँ हैं। बाहर की वस्तुओं से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिए महावीर कहते हैं कि सब तुम्हारे पास हो जाये, तो भी तुम तृप्त नहीं होओगे। क्योंकि न हमने सिकन्दर को तृप्त देखा, न हमने नैपोलियन को तृप्त देखा; न राकफेलर तृप्त थे, न मार्गन तृप्त थे और न कार्नेगी तृप्त थे। सब उनके पास है, जो हो सकता है। शायद नैपोलियन के

तैयारी कर रहे हैं। तुम जाकर रोकने की कुछ कोशिश करो। जरा खांसो-खखारो।

मुल्ला ने कहा—'मुझको किसने रोका था? सब अपने अनुभव से सीखते हैं। बीच में पड़ने की कोई भी जरूरत नहीं है।'

जब काम पकड़े, क्रोध पकड़े, मोह पकड़े, मान पकड़े, तब ख्याल करना कि कितने अनुभव से सीखिएगा! काफी अनुभव नहीं हो चुका है? कितना अनुभव हो चुका है? पुनरुक्ति कर रहे हैं। हां, अनुभव जरूरी है, लेकिन पुनरुक्ति मूढ़ता है। एक भूल सहज है, लेकिन उसी को दुबारा दुहराना मूढ़ता है।

मूढ़ वे नहीं हैं, जो भूलें करते हैं और बुद्धिमान वे नहीं हैं, जो भूलें नहीं करते। बुद्धिमान वे हैं, जो एक ही भूल दोबारा नहीं करते और मूढ़ वे हैं, जो एक ही भूल को बार-बार करते हैं।

तो ये चार कषाय जब पकड़ें, तो थोड़ी बुद्धिमानी बरतना और जरा होश रखना कि बहुत बार यह हो चुका है। क्या है परिणाम? क्या है निष्पत्ति? और अगर कोई परिणाम, कोई निष्पत्ति न दिखाई पड़े तो संयम रखना। ठहराना अपने को। खड़े हो जाना। मत दौड़ पड़ना पागल की तरह। जो इन विक्षिप्ताओं से अपने को रोक लेता है, वह धीरे-धीरे उसको जान लेता है, जो विक्षिप्ताओं के पार है। उसका नाम ही आत्मा है। आज इतना ही। पाँच मिनट रुकें, कीर्तन करें और फिर जायें।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१८ सितम्बर, १९७२

पन्द्रहवाँ प्रवचन

पहले कुछ प्रश्न।

● एक मित्र ने पूछा है—कल आपने समझाया कि मनुष्य की जीवेषणा ही उसके पुनर्जन्म को और संसार के दुख-चक्र को चलाए रखने का कारण है। लेकिन आप हमेशा कहते हैं कि 'जीवन ही परमात्मा है' और आपकी पूरी देशना जीवन-स्वीकार पर केन्द्रित है। 'जीवेषणा' दुख का मूल कारण है, ऐसा कहना जीवन-निषेधक लगता है।

जीवेषणा है कल, भविष्य में, और जीवन है अभी और यहीं। जो जीवेषणा से घिरा है, वह जीवन से वंचित रह जाएगा, और जिसे जीवन को जानना हो, उसे जीवेषणा छोड़ देनी पड़ती है। इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

वासना कभी भी वर्तमान में नहीं होती, हमेशा भविष्य में होती है। और अस्तित्व हमेशा वर्तमान में होता है। आपका होना तो सदा होता है 'अभी और यहीं'। लेकिन आपकी वासना सदा होती है 'कहीं'। आप हैं अभी और यहीं, और आपका मन है कहीं और। आपकी आकांक्षा, अभीप्सा, वासना सदा भविष्य में है। भविष्य का कोई अस्तित्व तो है नहीं, सिवाय आपकी वासना को छोड़कर। भविष्य है आपकी वासना का विस्तार और अतीत है आपकी स्मृतियों का संग्रह। समय तो सदा वर्तमान है।

हम आमतौर से समय का विभाजन करते हैं—वर्तमान, अतीत और भविष्य। तीन टुकड़ों में तोड़ देते हैं समय को। वह भ्रान्त है। अतीत और भविष्य समय के खंड नहीं हैं। अतीत है हमारी स्मृति और भविष्य है हमारी वासना। समय तो सदा वर्तमान है। समय तो सदा अभी है। समय के तीन टुकड़े नहीं हैं। समय तो एक अखंड धारा है, जो अभी है।

साधारणतः हम कहते हैं कि समय बीत जाता है। ज्यादा अच्छा हो यह कहना कि 'हम बीत जाते हैं।' समय को कभी आपने बीतते देखा है? कभी अतीत से आपका मिलना हुआ है? कभी भविष्य से आपकी मुलाकात हुई है?

इसलिए मौत की दीवार से टकराते लोग स्वर्ग की, मोक्ष की, पुनर्जन्म की भाषा में सोचने लगते हैं। उसका मतलब हुआ कि अब वे कल को फिर फैला रहे हैं। अब वे यह कह रहे हैं कि मरने के बाद शरीर ही मरेगा, आत्मा तो रहेगी। हम फिर जीयेंगे। भविष्य में जीयेंगे। उसका यह मतलब नहीं है कि आत्मा मर जाती है। लेकिन जितने लोग यह सोचते हैं कि आत्मा रहेगी, उसमें से शायद ही किसी को पता हो आत्मा के होने का। उनके लिए फिर एक 'ट्रिक,' एक तरकीब है मन की। वे फिर भविष्य को निर्मित कर रहे हैं।

(एक बात तय है कि हम आज जीना नहीं जानते। वही अधर्म है। पर हम कैसे आज जीना जानेंगे? एक ही उपाय है कि हम कल की आशा में न जीएँ और आज चेष्टा करें जीने की—अभी। यह जो समय हमारे साथ अभी जुड़ा है, इसमें ही हम प्रवेश कर जाएँ। क्षण में ही हम उतर जाएँ।

जो आदमी बुद्धिमान है, वह ऐसा मानकर चलता है कि दूसरे क्षण मौत है। है भी। एक क्षण मेरे हाथ में है, दूसरे क्षण का कोई भरोसा नहीं। इस क्षण का मैं क्या उपयोग करूँ? इस क्षण को मैं कैसे उसकी परिपूर्णता में निचोड़ूं? कैसे इस क्षण को पूरा जी लूं? कैसे यह क्षण व्यर्थ न चला जाए? ऐसी चिन्ता है बुद्धिमान की।)

बुद्धिहीन की चिन्ता यह है कि इस क्षण को अगले विचार में खो दूं। अगले क्षण को और अगले क्षण के विचार में खो दूं। ऐसे पूरा जीवन भ्रम होगा कि जिया हूं, और जीऊंगा बिलकुल ही नहीं। हम सिर्फ 'पोस्टपोन' करते हैं, स्थगित करते हैं—कल···कल···कल···और एक दिन पाते हैं कि मौत आ गई। अब आगे कोई कल नहीं है। तब छाती पर धक्का लगता है कि पूरा अवसर व्यर्थ खो गया।

जीवेषणा का अर्थ है, जीवन को चूकने की तरकीब। इसलिए जीवन तो प्रभु है, जीवेषणा संसार है; जीवन तो धर्म है, जीवेषणा पाप है। (क्या यह नहीं हो सकता कि हम इस क्षण से ही जुड़ जाएँ—डूब जाएँ इसमें ही, लीन और एक हो जाएँ। अगला क्षण भी आएगा, लेकिन जो व्यक्ति इस क्षण में डुबकी लगाने में समर्थ है, वह अगले क्षण में भी डुबकी लगा लेगा।)

आँसुओं से धुमिल उसकी आँखें, पत्र में लीन उसका मन, भविष्य में डूबी हुई उसकी वासना, पर जो मौजूद है, उसे वह नहीं देख पा रहा है।

फिर आधी रात गये उसका पत्र पूरा हुआ। आँखें उसने ऊपर उठाईं तो उसे भरोसा न आया। (जिस दिन आप भी आँखें उठायेंगे, उस दिन आपको भी भरोसा नहीं आयेगा कि जीवन सामने ही बैठा है।) प्रेयसी को सामने बैठा देख कर वह घबड़ा गया। अभी भी वह यही सोच रहा था कि कब देखूँगा अपनी प्रेयसी को, कब होंगे उसके दर्शन! और अब जब की दर्शन सामने हो रहे हैं, तो वह घबड़ा गया है। वह समझा शायद कोई भूत-प्रेत है; घबड़ाकर जोर से उसने पूछा कि कौन है तू!

उसकी प्रेयसी ने कहा—क्या तुम मुझे भूल ही गये? मैं बड़ी देर से आकर बैठी हूँ। तुम पत्र लिखने में लीन थे। मैंने सोचा, बाधा न डालूँ।

उस प्रेमी ने अपना सिर ठोक लिया। उसने कहा—'मैं तुझे ही पत्र लिख रहा था।'

हम सब भी जिसे पत्र लिख रहे हैं, जिस जीवन को, वह अभी और यहीं मौजूद है। जिसकी हम कामना कर रहे हैं, वह यहीं बिलकुल हाथ के पास निकट ही खड़ा है, लेकिन आँखें हमारी दूर भटक गईं हैं। कल्पना हमारी दूर चली गई। इसलिए जो पास है, उसे वे नहीं देख पातीं।

हम पास के लिए सभी अंधे हो गये हैं। दूर का हमें दिखाई पड़ता है, लेकिन पास का हमें बिलकुल दिखाई नहीं पड़ता। पास देखने की हमारी क्षमता ही खो गई है। अभ्यास ही हमारा सिर्फ दूर का देखने का रह गया है। जितना दूर हो, उतना ही साफ दिखाई पड़ता है। जितना पास हो, उतना धुँधला हो जाता है।

(जीवन है अभी और जीवेषणा है कल। जो अपने प्राणों को कल पर लगाये हुए हैं, उस विक्षिप्त चेतना का नाम जीवेषणा है। जो जिवेषणा को छोड़ देता है और अभी और यहीं जीता है—कल जैसे मिट गया, समय जैसे समाप्त ही हो गया, यही क्षण ही जैसे सारा जीवन हो गया—वह व्यक्ति उस द्वार को खोज लेता है, जो जीवन का द्वार है।)

जीवेषणा का विरोध जीवन का विरोध नहीं है। जीवेषणा का विरोध जीवन का स्वीकार है।

यह प्रश्न महत्वपूर्ण है; क्योंकि पश्चिम के विचारकों को भी ऐसा लगा

व्यर्थ है, नहीं जीना है।' ऐसा नहीं कि वह सिकोड़ लेता है अपने को—एक घड़ी आ जाती है, जब उसे लगता है, कि नहीं जीना है। ऐसा नहीं कि वह घड़ी किसी विषाद से आ जाती है—किसी 'फ्रस्ट्रेशन' से नहीं, बल्कि सारे जीवन को देख कर ऊब हो जाती है और आदमी सोच में लगता है—'बस ठीक है, देख लिया, जान लिया, पुनरुक्ति है, वही-वही है, बार-बार वही है—उठो सुबह, सांझ सो जाओ, खाओ-पिओ, लेकिन अर्थ क्या है?'

(एक दिन आदमी को लगता है कि वह सब बचपना था; जिसमें मैंने अर्थ समझा, अभिप्राय देखा। कुछ भी न था वहाँ। एक दिन सब राख हो जाता है। ऐसा नहीं कि आदमी असफल हो जाता है, हार जाता है, इसलिए मरने की सोचने लगता है। कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो इसलिए मरने की सोचते हैं कि उनकी जीने की कामना बहुत प्रबल होती है।

आप एक स्त्री को चाहते थे वह नहीं मिल सकी, तो आप कहते हैं—'हम नहीं जीयेंगे।' इसका मतलब यह नहीं कि आप जीवन से उदास हो गये। आपका जीवन सशर्त जीवन था। एक 'कन्डीशन' थी कि यह स्त्री मिलेगी तो ही जीयेंगे, ये मकान बनेगा तो ही जीयेंगे, यह धन मिलेगा तो ही जीयेंगे, नहीं तो नहीं जीयेंगे।

आप जीवन के प्रति बड़े मोह-ग्रस्त थे। आपने शर्त बना रखी थी। शर्त पूरी नहीं हुई, इसलिए मर रहे हैं। आप जीवन के विरोधी नहीं थे, आप जीवन के बड़े मोही थे। और मोह ऐसा भारी था कि ऐसा होगा, तो ही जीयेंगे। यह लगाव इतना गहरा हो गया, यह विक्षिप्तता इतनी तीव्र हो गई कि आप मरने की तैयारी करने लगे)

यह नहीं है थानाटोस। यह मृत्यु-एषणा नहीं है। (मृत्यु-एषणा तो तब है, जब कि जीवन में न कोई असफलता है, न जीवन में कोई विषाद है। जब सब चीजें पूरी हो गईं। जब शरीर भी डूब रहा है और मन भी डूब रहा है, जब जीने की बात से ही ऊब हो जाती है, तो ऐसा आदमी आत्महत्या नहीं करता)।

ध्यान रखना, आत्महत्या तो वही करता है, जो अभी जीवन की आकांक्षा से भरा है। यह उल्टा मालूम पड़ेगा। लेकिन जितने भी आत्महत्यारे होते हैं, वे बड़ी जिवेषणा से भरे हुए लोग होते हैं।

ऐसा आदमी आत्महत्या नहीं करता। उसे आत्महत्या भी व्यर्थ मालूम पड़ती है। जिसे जीवन ही व्यर्थ मालूम पड़ रहा है, उसे आत्महत्या सार्थक

आज हिप्पी लड़के और लड़कियों को देखें ! उनके रंगीन कपड़े, उनके घुंघरू, उनके गले में लटती हुई मालाएँ—यह सब छोटे बच्चों का खेल है। सभ्यता अभी ताजी है। बूढ़ी सभ्यताएँ बहुत हिकारत से देखती हैं। जैसे बूढ़े बच्चों को देखते हैं—'नासमझ' !

फिर जवान सभ्याएं होती हैं। सभ्यताएँ जब जवान होती हैं, तब ये युद्ध-खोर होती हैं—क्योंकि जवान लड़ना चाहता है, जीतना चाहता है। जैसे अभी चीन जवान हो रहा है। वह लड़ेगा, वह जीतेगा। अभी उसका भाव विजय-यात्रा का है। फिर सभ्यताएँ बूढ़ी होती हैं।

तो फ्रायड ने कहा है, जैसे व्यक्ति के जीवन में बचपन, जवानी और बूढ़ापा होता है, वैसे सभ्यताओं के जीवन में भी होता है। अगर हम श्वाइतजर और फ्रायड दोनों के ख्यालों को ध्यान में ले लें, तो ऐसा लगेगा कि महावीर और बुद्ध की बातें एक बूढ़ी सभ्यता की बातें हैं, जो अब मरने के लिए उत्सुक हो गयी हैं। जो कहती है—कुछ सार नहीं है जीवन में, कुछ अर्थ नहीं है जीवन में—जीवन असार है; छोड़ो आशा, छोड़ो सपने, मरने के लिए तैयार हो जाओ।

और निर्वाण शब्द ने और भी सहारा दे दिया। बुद्ध का निर्वाण शब्द मृत्यु-सूचक है। निर्वाण का अर्थ होता है—बुझ जाना, मिट जाना, समाप्त हो जाना। निर्वाण का अर्थ होता है—दिये का बुझना। जब दिया बुझता है, तो हम कहते हैं, दिया निर्वाण को उपलब्ध हो गया। ऐसे ही जब आदमी के भीतर जीवेषणा की ललक, जीवेषणा की आकांक्षा, जीवेषणा की ज्योति बुझ जाती है, खो जाती है, तो उसको बुद्ध ने कहा है, 'निर्वाण।'

तो स्वभावतः श्वाइतजर और फ्रायड को लगा कि यह कौम बूढ़ी हो गई है। इतनी बूढ़ी हो गई है कि उसमें जीने की कोई आकांक्षा ही नहीं रह गई है। फिर महावीर की संन्यास की धारणा ने और भी ख्याल दे दिया।

अकेले महावीर ऐसे व्यक्ति हैं पूरी पृथ्वी पर, जिन्होंने संन्यासी को मरने की सुविधा दी है। उन्होंने कहा है कि अगर कोई संन्यासी मरना चाहे, तो वह हकदार है मरने का। इतनी हिम्मत की बात किसी और ने नहीं कही।

महावीर कहते हैं कि अगर कोई मरना चाहे, तो यह उसका अधिकार है। इसका तो मतलब हुआ कि महावीर ने 'स्युसाइड' की, आत्महत्या की आज्ञा दे दी—'कोई संन्यासी मरना चाहे, तो मर सकता है!'

इससे और भी साफ हो गया कि यह धारणा मृत्युवादी है, 'डेथ ओरिएन्टेड' है। जीवन से उसका सम्बन्ध कम और मृत्यु से ज्यादा है। तो यह 'लिबिडो'

है। अगर जीवेषणा नहीं रही तो ठीक है—भूख भी ठीक है, भोजन भी ठीक है। प्यास भी ठीक है, पानी भी ठीक है। न मिला तो भी ठीक है, मिला तो भी ठीक है—ऐसी विरक्ति आ जायेगी।

तो महावीर ने कहा नब्बे दिन तक जो शान्तिपूर्वक मृत्यु की प्रतीक्षा कर सके, अशांत न हो जाये, इसमें भी जल्दबाजी न करे, उसे आज्ञा है कि वह मर सकता है।

यह आत्महत्या नहीं है। यह जीवन से मुक्त होना है, जीवन की मृत्यु नहीं है। 'जीवन से मुक्त होना' कहना भी ठीक नहीं, यह जीवेषणा से मुक्त होना है। लेकिन महावीर को समझना कठिन है। और उन्होंने जो-जो बातें कही हैं, जो हमें लगती हैं कि वे निषेधक हैं, पर वे निषेधक नहीं हैं। महावीर तो कहते ही यह हैं कि जब कोई व्यक्ति अपने ही मन से मृत्यु को अंगीकार करता है, तभी वह परिपूर्ण जीवन को समझ पाता है।

इसे हम थोड़ा समझ लें। है भी यही बात। जब हमें सफेद लकीर खींचनी होती है, तो काले 'ब्लैकबोर्ड' पर लकीर खींचते हैं, सफेद दीवार पर नहीं। सफेद दीवार पर खींची गई सफेद लकीर दिखाई भी नहीं पड़ेगी। जितना होगा काला तख्ता उतनी ही लकीर उभर कर दिखाई पड़ेगी। जब बिजली चमकती है पूर्णिमा की रात में, तो पता नहीं चलती। जब अमावस की रात में चमकती है, तभी पता चलती है।

महावीर की समझ यह है कि जब कोई व्यक्ति मृत्यु को अपने हाथ से वरण कर लेता है, मृत्यु को स्वीकार कर लेता है तो मृत्यु का जो दंश है, दुख है, पीड़ा है, वह खो जाती है। जब मृत्यु एक काली रात्रि की तरह चारों तरफ घिर जाती है, और जब कोई व्यक्ति उसका कोई निषेध नहीं करता, कोई इन्कार नहीं करता, तो मृत्यु पृष्ठभूमि, 'बैक ग्राउण्ड' बन जाती है। और पहली दफा जीवन की जो आभा है, जीवन की जो चमक, जो बिजली है, जीवन की जो ज्योति है चारों तरफ से घिरी हुई मृत्यु के बीच में, वह दिखाई पड़ती है।

जो जीवेषणा से घिरा है, वह जीवन को कभी नहीं देख पाता। क्योंकि वह सफेद दीवार पर लकीरें खींच रहा है। जो मृत्यु से घिर कर जीवन को देखने में समर्थ हो जाता है, वही जान पाता है कि मैं अमृत हूँ, मेरी कोई मृत्यु नहीं है। यह जरा उलटा मालूम पड़ता है, लेकिन जीवन के नियम के अनुकूल है।

नहीं होंगे, तो मृत्यु को 'अनस्थेसिया' की जरूरत नहीं पड़ेगी।

लेकिन हम इतने घबरा जाते हैं, इतने तनाव से भर जाते हैं और इतना बचना चाहते हैं, और अपनी खाट को इतनी जोर से पकड़ लेते हैं कि कहीं मृत्यु छीन कर न ले जाये। इतने तनाव से भर जाते हैं कि वह तनाव एक सीमा पर आ जाता है और उस सीमा के आगे जाना असम्भव हो जाता है। तत्काल शरीर 'अनस्थेसिया' को छोड़ देता है और हम बेहोश हो जाते हैं।

क्योंकि अधिकतम लोग बेहोशी में मरते हैं, इसलिए हमें मृत्यु की नये जन्म में फिर कोई याद नहीं रह जाती। जो लोग होश में मरते हैं, उनको दूसरे जन्म में उसकी याद रह जाती है। क्योंकि याद हमें सिर्फ होश की रह सकती है, बेहोशी की नहीं।

(यह जो बेहोशी की घटना घटती है मृत्यु में, वह हमारी ही जीवेषणा का परिणाम है। तो महावीर कहते हैं, जीवेषणा छोड़ दो! जीयो अभी और यहीं। और जो जीवन को जीता है 'अभी' और कल की फिक्र नहीं करता, वह मृत्यु को भी जी लेगा। मृत्यु आयेगी और वह कल की फिक्र नहीं करेगा। मृत्यु भी उसे जीवन की परिपूर्णता बन जायेगी। वह मृत्यु को भी देख लेगा, पहचान लेगा। और जिसने होश से मृत्यु को देख लिया, उसने जीवन को भी देख लिया। क्योंकि वह होश, जो मृत्यु के मुकाबले भी टिक गया, वही है जीवन। वह जागृति, जो मृत्यु भी न बुझा सकी; वह समझ, जो मृत्यु भी न मिटा सकी; वह बोध, जिसे मृत्यु भी धुंधला न कर सकी; वही बोध है जीवन)

महावीर जीवन-विरोधी नहीं हैं, जीवेषणा-विरोधी हैं। और जीवेषणा मिटे तो ही जीवन का अनुभव संभव है।

● अब हम उनके सूत्र को लें।

'संसार में जितने भी प्राणी हैं, सब अपने कृत-कर्मों के कारण ही दुखी होते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता।'

'पापी जीव के दुख को, न जाति वाले बँटा सकते हैं, न मित्र वर्ग, न पुत्र और न भाई-बन्धु। जब दुख आ पड़ता है, तब वह अकेला ही उसे भोगता है। क्योंकि कर्म अपने कर्ता के ही पीछे लगते हैं, अन्य किसी के नहीं।'

दूसरे को मिटाने की चेष्टा में लगे हैं। हम कहते हैं कि हम एक दूसरे को बदल रहे हैं।

बदलने का मतलब क्या है ?

तुम जैसे हो, वैसे मेरे दुख के कारण हो, इसलिए तुमको मैं बदलूंगा। जब तुम अनुकूल हो जाओगे मेरे, तो मेरे सुख के कारण हो जाओगे।

दूसरी बात ध्यान में ले लें; क्योंकि हम सोचते हैं कि दूसरा दुख का कारण है, इसलिए हम यह भी सोचते हैं कि दूसरा सुख का कारण है। पर न तो दूसरा दुख का कारण है और न दूसरा सुख का कारण है। सदा कारण हम हैं। जिस दिन आदमी इस सत्य को समझना शुरू कर देता है, उस दिन वह धार्मिक होना शुरू हो जाता है।

क्यों ? यह जोर इतना क्यों है महावीर का कि दुख या सुख के कारण हम हैं ? और यह बात कोई महावीर के अकेले का कहना नहीं है। इस पृथ्वी पर जिन लोगों ने भी मनुष्य के सुख-दुख के सम्बन्ध में गहरी खोज की है, निर्अपवाद रूप से वे इस सूत्र से राजी हैं। इसलिए मैं नहीं कहता कि ईश्वर का मानना धर्म का मूल सूत्र है; क्योंकि बहुत से धर्म ईश्वर को नहीं मानते। खुद महावीर नहीं मानते, बुद्ध नहीं मानते।

ईश्वर मूल आधार नहीं है धर्म का। कोई सोचता हो कि वेद मूल आधार है, तो वह गलती में है। कोई सोचता है कि बाइबिल मूल आधार है, तो वह गलती है। कोई सोचता हो कि यह मूल आधार है धर्म का कि दुख और सुख का कारण मैं हूँ, तो मैं गलती में नहीं हूँ। तो धर्म की मौलिक पकड़ उसकी समझ में आ गई; यह निर्अपवाद सत्य है।

कोई वेद माने, कुरान माने, बाइबल माने—महावीर, बुद्ध, जीसस, मोहम्मद किसी को भी माने, अगर इस सूत्र की उसे समझ आ गई, तो कहीं से भी उसे रास्ता मिल जायेगा। अगर यह सूत्र उसके ख्याल में नहीं आया तो वह किसी को भी मानता रहे, कोई रास्ता उसे मिल नहीं सकता।

क्यों, मैं ही क्यों जिम्मेदार हूँ अपने सुख और दुख का ? जब मुझे कोई गाली देता है, तो स्वभावतः यही दिखाई पड़ता है कि वह मुझे गाली दे रहा है और मैं दुखी हो रहा हूँ; लेकिन यह पूरी शृंखला नहीं है। आप आधी शृंखला देख रहे हैं।

कोई मेरा अपमान करता है, मुझे गाली देता है, इसलिए मुझे दुख

दो के बीच बहुत कुछ मेरे हाथ में होता है। लेकिन इसमें कुछ भी मेरा नहीं है।

'मेरा कुछ भी नहीं है—' ऐसा जिसको दिखाई पड़ जाए, तो चोर उसे दुखी नहीं कर सकता।

रिझाई के बाबत सुना है मैंने कि एक रात चोर उसके घर में घुस गया। कुछ भी न था घर में। रिझाई बहुत दुखी होने लगा। अकेला एक कम्बल था, जिसे ओढ़ कर वह सो रहा था। वह बड़ा चिन्तित हुआ कि यह चोर आया, लेकिन खाली हाथ लौटेगा। रात ठंडी है, इतनी दूर आया है, गाँव से पाँच मील का फासला है; और फकीर के घर में कहाँ चोर आते हैं! जो चोर फकीर के घर में आया, उसकी हालत कैसे बुरी न होगी! वह बड़ा चिन्तित होने लगा कि अब कैसे इसकी सहायता करूँ! एक कम्बल है और उसे मैं ओढ़े हूँ। तो जिसे मैं ओढ़े हूँ, उसे तो ले जा न सकेगा। तो रिझाई कम्बल को दूर रख कर, सरक कर सो गया। चोर बड़ा हैरान हुआ कि यह आदमी कैसा है! घर में कुछ है भी नहीं, सिर्फ एक कम्बल ही दिखाई पड़ता है। उसे भी वह अलग रख कर, अलग क्यों सो गया मुझे देख कर? वह खाली हाथ लौटने लगा, तो रिझाई ने कहा—'ऐसे खाली हाथ मत जाओ! मन में पीड़ा रह जायेगी। कभी तो कोई चोरी करने आया। ऐसा अपना सौभाग्य कहाँ कि कोई चोरी करने आये! है ही नहीं कुछ, यह कम्बल लेते जाओ। और जब दुबारा आओ, तो जरा पहले से खबर करना। क्योंकि गरीब आदमी हूँ, ताकि कुछ इन्तजाम कर लूँ।'

चोर तो घबड़ाहट में कम्बल लेकर भागा कि किस आदमी के चक्कर में पड़ गया हूँ। लेकिन रास्ते में उसे जाकर ख्याल आया कि भागने की कोई जरूरत नहीं थी। पुरानी आदत के कारण भाग आया हूँ, वरना इस आदमी से भागने की क्या जरूरत थी? वापस लौटा। वापस लौटा तो देखा कि रिझाई लँगोटी लगाए नग्न खिड़की के पास बैठा था, चाँद को देख रहा है और गीत लिख रहा है। उसने एक गीत लिखा था। चोर वापस आया तो वह गीत गुनगुना रहा था। बाद में उसका वह गीत बहुत प्रसिद्ध हुआ। उस गीत में वह चाँद से कह रहा था कि मेरा बस चले, तो चाँद को आकाश से तोड़ कर उस चोर को भेंट कर दूँ।

चोर ने वह गीत सुना और चरणों में गिर पड़ा। उसने कहा कि 'यह तुम

वह प्रगट हो गया। गाली कारण नहीं है, कारण तो सम्मान की आकांक्षा है। गाली निमित्त है। निमित्त का मतलब—'सूडो कॉज़', मिथ्या कारण। दिखाई पड़ता है वह कारण, पर वह कारण है नहीं। निमित्त का मतलब—कारण को छिपाने की तरकीब; असली कारण छिप जाए भीतर और झूठा कारण बना देने का उपाय।

इसलिए महावीर कहते हैं—संसार में जितने भी प्राणी हैं, सब अपने ही कारण दुखी होते हैं। और यह कारण क्यों उनके भीतर इकट्ठा हुआ है? कृत-कर्मों के कारण। जो-जो उन्होंने पीछे किया है, उससे उनकी आदतें निर्मित हो गई हैं। जो-जो उन्होंने पीछे किया है, उससे उनके संसार निर्मित हो गये हैं, उनकी 'कण्डीशनिंग' हो गई है। जो उन्होंने किया है, वही उनका चित्त है। जो-जो वे करते हैं, वही उनका चित्त है। उस चित्त के कारण वे दुखी होते हैं। चित्त है हमारे अनन्त-अनन्त कर्मों का संस्कार।

ऐसा समझें—कल भी आपने कुछ किया, परसों भी आपने कुछ किया—इस जन्म में भी, पिछले जन्म में भी—वह जो सब आपने किया है, उसने आपको एक ढाँचा, एक 'पैटर्न' दे दिया है, सोचने-समझने की, व्याख्या करने की एक व्यवस्था आपके मन को दे दी है। आप उसी व्याख्या से चलते हैं और सोचते हैं। उसी व्याख्या के कारण आप सुखी और दुखी होते रहते हैं। पर उस व्याख्या को आप कभी नहीं बदलते। सुख-दुख बदलने की आप बाहर कोशिश करते रहते हैं और भीतर की व्याख्या को आप पकड़कर रखते हैं। और आपकी हर कोशिश उस व्याख्या को मजबूत करती है। आपके चित्त को मजबूत करती है। आपके 'माइण्ड' को और ताकत देती चली जाती है। जिसके कारण दुख होता है, उसको आप मजबूत करते चले जाते हैं और निमित्त को बदलने की चेष्टा में लगे रहते हैं। कारण छिपा रहता है और निमित्त हम बदलते चले जाते हैं। फिर बड़े मजे की घटनाएँ घटती हैं—कितना ही निमित्त बदलो, कारण नहीं बदलता।

एक मित्र परसों मेरे पास आए। अमेरिका में उन्होंने शादी की है। काफी पैसा कमाया शादी के बाद उन्होंने और सारा का सारा पैसा अमेरिका के बैंकों में अपनी पत्नी के नाम जमा किया। खुद के नाम से जमा नहीं कर सकते थे, इसलिए पत्नी के नाम से वह सारा पैसा जमा किया। अचानक पत्नी अमेरिका वापस चली गई और उसने वहाँ से जाकर खबर दी कि मुझे तलाक करना है। अब बड़ी मुश्किल में पड़ गये हैं वे मित्र। पत्नी भी हाथ से जाती है और वह

वह बड़े दुखी हैं। आँसू उनके निकल-निकल आते हैं। ये आँसू चार लाख से निकल रहे हैं, पत्नी से कोई लेना-देना नहीं है। वड़े दुखी हैं, लेकिन दुख का कारण वे सोच रहे हैं, पत्नी का दगा है। और यह आदमी दगा पत्नी को पहले से दे रहा है। इसका कोई लेना-देना नहीं है पत्नी से। वह रुपया ही सारा का सारा हिसाव-किताव है। यह मन से तो भीतर वहीं का वहीं है। अगर वह कल फिर शादी कर ले, तो फिर यही करेगा।

पश्चिम में जो मनस्विद् लोगों के तलाकों का अध्ययन करते हैं, वे कहते हैं—वड़ी हैरानी की वात है कि आदमी एक स्त्री से शादी करता है, फिर तलाक देकर दूसरी स्त्री से शादी करता है, लेकिन दूसरी वार भी वैसी ही स्त्री चुन लेता है, जैसी पहली वार चुनी थी। एक आदमी ने आठ वार तलाक किया, (साल्टर ने उसकी पूरी जिन्दगी का विवरण दिया है।) और हर वार उसने सोचा कि अव दुवारा वैसी पत्नी नहीं चुनूंगा; पर हर वार उसने वैसी ही पत्नी चुनी। छः महीने वाद पता चला कि वह फिर वैसी ही पत्नी चुन लाया।

भारतीय इसमें कुशल थे कि नाहक परेशान क्यों होना! एक ही पत्नी चुननी है वार-वार, तो एक से निपट लेने में हर्जा क्या है? और इसमें भारतीय वड़े अद्भुत थे कि वे पत्नी के चुनाव का काम खुद नहीं करते थे, माँ वाप से से करवा लेते थे, जो ज्यादा अनुभवी थे, जो जिन्दगी देख चुके थे और जिन्दगी की नासमझियों को समझ चुके थे। इसलिए हमने व्यक्तियों के ऊपर नहीं छोड़ा था चुनाव।

अमेरिका में साल्टर ने कहा है कि इस आदमी ने आठ दफा शादी की और हर वार वैसी ही पत्नी फिर चुन लाया। कारण क्या है? चुनाव जिस मन से होता है, वह तो वही रहता है, इसलिए मैं दूसरा चुन भी कैसे सकता हूँ? मुझे एक स्त्री की आवाज अच्छी लगती है, आँख अच्छी लगती है, चलने का ढंग अच्छा लगता है, शरीर की वनावट अच्छी लगती है, अनुपात पसन्द पड़ता है, उठना-वैठना पसन्द पड़ता है, व्यवहार पसन्द पड़ता है, इसलिए उसे मैं चुनता हूँ।

जव मैं एक स्त्री को चुनता हूँ, तव मैं अपने मन को ही चुनता हूँ; उसको नहीं चुनता, अपनी पसन्दगी को चुनता हूँ। फिर यह स्त्री उपद्रवी मालूम पड़ती है, झगड़ैल मालूम पड़ती है, फिर इसमें दूसरे गुण दिखाई पड़ने शुरू हो जाते हैं, तव मैं इसे तलाक देता हूँ। फिर दुवारा मैं एक स्त्री को चुनता हूँ, तो मैं फिर वही गुण खोजूंगा, जो मैंने पहली स्त्री में खोजे थे। और हर गुण के साथ

खाऊ मालूम पड़ती है, निपट जाती है, पर रोने वाली स्त्री ज्यादा कुशलता से सताती है। आप यह भी नहीं कह सकते कि वह गलत है; क्योंकि नैतिक रूप से आपको भी लगता है कि आप गलती कर रहे हैं। वह आपको अपराधी सिद्ध कर देती है। तब आपको लगता है कि फिर वही चुन लाये।

दुबारा फिर चुनने जाएँगे, तो फिर आपका जो मन है, वह भीतर बैठा है, वह फिर दब्बू स्त्री को चुनता है। अब की दफा वह और भी ज्यादा दब्बू स्त्री खोजेगा; क्योंकि पहली दफा भूल हो गई थी, वह स्त्री उतनी दब्बू साबित नहीं हुई थी। ध्यान रखना, अगर ज्यादा दब्बू स्त्री खोजोगे, तो और ज्यादा उपद्रवी स्त्री मिल जायेगी। मगर यह चलेगा; क्योंकि जो मूल कारण है, उसे हम नहीं देखते। हम बाहर का निमित्त देखते हैं और बाहर का निमित्त काम नहीं पड़ता।)

(महावीर कहते हैं, अपने ही कृतकर्मों के कारण हम दुखी होते हैं। अब अगर मैं दब्बू स्त्री पसन्द करता हूँ, तो यह मेरे लम्बे कर्मों, विचारों और भावों का जोड़ है। लेकिन मैं पसन्द क्यों करता हूँ दब्बू स्त्री? क्योंकि मैं किसी को दबाना पसन्द करता हूँ। इसलिए जब कोई मुझसे नहीं दबेगा, तो मैं दुखी हो जाऊँगा। असल में दबाना पसन्द करना ही पाप है। किसी को दबाना पसन्द करना ही हिंसा है। यह मैं गलती करता हूँ कि मैं किसी को दबा हुआ पसन्द करूँ।)

(स्वभावतः जब मैं भी दबाना चाहता हूँ, और दूसरे भी दबाना चाहते हैं, तो फिर कलह होगी, फिर दुख होगा, और दुख को मैं दूसरे पर थोपने चला जाऊँगा।)

'अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता।'

कैसा भी कर्म हो, कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। क्योंकि कर्म और फल दो चीजें नहीं हैं, नहीं तो बचना हो सकता है। कर्म और फल दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मैं एक रुपऐ को उठाकर मुट्ठी में रखूं और कहूँ कि मैं तो सिर्फ सीधे पहलू को ही मुट्ठी में रखूंगा और वह जो उल्टा हिस्सा है, वह मुट्ठी में नहीं रखूंगा, तो यह पागलपन है। क्योंकि सिक्के में दो पहलू हैं। और कितना ही बारीक सिक्का बनाया जाए, कितना ही पतला सिक्का बनाया जाये, दूसरा पहलू तो रहेगा ही। कोई उपाय नहीं है एक पहलू के सिक्के को

दोनों अलग-अलग हैं। नीम का फल अब भी कड़वा होगा और आम का फल अब भी मीठा होगा। आम की मिठास नीम की कड़वाहट को नहीं काटेगी, और नीम की कड़वाहट आम की मिठास को नहीं काटेगी। बल्कि होगा यह कि जिसने आम को भी चखा, उसे नीम ज्यादा कड़वी मालूम पड़ेगी। अकेले नीम को चखता, तो शायद नीम उतनी कड़वी न भी मालूम पड़ती। जिसने आम को भी चखा, उसे नीम ज्यादा कड़वी मालूम पड़ेगी। जिसने नीम को चखा, उसे आम ज्यादा मीठा मालूम पड़ेगा। 'कन्ट्रास्ट' होगा, लेकिन कटाव नहीं होगा। दोनों साथ-साथ होंगे।

इसलिए महावीर कहते हैं : अच्छे का फल अच्छा है, और बुरे का फल बुरा है। अच्छा बुरे को नहीं काटता, बुरा अच्छे को नष्ट नहीं करता। इसलिए हमें मिश्रित व्यक्ति मिलते हैं, जिन्हें देखकर मुसीबत होती है। एक आदमी हम देखते हैं, कि वह चोर भी है, बेईमान भी है, फिर भी सफल हो रहा है, तो हमें बड़ी अड़चन होती है। क्या मामला है कि भगवान चोरों और बेईमानों को सफल करता है! और एक आदमी को हम देखते हैं—ईमानदार है, चोर भी नहीं है और असफल हो रहा है! और जहाँ जाता है, तो कहते हैं कि ऐसा आदमी सोना भी छुए, तो वह मिट्टी हो जाता है; कहीं भी हाथ लगाओ असफलता ही हाथ लगती है—क्या मामला है?

मामला इस वजह से है कि प्रत्येक आदमी अच्छे और बुरे का जोड़ है। जो आदमी चोर है, बेईमान है, वह इसलिए सफल हो रहा है, कि सफलता के लिए जिन अच्छे कर्मों का होना आवश्यक है, जैसे साहस है, दाँव-पेच है, असुरक्षा में उतरना है, जोखिम है, वह सब उसमें है। जिसको हम कहते हैं कि ईमानदार और अच्छा आदमी है और जो असफल हो रहा है, न उसमें जोखिम है, न दाव, न साहस—वह घर बैठ कर, सिर्फ अच्छे रह कर सफल होने की कोशिश कर रहा है। वह बुरा आदमी दौड़ रहा है, और यह अच्छा आदमी बैठा है। वह बुरा आदमी पहुँच जायेगा, क्योंकि दौड़ रहा है, कुछ कर रहा है।

हर आदमी एक मिश्रण है, इसलिए जगत् में इतने विरोधाभास दिखाई पड़ते हैं। अगर कोई बुरा आदमी भी सफल हो रहा है और किसी तरह का सुख पा रहा है, तो उसका अर्थ है कि उसके पास कुछ अच्छे कर्मों की सम्पदा है। और अगर कोई अच्छा आदमी भी दुख पा रहा है, तो जान लेना कि उसके पास बुरे कर्मों की सम्पदा है। और एक दूसरे का कटाव नहीं होता।

हैं, क्योंकि कोई उपाय नहीं है। अगर ऐसा हो सके, तो मैं नहीं मानता कि कोई किसी से कहेगा कि सब दुख मुझे दे दो। तब प्रेमी ऐसा सोचेंगे कि कब दूसरा मांग ले सब दुख। अभी हम बड़े मजे से कहते हैं कि तुम्हारी पीड़ा मुझे लग जाये, मेरी उम्र तुम्हें लग जाये, लेकिन लगती वगती नहीं है। अगर लगने लगे, तो फिर कोई कहने वाला नहीं मिलेगा। असल में प्रत्येक व्यक्ति अकेला है, भीड़ में भी अकेला है। कितना ही संग-साथ हो, फिर भी अकेला है। यह जो चैतन्य की धारा भीतर है, उसकी अपनी निजता है, 'इन्डि-विजुअॅलिटी' है। और जो भी उस चेतना की धारा ने किया है, वह उसी धारा को भोगना पड़ेगा।

गंगा बहती है एक रास्ते से, और नर्मदा बहती है दूसरे रास्ते से। तो गंगा जिन पत्थरों से बहती है, जिस मिट्टी से बहती है, उसका रंग गंगा को मिलेगा। और नर्मदा जिस मिट्टी से बहती है, जिन पत्थरों से बहती है, उनका रंग नर्मदा को मिलेगा और कोई उपाय नहीं है। हम सब धाराएँ हैं। और हम सबके जीवन पथ अलग-अलग हैं। कितने ही पास-पास और कितने ही हम एक दूसरे को काटते मालूम पड़ें, कितने ही चौरस्तों पर मुलाकात हो जाये, लेकिन हमारा अकेलापन नहीं कटता।

हम अकेले हैं और दूसरे पर बांधने का कोई उपाय नहीं है। इस पर बहुत जोर है महावीर का क्योंकि यह बहुत महत्वपूर्ण है। अगर यह ख्याल में आ जाये, तो व्यक्ति अपनी पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है, और जिस व्यक्ति ने समझा कि सारी जिम्मेदारी मेरी है, वह पहली दफा 'मैच्योर', प्रौढ़ होता है, नहीं तो हम बच्चे बने रहते हैं।

प्रौढ़ता का एक ही अर्थ है कि प्रौढ़ व्यक्ति सोचता है कि वह अपने पैरों पर खड़ा हो जाये। बच्चा सोचता है कि मां की जिम्मेदारी, बाप की जिम्मेदारी, पढ़ाओ-लिखाओ, बड़ा करो।

एक आध्यात्मिक प्रौढ़ता भी है। उस प्रौढ़ता का अर्थ है कि कोई मेरे लिए जिम्मेदार नहीं है, मैं बिलकुल अकेला हूं। और जो भी मैं हूं, उसे मुझे स्वीकार कर लेना है। और जो भी मैं हूं, उसे ही मुझे रूपांतरित करना है। और जो

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१९ सितम्बर, १९७२

सोलहवाँ प्रवचन

पहले एक दो प्रश्न।

एक मित्र ने पूछा है, कल आपने कहा था कि महावीर की चिन्तना में प्रत्येक कृत्य और कर्म के लिए मनुष्य अकेला पूरा का पूरा खुद ही जिम्मेदार है। जब कि दूसरी चिन्तनाएँ कहती हैं कि इतने बड़े संचालित विराट् में मनुष्य की बिसात क्या है कि परमात्मा की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता—इस चिन्तना में कर्म को कहाँ रखियेगा? एक तरफ स्वतंत्रता की घोषणा और दूसरी ओर परतंत्रता की बात है। या यों कहें कि 'डूइंग एण्ड हैपनिंग' में तालतेल कैसे बैठेगा?

ताल-मेल बैठाने की बात से ही परेशानी शुरू हो जाती है। इसलिए ताल-मेल बैठाना ही मत। दो मार्गों में ताल-मेल कभी भी नहीं बैठता। दोनों की मंजिल एक हो सकती है, लेकिन दो मार्गों में ताल-मेल नहीं बैठता। और जो ताल-मेल बिठाने की कोशिश करता है, वह मंजिल तक कभी भी नहीं पहुँच पाता।

यह हो सकता है कि पहाड़ पर ले जाने वाले बहुत से रास्ते एक ही शिखर पर पहुँच जाते हों, लेकिन दो रास्ते, दो रास्ते ही हैं और उनके एक करने की कोशिश व्यर्थ है। और जो व्यक्ति दो रास्तों में ताल-मेल बिठा कर चलने की कोशिश करेगा, वह चल ही नहीं पायेगा।

मंजिल में समन्वय है, पर मार्गों में कोई समन्वय नहीं है। लेकिन हम सब मार्गों में समन्वय बिठाने की कोशिश करते हैं, और उससे बड़ी कठिनाई होती है।

वृत्ति, अपने व्यक्तित्व, अपनी रुझान की बात है, अपने 'टाइप' की बात है। लेकिन दोनों में मेल मत करना, दोनों में कोई मेल नहीं हो सकता, अन्यथा उनका जो नियोजित प्रयोजन है, वही समाप्त हो जाता है। इन दोनों में कोई मेल नहीं है।

महावीर और मीरा को कभी भूल कर मत मिलना। वे बिलकुल एक दूसरे की तरफ पीठ करके खड़े हैं। जहाँ से वे चलते हैं, वहाँ उनकी पीठ है; जहाँ वे मिलते हैं, वहाँ वे दोनों ही खो जाते हैं।

मीरा नहीं बचती, क्योंकि 'मैं' को खो कर चलती है; और जब 'मैं' खो जाता है, तो 'तू' भी खो जाता है। महावीर भी नहीं बचते, क्योंकि 'तू' को खोकर चलते हैं और जब 'तू' बिलकुल खो जाता है, तो 'मैं' का कोई अर्थ नहीं रह जाता, वह गिर जाता है। दोनों पहुँच जाते हैं परम शून्य पर, परम मुक्ति पर, लेकिन दोनों के मार्ग बड़े विपरीत हैं।

हमारी सबकी तकलीफ यह है कि हम सोचते हैं सदा द्वन्द की भाषा में कि या तो महावीर ठीक होंगे या मीरा ठीक होगी; दोनों में से कोई एक ठीक होगा—ऐसा हमारी समझ में पड़ता है। हम सोचते हैं, दोनों कैसे ठीक हो सकते हैं ? यहीं गलती शुरू हो जाती है। पर दोनों ठीक हैं।

अगर हम यह भी समझ लेते हैं कि दोनों ठीक हैं, तो फिर हम ताल-मेल बिठाते हैं। हम सोचते हैं—दोनों ठीक हैं, तो दोनों का मार्ग एक होगा। फिर भूल हो जाती है। दोनों ठीक हैं और दोनों का मार्ग एक नहीं है।

इस दुनिया में समन्वयवादियों ने जितना नुकसान किया है, उतना और किन्हीं ने भी नहीं किया। जो हर चीज को मिलाने की कोशिश में लगे रहते हैं, वे खिचड़ियाँ बना देते हैं। सारा अर्थ खो जाता है। भले ही मन से करते हैं वे कि कोई कलह न हो, कोई झगड़ा न हो, कोई विरोध न हो, लेकिन विरोध है ही नहीं। जिसको वे मिटाने चलते हैं, वह है ही नहीं।

महावीर और मीरा में विरोध नहीं है, मंजिल की दृष्टि से। मार्ग की दृष्टि से भिन्नता है। अलग-अलग छोर से उनकी यात्रा शुरू होती है। और यात्रा हमेशा वहाँ से शुरू होती है, जहाँ आप हैं।

ध्यान रखें; मंजिल से उसका कम सम्बन्ध है, आप से ज्यादा है; कि कहाँ आप हैं। मैं पूरब में खड़ा हूँ, आप पश्चिम में खड़े हैं, तो हम दोनों के मार्ग एक से कैसे हो सकते हैं! मैं जहाँ खड़ा हूँ, वहीं से मेरी यात्रा शुरू होगी; आप

का कोई सवाल ही नहीं है। तू डुबाये, तू बचाये, तू मोक्ष में ले जाये, तू नर्क में डाल दे, अब तेरी मर्जी में मेरी खुशी है। अब यह भी नहीं है कि तू मुझे मोक्ष में ले जायेगा, तो ही मेरी खुशी होगी—तू ले जायेगा, यही मेरी खुशी है। कहाँ ले जायेगा, यह तू ही जान।

इतने समग्र भाव से अपने को छोड़ सके कोई, तो फिर कोई कर्म का बन्धन नहीं है; क्योंकि कर्त्ता ही न रहा।

इसे ठीक से समझ लें।

जब तक करने वाले का भाव है, तभी तक कर्म का बन्धन है। जब मैं करने वाला ही नहीं हूँ, वही करने वाला है; यह विराट जो अस्तित्व है, वही कर रहा है, तो फिर कोई कर्म का बन्धन नहीं है।

कर्म बनता है कर्त्ता के भाव से, अहंकार से। इसलिए मीरा स्त्रैण चित्त की परिपूर्ण अभिव्यक्ति में अपने को खो देती है। मीरा ही ऐसा करती है, ऐसा नहीं, चैतन्य भी यही करते हैं। इसलिए पुरुष स्त्री का सवाल नहीं है, प्रतीक हैं।

महावीर बिलकुल भिन्न हैं। महावीर कहते हैं, समर्पण कैसा? किसके प्रति समर्पण? और महावीर कहते हैं कि समर्पण भी मैं ही करूँगा, वह भी मेरा ही कृत्य है। महावीर सोच ही नहीं सकते समर्पण की भाषा, क्योंकि वे पुरुष चित्त के शिखर हैं। इसलिए ईश्वर को उन्होंने इन्कार ही कर दिया, क्योंकि ईश्वर अगर होगा, तो उसे समर्पण करना ही पड़ेगा।

कोई और नहीं है, मैं ही हूँ, इसलिए सारी जिम्मेदारी का बोझ मेरे ही ऊपर है। वह मुझे ही खींचना है, मुझे ही तय करना है कि क्या करूँ और क्या न करूँ। और जो भी परिणाम हो, मुझे जानना है कि वह मेरे ही द्वारा हुआ है। इसलिए 'मैं' को छोड़ने का कोई उपाय ही नहीं है। मुझे अपने को बदलना है और इतना शुद्ध हो जाना है, इतना 'ट्रान्सपेरेन्ट', इतना पारदर्शी हो जाना है कि कुछ भी बुरा मुझमें न रह जाये।

इस शुद्ध करने की प्रक्रिया में ही मैं विलीन होगा, लेकिन समर्पित नहीं होगा। इसका फर्क समझ लें।

मीरा समर्पण करेगी, 'मैं' खो जायेगा। महावीर शुद्ध करेंगे, शून्य करेंगे अपने को और 'मैं' खो जायेगा। लेकिन महावीर श्रम करेंगे और मीरा समर्पण करेगी।

के लिए ठीक नहीं है।) लेकिन जो पति के लिए ठीक है, वह पत्नी के लिए भी ठीक होना चाहिये, ऐसी उनकी धारणा है। अगर कल उनकी पत्नी भी उन पर जोर देने लगे कि तुम भी चलो मन्दिर में और नाचो, कीर्तन करो और गाओ, तो मैं कहूँगा कि वह भी गलती कर रही है। क्योंकि जो उसके लिए ठीक है, वही उसके पति के लिए भी ठीक हैं—ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है।

दूसरे पर कभी भी मत थोपना अपना ठीक होना क्योंकि आपको पता ही नहीं है कि दूसरा कहाँ खड़ा है। आप जहाँ खड़े हैं, अपना रास्ता आप चुन लेना। दूसरा जहाँ चल रहा है, उसे चलने देना।

अक्सर लोग दूसरों के रास्तों पर बड़ी बाधाएँ उपस्थित करते हैं। उसका कारण है कि वे समझ ही नहीं पाते कि कोई दूसरा रास्ता भी हो सकता है। हम सबको ऐसा ख्याल है कि सत्य एक है—यह बिलकुल ठीक है, लेकिन इसके कारण हमको एक ख्याल और भी पैदा हो गया है कि सत्य का मार्ग भी एक है—यह बिलकुल गलत है।

सत्य एक है—सौ प्रतिशत ठीक, सत्य का मार्ग एक है—सौ प्रतिशत गलत।

सत्य के मार्ग अनन्त हैं, अनेक हैं। असल में जितने पहुँचने और चलने वाले लोग हैं, उतने ही मार्ग हैं। हर आदमी अपनी ही पगडंडी से चलता है। अस्तित्व की यात्रा में हम अलग-अलग जगह में खड़े हैं; और अस्तित्व की यात्रा में हमने अलग-अलग चित्त निर्मित कर लिये हैं; जन्मों-जन्मों की यात्रा में हम सबके पास अलग-अलग भाव दशा निर्मित हो गई है, हम उससे ही चल सकते हैं, दूसरे के मार्ग पर चलने का कोई उपाय नहीं है। जैसे दूसरों के पैरों से चलने का कोई उपाय नहीं है, वैसे दूसरों के मार्ग पर भी चलने का कोई उपाय नहीं है। और जब एक दूसरे को लोग अपने मार्ग पर घसीटते हैं, तो वे उन्हें पंगु कर देते हैं, उनके पैर काट डालते हैं। बहुत हिंसा होती है ऐसे, लेकिन हमारे ख्याल में नहीं आती।

तालमेल बिठाना ही मत। अगर यह बात ठीक लगती हो कि 'परमात्मा की मरजी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता', तो फिर पूरे के पूरे इसमें डूब जाना, ताकि 'मैं' मिट जाये। लेकिन यह समग्र हो। फिर एक आदमी आकर पत्थर मार जाए सिर में, तो यह मत सोचना कि उस आदमी ने पत्थर मारा। फिर सोचना कि 'परमात्मा की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता।'

सागर सब ओर है। सागर का मतलब ही है, जो सब ओर है। कहीं से भी जाओ, पहुँचना हो सकता है। एक ही बात का ध्यान रखना कि चलना, रुक मत जाना। तालाब भर ही नहीं पहुँचते, नदियाँ तो सब पहुँच जाती हैं। समझौतावादी तालाब की तरह हो जाते हैं। वे ठहर जाते हैं। थोड़ा पूरब भी चलते हैं, थोड़ा पश्चिम भी चलते हैं। और चारों दिशाओं में चलने की वजह से चक्कर लगाने लगते हैं, अपनी जगह पर, एक ही जगह पर घूमते रहते हैं। वहीं सूखते हैं, सड़ते हैं।

समझौता नहीं है मार्ग धर्म में—दर्शन में भला हो, विचार में भला हो। जिनको चलना हो, उनके लिए समझौता मार्ग नहीं है। उनके लिए तो स्पष्ट चुनाव जरूरी है। और चुनाव करना अपनी आन्तरिक भाव-दशा के अवलोकन से, दूसरे की बातों से नहीं। अपने को सोचना कि मैं क्या कर सकता हूँ—समर्पण या संकल्प।

एक मित्र ने पूछा है कि मैं तो हूँ बहुत पापी। आकांक्षा भी होती है प्रभु तक पहुँचने की। क्या मुझ जैसे पापी के लिए प्रभु का द्वार खुला होगा ? मैं बहना ही चाहूँ, बहता ही रहूँ तो भी क्या परमात्मा के सागर को पा सकूंगा ?

यह महत्वपूर्ण है भाव, क्योंकि जो जान लेता है कि मैं पापी हूँ, उसके जीवन में पुण्य का भाव प्रारम्भ हो जाता है। यह एक पण्डित का प्रश्न नहीं है, एक धार्मिक व्यक्ति का प्रश्न है। पण्डित ज्ञान की बातों में से प्रश्न उठाता है, धार्मिक व्यक्ति अपनी अन्तरदशा से प्रश्न उठाता है। पण्डित के प्रश्न शास्त्रों से आते हैं, धार्मिक के प्रश्न अपनी स्थिति से आते हैं।

यह भाव कि मैं पापी हूँ, धार्मिक भाव है। यह जानना कि मेरा पहुँचना मुश्किल है, पहुँचने के लिए पहला कदम है। यह मानना कि क्या मेरे लिए भी प्रभु के द्वार खुले होंगे, द्वार पर पहली दस्तक है।

वे ही पहुँच पाते हैं, जो इतने विनम्र हैं। जो बहुत अकड़ कर चलते हैं, जो सोचते हैं कि दरवाजे का क्या सवाल, परमात्मा रास्ते में स्वागत के लिए खड़ा होगा। द्वार-वन्दन वार बना कर, वे कभी नहीं पहुँच पाते। क्योंकि उस परम-सत्ता में लीन होना है। लीनता यहीं से शुरू होगी, आपकी तरफ से शुरू होगी। परम-सत्ता के कोई द्वार नहीं हैं कि बन्द हों।

समझ लें इसको।

अजनबियों के लिए हमारे द्वार खुले हुए नहीं हैं। और परमात्मा से ज्यादा अजनवी कौन होगा ?

हमारी नीति, हमारे चरित्र के नियम सब छोटे पड़ जायेंगे। उनसे हम 'उसे' नाप न पाएँगे। वडी अड़चन होगी। हमने बहुत बार यह किया है।

हम, महावीर मौजूद हों, तो नाप नहीं पाते; बुद्ध मौजूद हों, तो नाप नहीं पाते; जीसस मौजूद हों, तो नाप नहीं पाते। हम कैसे वेहूदे सवाल पूछते हैं बुद्ध से, महावीर से, जीसस से ? वह असल में हम अजीबपन के कारण पूछते हैं।

जीसस एक वेश्या के घर में ठहर गये।

आपने क्या पूछा होता सुवह ? जीसस को घेर कर आप क्या सवाल उठाते ?

हम वही सवाल उठा सकते हैं, जो हम वेश्या के घर ठहरे होते तो जो हमने किया होता; वही सवाल हम उठाएँगे। हम यह सोच ही नहीं सकते कि जीसस के होने का कोई और अर्थ भी हो सकता है।

जीसस को कोई बुद्ध जैसा व्यक्ति ही समझ सकता था।

बुद्ध का एक शिष्य एक वेश्या के घर में ठहर गया। सारे भिक्षु परेशान हो गये और उन्होंने आकर बुद्ध को शिकायत की कि यह तो बहुत अशोभन वात है कि हमारा भिक्षु और एक वेश्या के घर ठहर जाये।

(ये जो भिक्षु थे, ये ठहरना चाहते होंगे वेश्या के घर। यह ईर्ष्या से उठा हुआ सवाल था।)

बुद्ध ने कहा कि अगर तुम ठहर जाते, तो मुझे चिन्ता होती। जो ठहर गया है, उसे मैं जानता हूँ। लेकिन शिष्यों ने कहा कि आप यह अन्याय कर रहे हैं। इससे तो रास्ता खुल जायेगा। इससे तो और लोग भी ठहरने लगेंगे।

('और लोग'—मतलब वे अपने को सोच रहे हैं कि क्या गुजरेगी उन पर अगर वे वेश्या के घर ठहर जाएँ।)

हम हमेशा अपने से सोचते हैं। और तो कोई उपाय भी नहीं है, इसलिए हम अपने से ही सोचते हैं।

'और वेश्या बहुत सुन्दरी है'—उन भिक्षुओं ने कहा। 'और उसके आकर्षण से वचना वहुत मुश्किल है। रात भर भिक्षु वहीं ठहर गया है। और हमने तो

ले लें; सागर में खो जायें।

जिस व्यक्ति को यह ख्याल हो रहा है कि मैं पापी हूँ, वह निश्चिन्त रहे। यह ख्याल महत्वपूर्ण है, क्योंकि इस ख्याल में ही अहंकार गलता है। जिसको यह ख्याल हो रहा हो कि क्या मेरे लिए 'उसके द्वार' खुले होंगे, तो वह निश्चिन्त रहे। 'उसके द्वार' उसके लिए बिलकुल ही खुले हुए हैं। वह बहता रहे और धीरे-धीरे अपने को डुबाता रहे। एक न एक दिन वह घड़ी घटती है, जब भीतर, वह जो अहंकार की छोटी सी टिमटिमाती ज्योति है, वह बुझ जाती है। और जिस दिन वह टिमटिमाती ज्योति बुझती है, उसी दिन हमें पता चलता है उस सूर्य का, जो हमेशा मौजूद है। लेकिन हम अपनी टिमटिमाती ज्योति में इतने लीन थे कि सूर्य की तरफ आँख भी नहीं गई थी।

जब तक 'मैं' न बुझ जाये, तब तक मुझे उसका पता नहीं चलता, जो चारों तरफ मौजूद है। क्योंकि मैं अपने में ही संलग्न हूँ, मैं अपने में ही लगा हुआ हूँ—'टू मच अकुपाइड विथ माई सेल्फ'। सारी व्यस्तता अपने में लगी है।

जिस दिन जीसस को सूली हुई, उस दिन उस गाँव में एक आदमी के दाँत में दर्द था। सारा गाँव जीसस को सूली देने जा रहा है। जीसस कन्धे पर अपना क्रॉस लेकर उस मकान के सामने से निकल रहे हैं। वह आदमी बैठा है और जो भी उस रास्ते से निकलता है, वह उनसे अपने दाँत के दर्द की चर्चा करता है। वह कहता है कि आज बड़ी तकलीफ है दाँत में। लोग कहते हैं—'छोड़ो भी! पता है कुछ, आज मरियम के बेटे जीसस को सूली दी जा रही है।' वह आदमी सुनता है, लेकिन अनसुना कर देता है। वह कहता है—'दी जा रही होगी, लेकिन दाँत में बहुत दर्द है।'

जिस दिन जीसस को सूली हुई, उस दिन वह आदमी अपने दाँत में ही उलझा था। उस दिन इस पृथ्वी का बड़े से बड़ा चमत्कार घट रहा था, लेकिन वह आदमी अपने दाँत के दर्द में उलझा था।

हम सब ऐसे ही लोग हैं, जिनकी दाढ़ में दर्द है। सब अपनी-अपनी दाढ़ का दर्द लिये बैठे हैं। चारों तरफ विराट घटना घट रही है। हर पल 'वह' मौजूद है सब तरफ। लेकिन हमारी दाढ़ दुख रही है और हम उसी में लीन है।

और अहंकार बड़ी पीड़ा का घाव है। दाढ़ भी वैसा दर्द नहीं देती, जैसा कि अहंकार देता है।

कूदने वाले नहीं हैं—कह रहे थे कि समर्पण कर दिया! मैं भी कुदाने वाला नहीं हूँ, लेकिन क्या भरोसा! यदि कभी कह भी दूँ, तो कूदने वाले वे नहीं हैं। जैसे ही मैं यह कहूँगा, वैसे ही वे कहेंगे कि क्या कह रहे हैं आप···! वे भूल गये समर्पण।'

समर्पण का अर्थ क्या होता है?

बोधिधर्म भारत से चीन गया, तो नौ साल तक दीवार की तरफ मुंह रखता था और पीठ लोगों की तरफ रखता था। जब वह बोलता था, तो मेरे जैसे नहीं बैठता था। आप की तरफ पीठ और मुंह दीवार की तरफ। (हालांकि बहुत फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि जब मैं बोल रहा हूँ, तो आप पीठ मेरी तरफ किये हुए हैं। कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि मुंह आपका दिवार की तरफ है।)

बोधिधर्म से लोगों ने पूछा कि यह क्या करते हो, तो बोधिधर्म ने कहा कि जब ठीक आदमी आ जाएगा, जो समर्पण करने को तैयार होगा, तो मैं मुंह इस तरफ कर लूँगा; अभी व्यर्थ के लोगों की शक्ल देखने से फायदा भी क्या है? 'क्या तुम हो वह आदमी जो समर्पण करेगा?' वे कहते हैं कि अभी लड़की की शादी करनी है। अभी लड़के बच्चे बड़े हो रहे हैं, जरा व्यवस्था कर लें। पिता बूढ़े हैं, उनकी सेवा करनी है। फिर कभी आएँगे।

फिर आया हुइ-नेंग नाम का आदमी। उसने आकर कुछ कहा नहीं। उसने आकर अपना एक हाथ काटा और बोधिधर्म के सामने कर दिया और कहा—'तत्काल मुंह इस तरफ करें, नहीं तो मैं अपनी गर्दन भी काट कर रख दूँगा। बोधिधर्म तत्काल लौटा और बोधिधर्म ने कहा कि तुम्हारी ही प्रतिक्षा थी हुई-नेंग, तुम आ गए वक्त पर, जो मुझे कहना है, तुमसे कह दूँ और अब मैं मर जाऊँ। मर तो मुझे जाना चाहिये था बहुत पहले ही। वक्त मेरा बहुत पहले पूरा हो चुका है। सिर्फ उस आदमी प्रतीक्षा में था, जिसे, मैं जो जान गया हूँ, वह दे दूँ। क्योंकि हजारों-हजारों वर्षों में कभी कोई आदमी यह जान पाता है। अगर मैं इसे बिना बताए मर जाऊँ, तो हजारों वर्ष तक अन्तराल पड़ जाएगा; इसलिए उस आदमी की प्रतीक्षा में था; और यह मैं उससे ही कह सकता हूँ, जो मरने को तैयार हो। क्योंकि यह एक बहुत गहरी भीतरी मौत है।

हुई-नेंग को शिष्य की तरह स्वीकार किया बोधिधर्म ने और हुई-नेंग को सारी बात कह दी, जो उसे कहनी थी।

अपने को मिटाने की तैयारी का एक मार्ग है 'समर्पण'। लोग सोचते हैं

परमात्मा के सामने पूर्णतया नग्न होने की हिम्मत मेरी अभी भी नहीं है, लेकिन यह आकांक्षा है कि कभी उसके सामने परिपूर्ण नग्न हो सकूँ, ताकि आपका वचन पूरा हो जाये।

प्रभाकर माचवे ने लिखा है कि गान्धीजी ने ऐसा जवाब देकर चर्चिल को खूब नीचा दिखाया। क्षमा का उदाहरण दे रहे हैं, क्षमा की चर्चा कर रहे हैं, लेकिन नीचा दिखाना? नीचा दिखाने का मजा ले रहे हैं।

पता नहीं कि गान्धीजी ने नीचा दिखाने के लिए जवाब दिया या नहीं दिया, लेकिन माचवे को ख्याल में भी नहीं आ रहा है कि नीचा दिखाने में क्षमा हो कैसे सकती है! नीचा दिखाना ही तो क्रोध है। कोई आदमी गाली देकर नीचा दिखा देता है। और कोई आदमी क्षमा करके नीचा दिखा देता है।

नीचा दिखाना ही तो हिंसा है। अब यह तरकीब की बात है कि आप किस तरह नीचा दिखाते हैं। अगर आप किसी को क्षमा करके नीचा दिखा रहे हैं, तो ख्याल रखना कि यह क्षमा नहीं है। आप ज्यादा चालाक हैं, उस आदमी से ज्यादा बेईमान हैं, जो गाली देकर नीचा दिखाते हैं। वे जरा अकुशल हैं। उनके ढंग नीचा दिखाने के सीधे और साफ हैं। आपके ढंग चालबाजी के हैं।

मुझे पता नहीं कि गान्धीजी ने नीचा दिखाने के लिए जवाब दिया होगा, लेकिन जैसा कि माचवे कहते हैं—अगर नीचा दिखाया है, तो फिर यह क्षमा नहीं है। तब चर्चिल ज्यादा इमानदार हैं और गान्धी ज्यादा बेईमान हो जाते हैं। क्योंकि चर्चिल को लगता है नंगा फकीर, तो वह कहता है 'नंगा फकीर'। इसमें ज्यादा 'आनेस्टी' है, ज्यादा सच्चाई मालूम पड़ती है। अगर नीचा दिखाने के लिए जवाब दिया गया है, तो ज्यादा बेईमानी दिखाई पड़ती है।

हमें ख्याल में नहीं आता कि हिंसा बहुत गहरी है। और अहिंसक होने की चेष्टा में भी प्रगट हो सकती है। क्रोध बहुत गहरा है और अक्रोध में भी उसकी झलक आ जाती है। अपने को संकल्प से बदलना भी इतना आसान नहीं है।

मार्ग तो दोनों कठिन हैं, फिर भी अगर आप वह मार्ग चुन लें, जो आप के व्यक्तित्व से मेल नहीं खाता, तो वह असम्भव हो जाएगा। कठिन नहीं, असम्भव। अगर मीरा महावीर का मार्ग चुन ले, तो असम्भव है। अपने ही मार्ग पर चले, तो कठिन है, सरल नहीं। अगर महावीर मीरा का मार्ग चुन लें, तो असम्भव है। अपने ही मार्ग पर चले, तो कठिन है, सरल नहीं।

हिन्दू व्यवस्था में जो वर्ण की कल्पना थी, आश्रम की कल्पना थी, वह बिलकुल तोड़ दी। और उन्होंने कहा कि जब प्रखर हो ऊर्जा जीवन को भोगने की, तभी रूपान्तरण है। जब सारा जीवन बहता हो काम-वासना की तरफ, तभी लौट पड़ना।

जब बन्दूक रिक्त हो जाती हो, जब गोली चल चुकती हो, तब बन्दूक अहिंसक हो जाये—चली चलाई बन्दूक कहे कि अब मैंने अहिंसा का व्रत ले लिया है, तो उसमें कोई भी सार्थकता नहीं है। लेकिन हम यही करते हैं। या तो सुविधा हमारे पास नहीं होती, तो हम त्याग कर देते हैं। या हम असमर्थ हो जाते हैं सुविधा भोगने में, तो हम त्याग करते हैं।

त्याग का बिन्दु वही है, जो भोग का बिन्दु है। त्याग और भोग एक ही क्षण की घटनाएँ हैं—रुख अलग है, दिशा अलग है, लेकिन क्षण एक है, क्षण दो नहीं हैं। त्याग अलग दिशा में जाता है, भोग अलग दिशा में, लेकिन जहाँ से यात्रा होती है, वह बिन्दु एक है।

इसलिए महावीर कहते हैं कि सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी जो पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन—किसी परतन्त्रता में नहीं, किसी परवशता में नहीं, स्वतन्त्र रूप से परित्याग कर देता है—परित्याग करना नहीं पड़ता, कर देता है। यह उसका संकल्प है। संकल्प से त्याग फलित होना चाहिए, तो ही सामर्थ्य बढ़ती है, शक्ति बढ़ती है। असमर्थता से त्याग होता है, तो दीनता बढ़ जाती है।

'जो मनुष्य किसी परतन्त्रता के कारण वस्त्र, गन्ध, अहंकार, स्त्री और शयन आदि का उपयोग नहीं कर पाता, वह सच्चा त्यागी नहीं कहलाता।'

'सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत्-शास्त्रों का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना, और चित्त में धृतिरूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह निःश्रेयस का मार्ग है।'

इस सूत्र के दो हिस्से हैं। एक, त्याग क्या है और दूसरा, त्याग के बाद क्या करने योग्य है।

त्याग सिर्फ एक निषेध नहीं है कि छोड़ दिया और बात खत्म हो गई। छोड़ने से कुछ मिलता नहीं, छोड़ने से सिर्फ बाधाएँ कटती हैं। छोड़ने से कुछ उपलब्ध नहीं होता, छोड़ने से भटकाव बचता है। छोड़ने से गलत यात्रा रुकती

सिर्फ खोया है, कुछ पाया नहीं, जिन्दगी खोई है। मगर वे समझते हैं कि बूढ़े हो गये, तो कुछ पा लिया। इस बूढ़े होने में उनका हाथ ही क्या है? उन्होंने तो पूरा चाहा था कि न हों, फिर भी हो गये। अपनी सब कोशिश की थी, फिर भी हो गये। अब इसको ही वे गुण मान रहे हैं—यह भी कोई योग्यता है!

तो महावीर कहते हैं, अनुभवी वृद्धों की सेवा करना।

बड़ा मुश्किल है! वृद्ध और अनुभवी! बड़ी कठिन बात है। बूढ़े तो सभी हो जाते हैं, अनुभवी सभी नहीं हो पाते। अनुभव का मतलब है—वह जो-जो जीवन में हुआ, वह सिर्फ हुआ नहीं, उससे कुछ सीखा भी गया।

अब एक बूढ़ा आदमी भी अगर क्रोध करता है, तो अनुभवी नहीं है। क्योंकि जिन्दगी भर क्रोध करके अगर इतना भी सीख नहीं पाया कि क्रोध व्यर्थ है, तो यह जिन्दगी बेकार गई। एक बूढ़ा आदमी भी उन्हीं क्षुद्र बातों में उलझा हो, जिनमें बच्चे उलझे होते हैं, तो समझना कि यह आदमी बूढ़ा तो हो गया, पर वृद्ध अनुभवी नहीं हुआ। सिर्फ बुढ़ा हो गया, सिर्फ उमर पक गई, बाल पक गये, लेकिन धूप में पक गये—अनुभव में नहीं।

आप हैरान होंगे कि बूढ़े भी वही करते रहते हैं, जो बच्चे करते हैं। हालांकि बूढ़े करते हैं, तो निश्चित ही ज्यादा 'सोफिस्टिकेटेड', कुशल ढंग से करते हैं, बच्चे उतने कुशल ढंग से नहीं करते। बच्चे गुड्डे-गुड्डी का विवाह कर रहे हैं और बूढ़े राम-सीता का जुलूस निकाल रहे हैं। बच्चे गुड्डा-गुड्डी के श्रृंगार में लगे हैं और बूढ़े महावीर स्वामी का श्रृंगार कर रहे हैं।

गुड्डियां बड़ी हो गईं, लेकिन बदली नहीं। विवाह में बच्चे भी मजा ले रहे थे, गुड्डों का विवाह कर रहे थे, और बूढ़े राम-सीता की बारात निकाल रहे हैं—यह बूढ़ों का बचपन है।

बच्चे इतने गम्भीर भी नहीं होते, ये भारी गम्भीर भी हैं; बस इतना ही फर्क पड़ा है। बच्चों के गुड्डा-गुड्डी के मामले में कभी हिन्दु-मुस्लिम दंगा नहीं होता, बुढ़ों के मामले में हो जाता है। बूढ़े ज्यादा उपद्रवी होते हैं। वे जो भी करते हैं, उसे खेल नहीं मान सकते, क्योंकि उन्हें उमर का अनुभव है! लेकिन सीखा उन्होंने कुछ भी नहीं। वहीं के वहीं खड़े हैं। कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ा। उनकी चेतना वहीं खड़ी है, शरीर सिर्फ बूढ़ा हो गया है।

इसलिए महावीर ने कहा—'अनुभवी, वृद्ध, सद्गुरु।'

सिर्फ खोया है, कुछ पाया नहीं, जिन्दगी खोई है। मगर वे समझते हैं कि बूढ़े हो गये, तो कुछ पा लिया। इस बूढ़े होने में उनका हाथ ही क्या है? उन्होंने तो पूरा चाहा था कि न हों, फिर भी हो गये। अपनी सब कोशिश की थी, फिर भी हो गये। अब इसको ही वे गुण मान रहे हैं—यह भी कोई योग्यता है!

तो महावीर कहते हैं, अनुभवी वृद्धों की सेवा करना।

बड़ा मुश्किल है! वृद्ध और अनुभवी! बड़ी कठिन बात है। बूढ़े तो सभी हो जाते हैं, अनुभवी सभी नहीं हो पाते। अनुभव का मतलब है—वह जो-जो जीवन में हुआ, वह सिर्फ हुआ नहीं, उससे कुछ सीखा भी गया।

अब एक बूढ़ा आदमी भी अगर क्रोध करता है, तो अनुभवी नहीं है। क्योंकि जिन्दगी भर क्रोध करके अगर इतना भी सीख नहीं पाया कि क्रोध व्यर्थ है, तो यह जिन्दगी बेकार गई। एक बूढ़ा आदमी भी उन्हीं क्षुद्र बातों में उलझा हो, जिनमें बच्चे उलझे होते हैं, तो समझना कि यह आदमी बूढ़ा तो हो गया, पर वृद्ध अनुभवी नहीं हुआ। सिर्फ बुढ़ा हो गया, सिर्फ उमर पक गई, बाल पक गये, लेकिन धूप में पक गये—अनुभव में नहीं।

आप हैरान होंगे कि बूढ़े भी वही करते रहते हैं, जो बच्चे करते हैं। हालांकि बूढ़े करते हैं, तो निश्चित ही ज्यादा 'सोफिस्टिकेटेड', कुशल ढंग से करते हैं, बच्चे उतने कुशल ढंग से नहीं करते। बच्चे गुड्डे-गुड्डी का विवाह कर रहे हैं और बूढ़े राम-सीता का जुलूस निकाल रहे हैं। बच्चे गुड्डा-गुड्डी के शृंगार में लगे हैं और बूढ़े महावीर स्वामी का शृंगार कर रहे हैं।

गुड्डियां बड़ी हो गईं, लेकिन बदली नहीं। विवाह में बच्चे भी मजा ले रहे थे, गुड्डों का विवाह कर रहे थे, और बूढ़े राम-सीता की बारात निकाल रहे हैं—यह बूढ़ों का बचपन है।

बच्चे इतने गम्भीर भी नहीं होते, ये भारी गम्भीर भी हैं; बस इतना ही फर्क पड़ा है। बच्चों के गुड्डा-गुड्डी के मामले में कभी हिन्दु-मुस्लिम दंगा नहीं होता, बुढ़ों के मामले में हो जाता है। बूढ़े ज्यादा उपद्रवी होते हैं। वे जो भी करते हैं, उसे खेल नहीं मान सकते, क्योंकि उन्हें उमर का अनुभव है! लेकिन सीखा उन्होंने कुछ भी नहीं। वहीं के वहीं खड़े हैं। कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ा। उनकी चेतना वहीं खड़ी है, शरीर सिर्फ बूढ़ा हो गया है।

इसलिए महावीर ने कहा—'अनुभवी, वृद्ध, सद्गुरु।'

की उपस्थिति और शिष्य में अगर सेवा की वृत्ति हो, तो वह घटना घट जायेगी, जिसे हम आन्तरिक मिलन कहते हैं। सिर्फ बैठ कर सुनने से नहीं हो पाएगा।

महावीर कहते हैं, जिससे सीखना हो, जिसे अपने जीवन के भीतर ले लेना हो, उसकी सेवा में डूब जाना होगा।

महावीर ने सेवा को बड़ा मूल्य दिया है। लेकिन यह सेवा जिसको हम आज 'सर्विस' कहते हैं, उससे बहुत भिन्न है। हम भी सेवा की बात करते हैं। रोटरी क्लब अपने 'सिम्बल' में लिखता है, 'सर्विस' सेवा। क्रिश्चियन मिशनरी सेवा कर रहे हैं। सर्वोदयवादी सेवा कर रहे हैं। 'गरीब की सेवा करो, दुखी की सेवा करो'—ऐसी सेवा सामाजिक घटना है। महावीर की सेवा साधना का एक अंग है।

महावीर दुखी की सेवा के लिए नहीं कह रहे हैं, गरीब की सेवा के लिए नहीं कह रहे हैं। महावीर कह रहे हैं—अनुभवी वृद्ध, ज्ञानी, सद्गुरु की सेवा। इस सेवा में और रोटरी क्लब वाली सेवा में फर्क है। दूसरी सेवा एक सामाजिक बात है। अच्छी है—कोई करे, हर्जा नहीं है। लेकिन महावीर की सेवा का अर्थ बिलकुल दूसरा है। वह सेवा साधना का एक अंग है। वह उसकी सेवा है, जो तुमसे सत्य की दिशा में आगे जा चुका है। क्योंकि जब तुम उसकी सेवा के लिए झुकोगे, (और सेवा में झुकना पड़ता है।) तब उसकी ऊँचाइयों से जो वर्षा हो रही है, वह तुममें प्रवेश कर जाएगी। जब तुम उसके चरणों में सिर रखोगे, तो जो उससे प्रवाहित हो रहा है 'ओज', वह तुम्हें भी छुएगा, तुम्हारे रोएँ-रोएँ को स्नान करा जायेगा।

यह बड़ा सोचने जैसा मामला है। इस पर तो बहुत चिन्तन करने जैसी बात है। क्योंकि जब भी आप किसी की सेवा कर रहे हैं, तो आपको झुकना पड़ता है। और जिसकी आप सेवा कर रहे हैं, वह आप में प्रवाहित हो सकता है।

यह खतरनाक भी है। क्योंकि अगर आप ऐसे आदमी की सेवा कर रहे हैं, जो आपसे चेतना की दृष्टि से नीचे है, तो आपको नुकसान होगा। अगर आपसे ऊँची चेतना के व्यक्ति से आपको लाभ होगा, तो आपसे नीची चेतना के व्यक्ति से आपको नुकसान होगा। इसलिए हमने यह नहीं कहा कि वृद्ध 'जवानों की की सेवा करें।' हमने नहीं कहा कि माँ-बाप बेटे के पैर छूएँ। इसके पीछे कुछ एक ही कारण है कि श्रेष्ठतर प्रवाहित हो, कहीं निकृष्ट श्रेष्ठ के साथ संयुक्त हो कर उसे विकृत और अशुद्ध न कर दे।

फिर पति को मजा नहीं आयेगा वुद्धिमान होने का। मूर्ख पत्नी पसन्द की जाती है। फिर मूर्ख जो कर सकती है, करती है। वह सहा जा सकता है, लेकिन अहंकार को रस आता है।

हम सव ऐसी कोशिश करते हैं कि अपने से छोटे तल के लोग हमारे आस-पास इकठ्ठे हो जायें। उसमें हमें रस आता है, मजा आता है। क्या मजा है उनके वीच ?

वह जो अकवर के सामने वीरवल ने किया था—एक वड़ी लकीर खींच दी थी छोटी लकीर के सामने। अकवर ने कहा था—इस लकीर को विना छुए छोटा कर दो, तो वीरवल ने एक वड़ी लकीर नीचे खींच दी थी। दरवार में कोई भी उसे छोटा न कर सका था। सभी ने कहा था कि विना छुये कैसे छोटी करें ? जव छोटा करना है, तो छूना पड़ेगा। वीरवल ने कहा कि छूने की कोई जरूरत नहीं। उसने वड़ी लकीर खींच दी।

हम सव होशियार हैं उतने, जितना वीरवल था।

अपने को वुद्धिमान कैसे कर लूं ? सीधा रास्ता है। अपने से छोटी लकीरें अपने आस-पास इकट्ठी कर लो, तो आप वड़ी लकीर हो गये !

महावीर कहते हैं, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना। क्योंकि वह संसर्ग महँगा है। आपकी लकीर वड़ी भला दिखाई पड़े, लेकिन वे जो छोटी लकीरें इकट्ठा हो गई हैं, वे धीरे-धीरे आपकी लकीर को छोटा करती जायेंगी। जिनके साथ आप रहते हैं, धीरे-धीरे आप उन जैसे होने लगते हैं। साथ संक्रामक है। जिनके साथ आप रहते हैं, धीरे-धीरे वे आपको वदलने लगते हैं। उनसे वचना मुश्किल है। इतना मुश्किल है वचना कि साथ जिनके रहते हैं, उनसे तो वचना मुश्किल है ही, जिनके आप दुश्मन हो जाते हैं, उन तक से वचना मुश्किल हो जाता है, क्योंकि उनका भी संग-साथ हो जाता है।

मुहम्मद अली जिन्ना गवर्नर-जनरल हुये। उन्होंने, जैसा गवर्नर-जनरल को करना चाहिए, एक अंग्रेज ए०डी०सी० रखा। उस अंग्रेज ए०डी०सी० ने जिन्ना को वहुत समझाया कि आपकी सुरक्षा का ठीक इन्तजाम होना चाहिये और आपके वँगले के चारों तरफ वड़ी दीवार होनी चाहिये। जिन्ना ने कहा कि

उनको मूर्ख कहना उचित नहीं है। मूर्ख वे हैं, जो बहुत कुछ जानते हैं बिना कुछ जाने; उनसे बचना।

एक आदमी आपको बता रहा है कि ईश्वर है, और उसे खुद को कोई पता नहीं। उससे पहले पूछना कि तुम्हें पता है! उसे कुछ पता नहीं है। वह आपको बता रहा है। एक आदमी बता रहा है कि ईश्वर नहीं है। उससे पूछा कि तूने पूरी-पूरी खोज कर ली है?

एक ईसाई पादरी मुझसे मिलने आये थे। उन्होंने कहा कि 'गॉड इज इनडिफाइनेबल', ईश्वर अपरिमाप्य है—अनन्त, असीम। उसकी कोई थाह नहीं ले सकता। मैंने उनसे पूछा कि तुम थाह लेकर कह रहे हो कि बिना थाह लिये कह रहे हो। वे जरा मुश्किल में पड़ गये। मैंने कहा कि अगर तुमने पूरी थाह ले ली है और तब तुम कह रहे हो कि अथाह है, तो तुम्हारा वचन बिलकुल गलत है; क्योंकि थाह तो तुम ले चुके। अगर तुम कहते हो कि मैं पूरी थाह नहीं ले पाया, तो तुम इतना ही कहो कि मैं पूरी थाह नहीं ले पाया। पता नहीं एक कदम आगे थाह हो! तुम अथाह कैसे कह रहे हो? और तुम कहते हो कि 'ईश्वर की कोई परिभाषा नहीं हो सकती'—यह परिभाषा हो गई। तुमने परिभाषा कर दी। तुमने ईश्वर का एक गुण बता दिया कि उसकी कोई परिभाषा नहीं हो सकती। यह तुम क्या कह रहे हो? वो उन्होंने फौरन कहा कि बाइबल में ऐसा लिखा है। मैंने कहा बाइबल में लिखा होगा, तुम्हें पता है?

यहीं सारी बात अटकती है। दुनिया ज्ञानी मूर्खों, 'लर्नेड इडियट्स' से भरी है। पढ़े-लिखे गँवारों का कोई अन्त ही नहीं है, उनसे दुनिया भरी है। और ध्यान रखना! गैर पढ़े-लिखे गँवार तो अपने-आप कम होते जा रहे हैं; क्योंकि सब शिक्षित होते जा रहे हैं। अब गैर पढ़े-लिखे गँवार खोजना जरा मुश्किल मामला है। अब तो पढ़े-लिखे गँवार ही मिलेंगे, और एक खोजो तो हजार मिलेंगे।

महावीर कहते हैं, 'मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना।'

जिनको कुछ पता नहीं है, और जिनको यह वहम है कि पता है, वह तुम्हें नुकसान पहुँचा सकते हैं।

गये। गम्भीर अर्थ का तो कोई सवाल ही नहीं है। अब यह अर्थ ठीक है या गलत, इसको आप विचार करते हैं? शब्द के सम्बन्ध में ठीक और गलत का विचार करने से कोई हल होने वाला नहीं है। क्या कहा है, उसमें कितने और गम्भीर उतरा जा सकता है, कितने गहरे जाया जा सकता है—यह महत्वपूर्ण है।

महावीर जैसे व्यक्तियों की वाणी में एक पर्त नहीं होती, उसमें तो हजारों पर्त होती हैं। इसलिए हमने पाठ पर बहुत जोर दिया है। हम यह नहीं कहते कि पढ़ लेना और किताब रख देना। हम कहते हैं कि फिर-फिर पढ़ना। फिर-फिर पढ़ने का क्या मतलब है? फिर-फिर पढ़ने का मतलब है—कल मैंने एक अर्थ देखा था, आज फिर से पढ़ूंगा, फिर खोजूंगा कि क्या और भी कोई अर्थ हो सकता है, और भी कोई गहरा अर्थ हो सकता है?

और महावीर जैसे लोगों की वाणी में जीवन भर अर्थ निकलते आएँगे। आप जितने गहरे होते जाएँगे, उतने गहरे अर्थ आपको मिलते जाएँगे। जिस दिन आपको अपने भीतर आखिरी गहराई मिलेगी, उस दिन महावीर का आखिरी अर्थ आपको पता चलेगा। इसलिए भाषा में अर्थ मत खोजना; अपने भीतर की गहराई में—एकाग्र ध्यान की गहराई में अर्थ को खोजना।

'चित्त में घृतिरूप अटल शान्ति और धैर्य रखना।'

जल्दी मत करना, क्योंकि यात्रा है लम्बी। इसमें ऐसा मत करना कि आज पढ़ लिया और बात खतम हो गई, कि आज सुन लिया और सब हो गया। यह यात्रा लम्बी है, अनन्त है यात्रा। तो बहुत धैर्य-पूर्वक गति करना। प्रतीक्षा रखना, शान्ति रखना।

'यही निःश्रेयस का मार्ग है।'

मोक्ष का मार्ग यही है। छोड़ना 'जो गलत है—' खोजना 'जो सही है।' और धैर्य रखना अनन्त—प्रतीक्षा रखना अनन्त। साधना करना, पर अत्यन्त धैर्य से, अत्यन्त शान्ति से।

यह मत सोचना कि अभी मिल जायेगा सब कुछ। अभी भी मिल सकता है, लेकिन अभी केवल उन्हें मिल सकता है, जो अनन्त तक प्रतीक्षा करने को तैयार हैं। उन्हें अभी, इसी क्षण मिल सकता है। क्योंकि उतने धैर्य की क्षमता

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
२० सितम्बर, १९७२

सत्रहवाँ प्रवचन

पहले कुछ प्रश्न।

एक मित्र ने पूछा है कि संकल्प और समर्पण के मार्गों को न मिलाया जाए, ताल-मेल न बिठाया जाए—ऐसा आपने कहा। लेकिन महावीर वाणी की चर्चा जिससे शुरू हुई उस नामोकार मन्त्र के सर्व सूत्र में समर्पण का स्थान है। और आप भी जिस भाँति ध्यान के प्रयोग करवाते हैं, उसमें संकल्प से शुरुआत होती है, और चौथे चरण में समर्पण में समाप्ति, तो इन दोनों में कोई ताल-मेल है या नहीं?

संकल्प और समर्पण में तो कोई ताल-मेल नहीं है। साधना की पद्धतियों में समर्पण की अपनी पूरी पद्धति है, और संकल्प की भी अपनी पूरी पद्धति है। लेकिन मनुष्य के भीतर ताल-मेल है। इसे थोड़ा समझना पड़े।

ऐसा मनुष्य खोजना मुश्किल है, जो पूरा संकल्पवान हो और ऐसा मनुष्य भी खोजना मुश्किल है, जो पूरे समर्पण की तैयारी में हो। मनुष्य तो दोनों का जोड़ है। 'एम्फैसिस' का फर्क हो सकता है। एक व्यक्ति में संकल्प ज्यादा और समर्पण कम, तथा एक व्यक्ति में समर्पण ज्यादा, और संकल्प कम हो सकता है। इसे हम ऐसा समझें।

जैसे मैंने कहा कि समर्पण स्त्रैण चित्त का लक्षण है—संकल्प पुरुष चित्त का। लेकिन मनसविद् कहते हैं कि कोई पुरुष पूरा पुरुष नहीं है और कोई स्त्री पूरी स्त्री नहीं है। आधुनिकतम खोजें कहती हैं कि हर मनुष्य के भीतर दोनों हैं। पुरुष के भीतर छिपी हुई स्त्री है, और स्त्री के भीतर छिपा हुआ पुरुष है। जो फर्क है, स्त्री और पुरुष में, वह प्रबलता का फर्क है, 'एम्फैसिस' का फर्क है। इसलिए पुरुष स्त्री में आकर्षित होता है, स्त्री पुरुष में आकर्षित होती है।

काल गुस्ताव-जुंग का जो महत्वपूर्ण दान इस सदी के विचार को है, उनकी अन्यतम खोजों में जो महत्वपूर्ण खोज है, वह यह है कि प्रत्येक पुरुष स्त्री को खोज रहा है, जो उसके भीतर ही छिपी है। और इसलिए यह खोज भी पूरी नहीं हो पाती।

कि मैं संकल्प से ही जीऊँगा, जो निर्णय करता है कि स्वयं ही श्रम से पूरा करूँगा—यह संकल्प से शुरूआत हो रही है। लेकिन जो निर्णय किया है, वह निर्णय कुछ भी हो सकता है। उस निर्णय के प्रति पूरा समर्पण करना पड़ेगा।

जो संकल्प से शुरुआत करता है, उसे समर्पण की जरूरत पड़ेगी। जो समर्पण से शुरुआत करता है, उसे संकल्प की जरूरत पड़ेगी। लेकिन वे गौण होंगे, छाया की तरह होंगे।

व्यक्ति तो दोनों का जोड़ है, स्त्री-पुरुष का। इसलिए जो महत्वपूर्ण है आपके भीतर, वही असली साधना पद्धति होगी। लेकिन दोनों साधना पद्धतियाँ अलग होंगी। दोनों के मार्ग, व्यवस्थाएँ, विधियाँ अलग होंगी।

मैं जिस साधना पद्धति का प्रयोग करवाता हूँ, वह संकल्प से शुरू होती है। लेकिन पद्धति वह समर्पण की है। और कोई भी समर्पण संकल्प से ही शुरू हो सकता है। लेकिन संकल्प सिर्फ शुरुआत का काम करता है और धीरे-धीरे समर्पण में विलीन हो जाता है।

पूछा जा सकता है कि जो लोग संकल्प की ही पद्धति पर जाने वाले हैं, उनका इस पद्धति में क्या होगा? संकल्प की पद्धति पर जानेवाले लोग कभी लाख में एकाध होते हैं, करोड़ों में एकाध होते हैं। क्योंकि संकल्प की पद्धति पर जाने का अर्थ होता है, अब किसी का कोई सहारा न लेना। संकल्प के मार्ग पर वस्तुतः गुरु की भी आवश्यकता नहीं है। शास्त्र की भी कोई आवश्यकता नहीं है, विधि की भी कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए कभी करोड़ में एक आदमी इस मार्ग पर चलता है। और यह आदमी भी संकल्प पर जा सकता है, क्योंकि अनेक-अनेक जीवन में उसने समर्पण के मार्ग पर इतना काम कर लिया है कि अब बिना गुरु के, बिना विधि के वह स्वयं ही आगे बढ़ सकता है।

इस सदी में कृष्णमूर्ति ने संकल्प के मार्ग की प्रबलता से बात की है। इसलिए वे गुरु को इन्कार करते हैं, शास्त्रों को इन्कार करते हैं, विधि को इन्कार करते हैं। कृष्णमूर्ति जो कहते हैं, बिलकुल ठीक कहते हैं। लेकिन जिन लोगों से कहते हैं, उनके बिलकुल काम का नहीं है। और इसलिए खतरनाक है।

कृष्णमूर्ति शायद ही किसी व्यक्ति को मार्ग दे सके हों। हाँ, बहुत लोग जो मार्ग पर थे, उन्हें वे विचलित जरूर कर सके हैं। यह होगा ही।

अगर करोड़ों में एक ही व्यक्ति संकल्प के मार्ग पर चल सकता है, तो

चुने गये थे। और अगर हम अच्छा भी किसी को बनाने की चेष्टा करें और यह उसकी मर्जी न रही हो या स्वेच्छा से न चुना गया हो, तो वह आज नहीं कल अच्छे बनाने वालों के भी विपरीत हो जायेगा।

उन्होंने इतनी चेष्टा की कृष्णमूर्ति को निर्मित करने में, कि यही चेष्टा कृष्णमूर्ति के मन में प्रतिक्रिया बन गई। गुरु उनको बोझ की तरह मालूम पड़े। बदलने की कोशिश प्रतिक्रिया बन गई। आज भी उसकी सूक्ष्म छाया उनके संस्कारों के ऊपर रह गयी है। वे आज भी उनके खिलाफ बोले जाते हैं।

जब कृष्णमूर्ति गुरु के खिलाफ बोलते हैं, तो आपको ख्याल में भी नहीं आता होगा कि वे लेडबीटर के खिलाफ बोल रहे हैं, एनिबीसेन्ट के खिलाफ बोल रहे हैं। बहुत देर हो गई उस बात को हुए। लेकिन जो बात उनके गुरुओं ने उनके साथ की, उनको बदलने की जो सतत् चेष्टा, अनुशासन देने की चेष्टा की, वह उनको गुलामी जैसी लगी, क्योंकि वह स्वेच्छा से नहीं चुनी गई। उसके खिलाफ उनका मन बना रहा। वे उसके खिलाफ कहते चले गये हैं।

कृष्णमूर्ति को सुनने वाला एक वर्ग है, और वह वर्ग चालीस साल से कहीं नहीं पहुँच रहा है। वह सिर्फ शब्दों में भटकता रहता है क्योंकि जो सुनने आता है, वह गुरु की तलाश में है और जो वह सुनता है, वह यह है कि गुरु की कोई जरूरत नहीं है। तो वह यह मान लेता है कि गुरु की कोई जरूरत नहीं है और फिर भी कृष्णमूर्ति को सुनने चला आता है वर्षों तक।

अगर गुरु की कोई जरूरत नहीं है, तो सुनने की भी जरूरत नहीं है। और यह बड़े मजे की बात है कि यह भी एक गुरु से सीखी हुई बात है कि 'गुरु की कोई जरूरत नहीं है।' यह भी खुद की बुद्धि से आई हुई बात नहीं है। यह भी एक गुरु की शिक्षा है कि गुरु की कोई भी जरूरत नहीं है। इसको भी जब कोई स्वीकार कर रहा है, तो उसने गुरु को स्वीकार कर लिया।

करोड़ों में कभी एकाध आदमी ऐसा जरूर होता है, जो बिना गुरु के चल सके। लेकिन वह भी अनन्त जन्मों की यात्रा के बाद होता है, चाहे उसे पता हो या न हो।

कल ही एक मित्र मलाया से मुझे मिलने आये। मलाया में एक महत्वपूर्ण घटना घटी है—'सुबुद' आन्दोलन। मोहम्मद सुबुद नाम के व्यक्ति पर अचानक, अनायास प्रभु की ऊर्जा का अवतरण हुआ है। लेकिन मुसलमान मानते हैं कि

यह भी अचानक नहीं है। पीछे कार्य-कारण की लम्बी श्रृंखला है।

तो हजारों जन्मों के बाद कभी कोई व्यक्ति इस हालत में भी आ जाता है कि स्वयं ही खोज ले। क्योंकि अब एक ही बिन्दु की बात रह जाती है। सब तैयारी पूरी होती है। जरा सा संकल्प और यात्रा शुरू हो जाती है। लेकिन यहाँ तक पहुँचने में भी न मालूम कितने समर्पण का हाथ है। जो व्यक्ति कभी-कभी अचानक समर्पण को उपलब्ध हो जाता है, उसके पीछे भी न मालूम कितने संकल्पों का हाथ है। जीवन गहरे में दोनों का जोड़ है। पद्धतियाँ अलग हैं; व्यक्ति अलग नहीं हैं।

आज एक व्यक्ति मेरे पास आता है, और कहता है कि सब समर्पण करता हूँ। लेकिन सब समर्पण करना कितना बड़ा संकल्प है, इसका आपको पता है? उससे बड़ा संकल्प क्या होगा? और जो इतना बड़ा संकल्प कर पाता है, तो इसका अर्थ हुआ कि उसने बहुत छोटे-छोटे संकल्प साधे हैं, तभी इस योग्य हुआ है कि इस परम संकल्प को भी करने की तैयारी कर पाया है।

पद्धतियों में कोई मेल नहीं है, लेकिन व्यक्ति तो एक है। 'एम्फैसिस' का फर्क हो सकता है। तो आपको जो खोजना है, वह पद्धतियों में नहीं खोजना है। आपको जो खोजना है, वह अपनी दशा खोजनी है कि मेरे लिए संकल्प ज्यादा उपयोगी है या समर्पण ज्यादा उपयोगी है। किसमें ज्यादा सहजता से लीन हो सकूँगा।

मगर यह भी थोड़ा कठिन है। क्योंकि हम अपने को धोखा देने में कुशल हैं, इसलिए यह कठिन है। पर अगर कोई व्यक्ति आत्म-निरीक्षण में लगे, तो वह शीघ्र ही खोज लेगा कि क्या उसका मार्ग है। अब जो व्यक्ति चालीस साल से कृष्णमूर्ति को सुनने बार-बार जा रहा है और फिर भी कहता है कि मुझे गुरु की जरूरत नहीं है, वह खुद को धोखा दे रहा है। वह शब्दों का खेल कर रहा है। चुक्ता बातें कृष्णमूर्ति की दोहरा रहा है और कहता है कि गुरु की मुझे कोई जरूरत नहीं है। गुरु की कोई जरूरत नहीं है, तो यह सीखने कृष्णमूर्ति के पास जाने का कोई प्रयोजन नहीं है। अपने पर एक पल खड़ा नहीं हो सकता। साफ है कि समर्पण इसका मार्ग होगा; मगर आत्म-वंचना कर रहा है।

एक आदमी कहता है कि मैं तो समर्पण में उत्सुक हूँ। एक मित्र ने मुझे आकर कहा कि मैंने मेहर बाबा को समर्पण कर दिया था, मगर अभी तक कुछ

बच रहती है, जिसका हम कोई उपयोग नहीं कर पाते, तो वह विपरीत चली जाती है। इसके पहले कि हमारी कोई शक्ति विपरीत जाए, उसे नियोजित कर लेना जरूरी है। नियोजित शक्तियाँ सृजनात्मक हैं, 'क्रिएटिव' हैं। अनियोजित शक्तियाँ घातक हैं, 'डिस्ट्रक्टिव' हैं, विध्वंसक हैं।

वह जो संकल्प कर रहा है, उसे भी समर्पण के कार्य में लगा देना चाहिए। हजार मौके आएँगे, जब संकल्प का उपयोग समर्पण के साथ हो सकता है।

जैसे किसी ने संकल्प किया कि मैं चौबीस घंटे खड़ा रहूँगा, तो अब इस संकल्प के प्रति पूरा समर्पण हो जाना चाहिए। अब चौबीस घण्टे में एक बार भी सवाल नहीं उठना चाहिए कि मैंने यह क्या किया, करना था कि नहीं करना था। अब पूरे समर्पित हो जाना चाहिए। अपने ही संकल्प के प्रति अपना पूरा समर्पण कर देना चाहिए।

एक आदमी ने संकल्प किया कि किसी के चरण पकड़ लिये, यही आसरा है, तो फिर अब बीच-बीच में सवाल नहीं उठाने चाहिए कि मैंने ठीक किया कि ठीक नहीं किया, कि यह मैं क्या कर रहा हूँ। अब सारे संकल्प को इसी समर्पण में डुबा देना चाहिए। ताकि मेरे भीतर कोई अनियोजित हिस्सा नहीं बचे। अगर अनियोजित हिस्सा बच जाये, तो मैं संदेह से घिरा रहूँगा और अपने को अपने ही हाथ से काटता रहूँगा। खुद की विपरीत जाती शक्ति व्यक्ति को दीन कर देती है। खुद की सारी शक्तियाँ सम्मिलित हो जाएँ, तो व्यक्ति को शक्तिशाली बना देती हैं।

तो जब मैंने कहा कि संकल्प और समर्पण के मार्गों का ताल-मेल मत करना, तो मेरा मतलब यह नहीं है कि आप अपने भीतर की शक्तियों का ताल-मेल मत करना। मेरा मतलब है कि जब संकल्प के मार्ग पर चलें, तो समर्पण के मार्ग की जो विधियाँ हैं, उनका उपयोग मत करना। पर आपके भीतर जो समर्पण की क्षमता है, उसका उपयोग जरूर करना। जब समर्पण के मार्ग पर चलें, तो संकल्प की जो विधियाँ हैं, वह फिर आपके लिए नहीं रही। लेकिन आपके भीतर संकल्प की जो क्षमता है, उसका पूरा उपयोग करना।

मैं सोचता हूँ मेरी बात आपको साफ हुई होगी।

जैसे कि एक आदमी एलोपैथिक दवाएँ लेता है और एक आदमी होम्योपैथिक दवाएँ लेता है, या एक आदमी नेचरोपैथिक का इलाज करता है। तो मेरे कहने का यह मतलब है कि 'पैथीज' को मिलाना मत। ऐसा मत करना

मनसविद् कहते हैं कि स्त्रियों की अधिक बीमारियाँ उस रस से पैदा होती है, क्योंकि उनको कोई और उपाय दिखाई नहीं पड़ता कि कैसे वह पति का आकर्षण कायम रखें। पहले तो उन्होंने सौन्दर्य से रख लिया, सजावट से रख लिया। थोड़े दिन में वह बासा हो जाता है; परिचित हो जाता है। तो अब पति का ध्यान किस तरह आकर्षित करना है! तो स्त्रियाँ बीमार रहना शुरू कर देती हैं। उनको भी पता नहीं है कि वह क्यों बीमार हैं। तो वह दवा भी लेंगी, लेकिन बीमारी में रस भी जारी रहेगा। और दवा भी जारी रहेगी और भीतर से उनका दवा के लिए सहयोग भी नहीं है।

वह ठीक होना नहीं चाहती। क्योंकि ठीक होते ही वह जो ध्यान पति दे रहा था, वह विलीन हो जाता है। जब पत्नी बीमार थी, पति खाट के पास आकर बैठता था, सिर पर हाथ भी रखता है। जब वह ठीक है, तब कोई हाथ नहीं रखता कोई ध्यान भी नहीं देता।

अगर दुनियाँ में बीमारी कम करनी है, तो बच्चों के साथ जब वे बीमार हों, बहुत ज्यादा प्रेम मत दिखाना। क्योंकि वह खतरनाक है। बीमारी और प्रेम का जुड़ना और भी खतरनाक है। बीमारी से ज्यादा और बड़ी बीमारी आप पैदा कर रहे हैं। बच्चे जब स्वस्थ हैं, तो उनके प्रति प्रेम प्रकट करना और ज्यादा ध्यान देना। जब बीमार हो, तब थोड़ी तटस्थता रखना। तब उतना प्रेम, उतना शोरगुल मत मचाना। लेकिन जब कोई बीमार होता है, तब हम एकदम वर्षा कर देते हैं। जब कोई ठीक होता है, तो हमें कोई मतलब नहीं।

हम भी सोचते हैं कि जब ठीक है, तो मतलब की बात क्या? लेकिन आपको पता नहीं कि आपका यह ध्यान बीमारी का भोजन है। इसलिए बच्चा जब भी चाहेगा कि कोई ध्यान देता है, वह कितना ही बड़ा हो जाये, तब वह बीमारी को निमन्त्रण दे रहा है। यह निमन्त्रण भीतरी होगा। दवा ऊपर से लेगा और भीतर से ठीक भी होना नहीं चाहेगा। तब उपद्रव हो जाएगा। फिर चाहे एलोपैथी लें, चाहे कोई अन्य पैथी लें। एक काम सब में जरूरी होगा कि अपना पूरा भाव ठीक होने का जोड़ दें।

चाहे संकल्प के मार्ग पर चलें, चाहे समर्पण के मार्ग पर, जो भी आप की ऊर्जा है, वह सारी की सारी उस मार्ग पर जोड़ दें। दो मार्गों को नहीं जोड़ना है, साधक को अपने भीतर दो ऊर्जाओं को जोड़ना है। यह दोनों ऊर्जाएँ जुड़-कर किसी भी मार्ग पर चली जाएँ, तो यात्रा अनन्त तक पहुँच जाएगी। भीतर की ऊर्जाएँ बँटी रहें और आदमी मार्गों को जोड़ने में लगा रहे, तो वह कभी

सब शब्द एक जैसे हैं। अगर बदलना हो, तो सत्य से शब्द को बदलना। लेकिन सत्य है आपके भीतर। सत्य, न मेरे शब्द में है, न गीता के शब्द में है, न महावीर के शब्द में है। इनके शब्द भी आपकी तरफ इशारा हैं। वह जो मील का पत्थर कह रहा है कि मंजिलें आगे हैं—तीर बना हुआ है। उस मील के पत्थर में कोई मंजिल नहीं है। वह सिर्फ इशारा है। और सब इशारे छोड़ देने पड़ते हैं, तो ही यात्रा होती है। मील के पत्थर को कोई छाती से लगाकर बैठा हो, तो हम उसे पागल कहेंगे। लेकिन गीता को कोई छाती से लगा कर बैठा हो, तो हम उसे धार्मिक आदमी कहते हैं।

गीता मील का पत्थर है, कृष्ण के द्वारा लगाया गया। और पत्थर इशारा है। मैं भी एक पत्थर लगा सकता हूँ, वह भी इशारा बनेगा। आप एक पत्थर छोड़ कर दूसरा पत्थर पकड़ लें, इससे कोई हल नहीं है। थोड़ी राहत तो मिल सकती है, जैसा कि अर्थी को मरघट पर लोग ले जाते हैं, तो रास्ते में अर्थी को एक कन्धे से दूसरे कन्धे पर रख लेते हैं। थोड़ी देर राहत मिलती है, क्योंकि एक कन्धा थक जाता है, तो दूसरे पर रख लेते हैं। अगर कृष्ण से आप थक गये हैं, तो मुझे रख सकते हैं। लेकिन थोड़ी देर में मुझसे थक जाएँगे। जब कृष्ण से थक गये; तो मुझसे कितनी देर तक बचेंगे बिना थके। मुझसे भी थक जाएँगे, फिर कन्धा बदलना पड़ेगा। कन्धे बदलते-बदलते तो जन्मों बीत गये। कितने कन्धे आप बदल नहीं चुके!

कन्धे बदलने में कोई सार नहीं है।

इशारे का अर्थ इतना ही है कि जो कहा जाता है, वह केवल प्रतीक है और जो अनुभव किया जाता है, वही सत्य है। आपने प्रेम का अनुभव किया और कहा कि मैंने प्रेम जाना है, लेकिन जो सुन रहा है आपके शब्द, वह आपके शब्द सुनकर प्रेम नहीं जान लेगा।

मैंने कहा—'पानी मैंने पिया और प्यास बुझ गई', पर मेरे वचन को पकड़ कर आपकी प्यास नहीं बुझ जायेगी। पानी पीएँगे तो ही प्यास बुझेगी। पानी शब्द में पानी बिलकुल नहीं है। तो कितना ही पानी शब्द को पीते रहें, प्यास नहीं बुझेगी। हाँ, यह धोखा हो सकता है कि आदमी अपने को समझा ले कि इतना तो पानी पी रहे हैं—पानी, पानी, पानी—सुबह से साँझ तक दोहरा रहे हैं···कहाँ की प्यास? यह भी हो सकता है कि पानी शब्द में इतनी तल्लीनता बढ़ा लें कि प्यास का पता न चले। लेकिन प्यास बुझेगी नहीं।

रहा है, तब तक तुम भ्रांति में हो। जिस दिन तुम्हें भीतर दिखाई पड़ेगा, उस दिन।

तो कहीं मिल जाये बुद्ध, तो तुम खात्मा कर देना। और मैं तुमसे कहता हूँ, रिझाई ने कहा—मेरे वचन को याद रखना और खत्म करते वक्त बुद्ध से भी कह देना कि रिझाई ने ऐसा कहा है कि बुद्ध भी इसको पसन्द करेंगे।

रिंझाई बड़े अधिकार से कह रहा है, क्योंकि रिंझाई ठीक वहीं खड़ा है, जहाँ बुद्ध खड़े हैं। कोई फर्क नहीं है।

रिंझाई अपने शिष्यों से कहता था, कि अगर तुम्हारे मुँह में बुद्ध का नाम आ जाए, तो कुल्ला कर लेना। सफा कर लेना मुँह। शिष्य घबड़ा जाते थे, वे कहते थे—आपसे ऐसी बातें सुन कर मन बड़ा बेचैन है, यह आप क्या कहते हैं? रिंझाई कहता—जब तक तुम्हें लगता है कि बुद्ध के 'नाम स्मरण' से कुछ हो जायेगा, तब तक भीतर के बुद्ध की तुम खोज कैसे करोगे? और जब बुद्ध ही बुद्ध का नाम ले रहा है, तो इससे ज्यादा बुद्धूपन और क्या है?

नहीं, बुद्ध हों, कृष्ण हों, महावीर हों, उनके इशारे पर हम पागल हैं, हम इशारे पकड़ लेते हैं। और जिस तरफ इशारा है, वह जो भीतर छिपा है, उसकी कोई फिक्र नहीं करते।

कोई भय नहीं है; और जब पता ही चल गया कि तिनके को ही पकड़े हु हैं, तो छोड़ने में डर क्या है? तिनके को पकड़े भी रहो, तो भी डूबोगे। शायद अकेले बच भी जाओ, क्योंकि आदमी को कोई भी सहारा न हो, तो तैर भी सके। और अगर सोच रहा है कि तिनका सहारा है, तब तो पक्का डूबेगा। कोई तिनका तो बचा नहीं सकता। लेकिन तिनके की वजह से तैरेगा भी नहीं।

छोड़ो! जब पता चल गया कि तिनका है, तो अब पकड़ने में कोई सार नहीं है। जब तक नाव मालूम होती थी, तब तक पकड़ने में कोई सार था। बेसहारा होना एक लिहाज से अच्छा है। झूठे सहारे किसी काम के नहीं हैं।

लेकिन बहुत मजे की बात है, कि जो आदमी परमरूप से बेसहारा हो जाता है, उसे परम सहारा मिल जाता है। वह तो भीतर ही छिपा है, आपको जिसके सहारे की जरूरत है। तिनके की कोई जरूरत नहीं है; जो भीतर छिपा है, वही सहारा है। शब्द को छोड़ो, शास्त्र को छोड़ो, इसलिए नहीं कि शास्त्र कोई बुरी बात है, बल्कि इसलिए कि उसको पकड़ कर कहीं ऐसा न हो कि

इसे हम थोड़ा समझें।

अगर मैं किसी पर क्रोध करता हूँ, तो पता नहीं उसे दुख पहुँचता है या नहीं, लेकिन क्रोध करने से मुझे दुख मिलता है, यह पक्का है। अगर मैं महावीर को गाली दूँ, तो महावीर को कोई दुख नहीं पहुँचता, लेकिन गाली देने में मैं तो पीड़ित होता ही हूँ, क्योंकि गाली शान्ति से नहीं दी जा सकती—उवलना और जलना जरूरी है, रातें खराव करना जरूरी है, वेचैन होना जरूरी है, क्योंकि तभी वह जलन और वेचैनी ही तो गाली वनेगी। जो मेरे भीतर पीड़ा होगी वह जव इतनी भारी हो जायेगी कि उसे सम्हालना मुश्किल हो जायेगा, तभी तो मैं किसी को चोट पहुँचाऊँगा।

ध्यान रहे, जव मैं किसी को चोट पहुँचाता हूँ, तो खुद को चोट पहुँचाये विना नहीं पहुँचा सकता। असल में मैं जव किसी को चोट पहुँचाता हूँ, उससे पहले ही अपने को चोट पहुँचा देता हूँ। मेरा भीतर घाव न हो, तो मैं दूसरे को घाव करने जा नहीं सकता। घाव ही घाव करवाता है।

कभी सोचें कि आप विलकुल शान्त, आनन्दित और अचानक किसी को गाली देने लगें, तो आपको खुद हँसी आ जायेगी कि 'यह क्या हो रहा है' और दूसरे को भी गाली मजाक मालूम पड़ेगी, गाली नहीं मालूम पड़ेगी।

गाली की तैयारी चाहिये, इसकी वड़ी साधना है। पहले साधना पड़ता है, पहले मन ही मन उसमें काफी पागलपन पैदा करना पड़ता है, पहले मन ही मन सारी योजना वनानी पड़ती है और जव आप इतने तैयार हो जाते हैं भीतर कि अव विस्फोट हो सकता है, तभी। कोई वम ऐसे ही नहीं फूटता, भीतर वारूद चाहिये। असल में वम फूटता ही इसलिए है कि भीतर विक्षिप्त वारूद मौजूद है। और जव आप फूटते हैं, तो भीतर वारूद आपको निर्मित करनी पड़ती है।

जव एक आदमी किसी पर क्रोध करता है, तो वह अपने को दुख देता है, पीड़ा देता है; वह अपना शत्रु है। वुद्ध ने भी ठीक यही वात कही है कि वड़े पागल हैं लोग—'दूसरों की भूलों के लिए अपने को सजा देते हैं।' आपने गाली दी मुझे यह भूल आपकी रही और मैं अपने को सजा देता हूँ क्रोधित होकर। क्रोधित होकर मैं आपको सजा दे सकता हूँ, यह कोई जरूरी नहीं है, पर इस भाँति मैं अपने को अवश्य सजा दे लेता हूँ। गलती थी आपकी और चोट मैं अपने को पहुँचाता हूँ। तव मैं अपना ही शत्रु हूँ। अगर हम अपना ही जीवन खोजें, तो हमें पता लगेगा कि हम चौवीस घण्टे अपने से शत्रुता करते हैं।

कि कुछ सार नहीं है। लेकिन दो चार दिन बाद फिर फेंके बिना कोई रास्ता मालूम नहीं पड़ता।]

क्या कर रहे हैं हम जिन्दगी के साथ ?

महावीर कहते हैं कि हम शत्रु हैं। भोग से भी हम शत्रुता कर रहे हैं, क्योंकि भोग से कभी आनन्द पाया नहीं है। एक बात को समझ लें कि जिस मार्ग से दुख ही मिलता है, उस मार्ग का अर्थ है कि हम अपने साथ शत्रुता कर रहे हैं। जहां से आनन्द कभी मिलता ही न हो, वहाँ से मित्रता का क्या अर्थ ? जिन्दगी में आपने दुख ही पाया है। सारी जिन्दगी दुख से ही भरी हुई है। इस दुख से भरी जिन्दगी का अर्थ क्या है ? कि हम जिन रास्तों पर भी चल रहे हैं, जो भी कर रहे हैं जीवन में, वह सब अपने साथ शत्रुता है। लेकिन हम अपने को बचा लेते हैं। हम कहते हैं कि दूसरे शत्रु हैं, इसलिए तकलीफ पा रहे हैं। यह बचाव है, यह पलायन है, होशियारी है आदमी की, कि वह कहता है कि 'दूसरों की वजह से।' इस तरह वह टाल लेता है, असली कारण को छिपा लेता है और दुख भोगता चला जाता है।

अगर मैं यह जानता हूँ कि दूसरे मेरे शत्रु हैं, इसलिए मैं दुख पा रहा हूँ तो फिर मुझे दुख से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं है—किसी जगत् में, किसी व्यवस्था में मुझे रहना हो, मैं दुखी रहूँगा। क्योंकि मैंने मौलिक कारण ही छोड़ दिया और एक झूठे कारण पर अपनी नजर बाँध ली। लेकिन एक और भी शत्रुता है। जो इस तरह के शत्रु कभी-कभी इससे ऊब जाते हैं, तो करते हैं।

'आदमी भोग में भी अपने को सताता है', यह सुनकर आपको हैरानी होगी। पहले भोग में आदमी अपने को सताता है, फिर जब इससे ऊब जाता है, तो फिर त्याग में अपने को सताता है। पहले खूब खा-खा कर अपने को सताया, फिर उससे ऊब गया, परेशान हो गया, तो फिर उपवास कर-कर के अपने को सताना शुरू कर देता है। लेकिन सताना जारी रखता है। पहले क्रोध कर-कर के अपने को सताया—दूसरे पर क्रोध कर-कर के, फिर अपने पर क्रोध करना शुरू कर देता है। फिर अपने को सताता है।

तो, जिनको हम त्यागी कहते हैं, अक्सर वे शीर्षासन करते हैं। भोगी और उनमें कोई अन्तर नहीं होता। सिर्फ खोपड़ी वे नीचे कर लेते हैं। और पैर ऊपर कर लेते हैं। त्यागी भी आप ही जैसे लोग हैं, लेकिन खड़े होने का ढंग इन्होंने उल्टा चुना है। पहले एक आदमी स्त्रियों के पीछे दौड़-दौड़ कर अपने

तो, जब कल इतना दूर हो जाता है, तो पिछला जन्म तो बहुत दूर है; हुआ कि न हुआ बराबर है। बड़े मजे से कह सकते हैं कि पिछले जन्म में पापी थे, पाप किये इसलिए दुख भोग रहे हैं।

अभी-अभी बिलकुल ठीक हूँ, फिर भी दुख भोग रहा हूँ, वह दूसरों के कारण, दूसरे जन्मों के कारण—इस भाषा में जो व्यक्ति सोच रहा है, वह महावीर के सूत्र को नहीं समझा है अभी। महावीर कहते हैं, अगर दुख भोग रहे हो, तो तुम अभी अपने शत्रु हो। उसी शत्रुता के कारण तुम दुख भोग रहे हो।

कल एक मित्र आये थे। वे जैन संन्यासी-साधुओं की तरफ से खबर लाये थे—कुछ साधुओं की तरफ से कि वे वहाँ से छूटना चाहते हैं—उस जंजाल से। मैंने कहा—जंजाल से वे छूटना चाहते हैं, लेकिन उनके पास हिम्मत तो है नहीं छूटने की, क्योंकि जब संन्यास लिया था, तो बड़ा स्वागत समारोह हुआ था। और जब छोड़ेंगे, तो बड़ा अपमान होगा, निन्दा होगी। लोग कहेंगे कि पतन हो गया।

तो उन्होंने कहा—लेकिन वे बड़ा दुख पा रहे हैं। उन्होंने आपके पास खबर भेजी है कि अगर आप कोई उनका इन्तजाम करवा दें, तो वे वहाँ से निकल आएँ।

मैंने पूछा—क्या इन्तजाम चाहते हैं? इन्तजाम के लिए ही वहाँ भी गये थे। अगर साधुता के लिए गये होते, तो वहाँ भी साधुता खिल जाती, इन्तजाम के लिए वहाँ भी गये थे और इन्तजाम साधुता बन गया।

संन्यासी का संसारी से ज्यादा अच्छा इन्तजाम है, बस कुछ शर्तें उसे पूरी करनी पड़ती हैं। शर्तें तो संसारी को पूरी करनी पड़ती है, लेकिन उसका इन्तजाम बढ़िया नहीं है। संसारी में तो हजारों तरह की योग्यताएँ होनी चाहियें, तब थोड़ा बहुत इन्तजाम वह कर पाता है, पर साधु के लिए एक ही योग्यता काफी है कि वह संसार छोड़ दे, बाकी सब तरह की अयोग्यता चलेगी।

मुझे साधु मिलते हैं, वे कहते हैं, कि 'आपकी बात ठीक लगती है और हम इस उपद्रव को छोड़ना चाहते हैं, लेकिन अभी जो हमारे पैर छूते हैं, कल वे हमें चपरासी की नौकरी देने को भी तैयार न होंगे।' और वे ठीक कहते हैं, ईमानदारी की बात है। देखिए अपने साधुओं की तरफ! अगर कल वे साधारण कपड़े पहन कर आपके द्वार पर आ जाएँ और कहें कि कोई काम

है ! सुख का मतलब ही दूसरे से जुड़ा हुआ है। तब एक बड़ी मजेदार दुनिया बनती है। जिस दुनिया में कोई आदमी अपने को सुख नहीं दे पा रहा है, उस दुनिया में सब एक दूसरे को सुख दे रहे है। 'पत्नी' पति को सुख दे रही है, 'पति' पत्नी को सुख दे रहा है। न पति अपने को सुख दे पा रहा है, *न पत्नी अपने को सुख दे पा रही है। और जो आपके पास है ही नहीं, वह* आप कैसे दूसरे को दे रहे हैं !

बड़ा मजा है। जो है ही नहीं, उसे आप दूसरे को दे रहे हैं ! आप सोचते हैं 'दे रहे हैं' और दूसरे तक पहुँचता ही नहीं। पत्नी कहे चली जाती है कि तुम मुझे सुख नहीं दे रहे हो, पति कहे चला जाता है कि तुम मुझे सुख नहीं दे रही हो—मैं तुझे सुख दे रहा हूं, तुम मुझे सुख नहीं दे रही हो। हम सब एक दूसरे से कह रहे हैं कि हम सुख दे रहे हैं और तुम सुख नहीं दे रहे हो। सारी शिकायत यही है जिन्दगी की। सारा शिकवा यही तो है कि कोई सुख नहीं दे रहा और हम इतना बाँट रहे हैं।

मजा यह है कि आप अपने तक को दे नहीं पाते और दूसरों को बाँट रहे है ! थोड़ा अपने को दें और ध्यान रहे, जो अपने को दे सकता है, उसे दूसरों को देना नहीं पड़ता। उसके आसपास की हवा में दूसरे सुखी हो सकते हैं। हो सकते हैं, हो नहीं जाते। वह भी उनकी मर्जी है। महावीर के पास खड़े होकर भी वह दुखी ही होंगे। लोग इतने कुशल हैं दुख पाने में कि कहीं से भी दुख खोज लेंगे। उनको मोक्ष में भी भेज दो, तो घड़ी दो घड़ी में वे सब पता लगा लेंगे कि क्या-क्या दुख हैं। मोक्ष भी उनसे बच नहीं सकता। ये जो महावीर वगैरह कहते हैं कि मोक्ष में आनन्द ही आनन्द है, इनको पता नहीं आदमियों का। असली आदमी पहुँच जाए, तब पता चलेगा कि वहाँ दुख ही दुख है। वे बता देंगे कि इसमें क्या आनन्द है।

महावीर ने मोक्ष की बात कही है कि 'सिद्ध-शिला' पर शाश्वत आनन्द है। बर्ट्रेन्ड रसेल को यह सुन कर बहुत दुख हुआ। बर्ट्रेन्ड रसेल ने लिखा है कि 'शाश्वत ! सदा रहेगा ! फिर उससे कभी छुटकारा नहीं होगा ? फिर बस आनन्द ही आनन्द में रहना पड़ेगा ? फिर बदलाहट नहीं होगी ?' इससे मन बहुत घबड़ाता है।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने कहा है कि इससे तो नरक बेहतर है। कम से कम अदल-बदल तो कर सकते हैं। यह क्या सिद्ध-शिला पर बैठे हैं—न हिल सकते, न

यह एक मित्र हो जाये, जो भीतर छिपा है मेरे। एक से ही तालमेल बन जाये, इस एक से ही प्रेम हो जाये, यह एक ही मैं जीत लूं, तो महावीर कहते हैं 'सब जीत लिया।' इस एक को जीत लेने को महावीर कहते हैं सब जीत लिया। सारा संसार जीत लिया; मगर दुर्जेय है बहुत।

क्रोध, मान, मोह और लोभ—कठिन है इनको जीतना, लेकिन और भी कठिन है 'स्वयं को जीतना।'

क्या कठिनाई होगी स्वयं को जीतने की ?

स्वयं को जीतने की कठिनाई सूक्ष्म है, क्रोध को जीतने की कठिनाई स्थूल है। हम भी समझते हैं कि क्रोध को जीतना चाहिये। जो क्रोधी है, वह भी मानता है कि क्रोध को जीतना चाहिये। जो लोभी है, वह भी मानता है कि लोभ को जीतना चाहिये। क्योंकि लोभ से दुख मिलता है, इसलिए कोई भी जीतना चाहता है। क्रोध से दुख क्रोधी को भी मिलता है। वह भी मानता है कि गलती है मेरी, और महावीर ठीक कहते हैं।

महावीर ठीक कहते हैं, इसका कुल कारण इतना है कि वह क्रोध से दुख पाता है। क्रोध को जीतने में जो उसका रस है, वह दुख को जीतने में है। लोभ से भी दुख पाता है, इसलिए कहता है कि ठीक कहते हैं महावीर। लोभ में दुख है, इसलिए दुख जीतना चाहिये, लेकिन रस उसका दुख जीतने में है।

यह स्वयं को जीतना अति कठिन क्यों है ? महावीर कहते हैं 'दुर्जेय'। क्योंकि आपको ख्याल ही नहीं है कि आपने स्वयं से कभी दुख पाया है। यही सूक्ष्मता है। जिस-जिस से दुख पाया, उस-उस को हम जीतना चाहते हैं। न जीत पाते हों, कमजोरी है। लेकिन आपको यह ख्याल में ही नहीं है, स्मरण ही नहीं है कि आपने अपने से दुख पाया है। हालांकि सब दुख आपने अपने से पाया है।

स्वयं को जीतने का कोई सवाल ही नहीं होता, क्योंकि हम सोचते हैं स्वयं से तो हमने दुख पाया नहीं, दूसरों से दुख पाया है। दुश्मन को जीतना चाहिये, जो दुख देता हो उसका सफाया कर देना चाहिये।

अपने से हमने कभी दुख पाया नहीं, यद्यपि पाया सदा अपने से है। तो फिर तरकीब है हमारे मन की कि दुख पाते हैं अपने से, और आरोपित करते हैं दूसरों पर। दूसरे को शत्रु बना लेते हैं, ताकि खुद को शत्रु न बनना पड़े। दूसरे को मिटाने लग जाते हैं। यह सारी दृष्टि बदले, तो ही व्यक्ति धार्मिक

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
२१ सितम्बर, १९७२

अठारहवाँ प्रवचन

सूत्र के पहले थोड़े से प्रश्न।

एक मित्र ने पूछा है कि 'सद्‌गुरु की खोज हम अज्ञानी जन कर ही कैसे सकते हैं?'

यह थोड़ा जटिल सवाल है और समझने योग्य भी। निश्चय ही शिष्य सद्‌गुरु की खोज नहीं कर सकता। कोई उपाय नहीं है आपके पास जानने का कि कौन सद्‌गुरु है। बल्कि सम्भावना यह है कि जिन बातों से प्रभावित होकर आप सद्‌गुरु को खोजें, वे बातें ही गलत हों। आप जिन बातों से आन्दोलित होते हैं, आकर्षित होते हैं, सम्मोहित होते हैं, वे बातें आपके सम्बन्ध में बताती हैं—जिससे आप प्रभावित होते हैं, उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं बताती। यह भी हो सकता है, अक्सर होता है कि जो दावा करता हो कि 'मैं सद्‌गुरु हूँ' वह आपको प्रभावित कर लें; क्योंकि हम दावों से प्रभावित होते हैं, इसलिए और बड़ी कठिनाई निर्मित हो जाती है। जो सद्‌गुरु हैं, वह शायद ही दावा करे कि मैं सद्‌गुरु हूँ; और बिना दावे के हमारे पास कोई उपाय नहीं है पहचानने का।

हम चरित्र की सामान्य नैतिक धारणाओं से प्रभावित होते हैं, लेकिन सद्‌गुरु हमारी चरित्र की सामान्य धारणाओं के पार होता है। और अक्सर ऐसा होता है कि समाज की बँधी हुई धारणा जिसे नीति मानती है, सद्‌गुरु उसे तोड़ देता है। क्योंकि समाज मानकर चलता है अतीत को और सद्‌गुरु का अतीत से कोई सम्बन्ध नहीं होता, समाज मानकर चलता है सुविधाओं को और सद्‌गुरु का सुविधाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता, समाज मानता है औपचारिकताओं को, 'फॉरमेलिटीज़' को और सद्‌गुरु का औपचारिकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

तो, यह भी हो जाता है कि जो आपकी नैतिक मान्यताओं में ठीक बैठ जाता है, उसे आप सद्‌गुरु मान लेते हैं। पर सम्भावना बहुत कम है कि सद्‌गुरु

जब तक वह गृही है, तब तक तो वह संन्यासी भी नहीं है। हम तो राम का नाम भी लेते हैं, तो 'सीता-राम' कहते हैं; पहले सीता को रख लेते हैं। सीता के बिना राम बिलकुल अधूरे हैं, लेकिन महावीर या ऋषभ, या पार्श्वनाथ का पत्नियों से कोई लेना-देना नहीं है। उनकी पूर्णता पत्नियों से पूरी नहीं होती।

तो जिसने एक को सद्गुरु माना वह मुश्किल में पड़ेगा, क्योंकि उसकी धारणाएँ अब तय हो गई हैं। अब वह उन्हीं धारणाओं से तौलता चलेगा। न दुबारा राम होते हैं, न दुबारा महावीर और न क्राइस्ट ही। इसलिए जब भी कोई सद्गुरु होगा, तो आपकी धारणाएँ उसको न पहचानने देंगी। आपकी धारणाएँ होंगी किसी पुराने सद्गुरु के आधार पर और दुबारा कोई सद्गुरु दोहराता नहीं है इस जगत् में। हर बार जब भी कोई सद्गुरु होता है, नया होता है और आपकी धारणाओं की वजह से आप उसे नहीं देख पाते। यहूदियों को जीसस दिखाई नहीं पड़े। किसी यहूदी ग्रन्थ में जीसस का उल्लेख तक नहीं है—जीसस जैसा व्यक्ति पैदा हुआ हो यहूदी घर में! आज सारी दुनिया में जीसस को मानने वाले सर्वाधिक लोग हैं। आधी दुनिया जीसस को मानती है, लेकिन यहूदी किताबों में उनके नाम तक का भी उल्लेख नहीं है।

आप जानकर हैरान होंगे कि महावीर का हिन्दू-ग्रन्थों में कोई उल्लेख नहीं है! चकित करने वाली बात है, कारण साफ है कि जिन्होंने राम को, कृष्ण को गुरु माना है, वे महावीर को गुरु नहीं मान सकते। जिन्होंने मूसा को गुरु माना है, वे जीसस को गुरु नहीं मान सकते। कारण यह नहीं है कि जीसस और मूसा में कोई विरोध है। कारण सिर्फ इतना है कि धारणा जो बन जाती है, उसी धारणा से हम तौलने जाते हैं। वह धारणा ही बाधा बन जाती है।

कोई सद्गुरु की खोज नहीं कर सकता। घटना दूसरी ही घटती है, सद्गुरु आपकी खोज करता है।

मामला और जटिल है। फिर आपसे यह कहने का क्या अर्थ है कि सद्गुरु की खोज करें!

वैसा कहने का सिर्फ इतना ही अर्थ है कि सद्गुरु की जब आप खोज कर रहे हों, और अगर आपने धारणाएँ न बनाई हों, अगर आप निर्मल, शान्त, मौन-चित्त से खोज करते रहें, तो इस खोज में ही कोई सद्गुरु आपको चुन लेगा। आप तो नहीं खोज पायेंगे, लेकिन आपकी यह खोज आपको सद्गुरुओं के निकट ले जायेगी।

प्रतीक्षा कर रहे हैं?' थोड़ी देर के बाद एक स्त्री आई और बुद्ध ने बोलना शुरू कर दिया। गाँव के लोगों ने बाद में बुद्ध से पूछा कि हम कुछ समझे नहीं! इस स्त्री को हमने कभी धार्मिक जाना नहीं। इसके लिए आप रुके थे? बुद्ध ने कहा—इसी के लिए मैं गाँव में आया हूँ। जब मैं इस गाँव में आ रहा था, तब ये मुझे रास्ते पर मिली थी। और इसने मुझे कहा था कि रुकना! मैं पति को भोजन देने जा रही हूँ। कोशिश करूँगी जल्दी पहुँचने की।

गाँव के लोगों को ख्याल नहीं आ सकता कि बुद्ध किसी का चुनाव कर रहे हैं! कोई चुना जा रहा है। किसी को कोई बात कही जा रही है। वे किसी खास व्यक्ति के लिए आये होंगे गाँव में—यह तो ख्याल में भी नहीं आता। यह बताना उचित भी नहीं है। इससे कोई बहुत हित भी नहीं होता।

गुरु ही चुनता है आपको। फिर आप क्या करें? क्या आप बिलकुल असहाय हैं?

नहीं आप कुछ कर सकते हैं। गुरु चुने, तो आप बाधा डाल सकते हैं। बिलकुल असहाय नहीं हैं आप। गुरु लाख उपाय करे, आप बाधा डाल सकते हैं। गुरु कुछ भी आपके बिना सहारे के नहीं कर सकेगा। आपका सहारा तो चाहिए ही। अगर आप ही पीठ फेर कर खड़े हो गये हों, तो कोई उपाय नहीं है। शिष्य की तरफ से इतना ही होना चाहिए कि वह खुला हो। कोई उसे चुनने आये, तो वह बाधा न डाले। ऐसे में डर लगेगा कि कहीं कोई असद्गुरु हमें न चुन ले। यहाँ बात जरा और बारीक है। जिस तरह मैंने कहा कि शिष्य का अहंकार होता है; इसलिए उसे ऐसा भास होना चाहिए कि मैंने चुना। उसी तरह असद्गुरु का भी अहंकार होता है; उसे इसी में मजा आता है कि शिष्य ने उसे चुना।

इसे थोड़ा समझ लें।

असद्गुरु को तभी मजा आता है, जब आपने उसे चुना हो। असद्गुरु आपको नहीं चुनता। उसका तो रस ही यह है कि आपने उसे माना, आपने उसे चुना। इसलिए आप चुनने की बहुत फिक्र न करें, खुलेपन की फिक्र करें। सम्पर्क में आते रहें, लेकिन बाधा न डालें, खुले रहें।

इजिप्शियन साधक कहते हैं—'व्हेन द डिसाइपल इज रेडी, द मास्टर अपीयर्स।' आपकी तैयारी का एक ही मतलब है कि जब आप पूरे खुले हैं, तब आपके द्वार पर वह आदमी आयेगा, जिसकी आपको जरूरत है। क्योंकि आपको

जब चुम्बक खींचता है लोहे के टुकड़े को, तो लोहे का टुकड़ा नहीं जानता है कि चुम्बक ने उसे खींचा। चुम्बक का उसे पता भी नहीं है। लोहे का टुकड़ा अपने मन में कहता होगा कि मैं जा रहा हूँ; चुम्बक खींचता है, यह लोहे के टुकड़े को पता भी नहीं चलता।

सद्गुरु एक चुम्बक है। आप खिंचे चले जायेंगे। आप अपने को खुला रखना। फिर यह भी जरूरी नहीं है कि सब सद्गुरु आपके काम के हों। असद्गुरु तो काम के हैं ही नहीं, सभी सद्गुरु भी काम के नहीं है, जिससे आप का ताल-मेल बैठ जाए। जिससे आपकी भीतरी रुझान ताल-मेल खा जाए, वही आपके काम का है।

जापान में झेन गुरु अपने शिष्यों को एक दूसरे के पास भी भेजते थे। यहाँ तक भी हो जाता है कि कभी एक सद्गुरु, जो सैद्धान्तिक रूप से दूसरे सद्गुरु के बिलकुल विपरीत है, विरोध में है, जो उसका खण्डन करता रहता है, वह भी अपने किसी शिष्य को उसके पास भेज देता है।

बोकोजू के गुरु ने बोकोजू को अपने विरोधी सद्गुरु के पास भेज दिया। बोकोजू ने कहा—'आप अपने शत्रु के पास मुझे भेज रहे हैं। अब तक तो मैं यही सोचता था कि वह आदमी गलत है।'

बोकोजू के गुरु ने कहा, 'हमारी पद्धतियाँ विपरीत हैं। कभी मैंने कहा नहीं कि वह गलत है। इतना ही कहा कि उसकी पद्धति गलत है। पद्धति उसकी भी गलत नहीं है। मेरी पद्धति समझने के लिए उसकी पद्धति को जब मैं गलत कहता हूँ, तो तुम्हें आसानी होती है। और मेरी पद्धति को जब वह गलत कहता है, तो उसके पास जो लोग बैठे हैं, उन्हें समझने में आसानी होती है,—'कन्ट्रास्ट' से, विरोध से आसानी हो जाती है। जब हम कहते हैं कि फलां चीज सही है और फलां चीज गलत है, तो काले और सफेद की तरह दोनों चीजें साफ हो जाती हैं। बोकोजू तू वहाँ जा, क्योंकि तेरे लिए वही गुरु है! मेरी पद्धति तेरे काम की नहीं। लेकिन किसी को बताना मत! जाहिर दुनिया में हम दुश्मन हैं और भीतरी दुनिया में हमारा भी एक सहयोग है।'

बोकोजू दुश्मन गुरु के पास जाकर दीक्षित हुआ और ज्ञान को उपलब्ध हुआ। जिस दिन वह ज्ञान को उपलब्ध हुआ, उसके गुरु ने कहा कि 'जाकर अपने पहले गुरु को धन्यवाद दे आ! क्योंकि उसने ही तुझे मार्ग दिखाया। मैं तो निमित्त हूँ, उसने ही तुझे भेजा है। असली गुरु तेरा वही है। अगर वह

एक बात ध्यान रखें कि परमात्मा के इस विराट आयोजन में कुछ भी व्यर्थ नहीं है। यहाँ जो आपको व्यर्थ दिखाई पड़ता है, वह भी सार्थक की ओर इशारा है। और यहाँ अगर असद्गुरु हैं, तो वे भी पृष्ठभूमि का काम करते हैं, जिनमें सद्गुरु चमक कर दिखाई पड़ जाता है; नहीं तो वह दिखाई नहीं पड़ेगा। जिन्दगी विरोध से निर्मित है। सत्य की खोज असत्य के मार्ग से भी होती है। सही की खोज भूल के द्वार से भी होती है। इसलिए भयभीत न हों, अभय रखें और खुले रहें। भय की वजह से आदमी वन्द हो जाता है। वह डरा ही रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि किसी गलत आदमी से जोड़ हो जाये। इस भय से वे वन्द ही रह जाता है। वन्द आदमी का गलत आदमी से तो जोड़ होता नहीं, सही आदमी से भी जोड़ नहीं होता। खुले आदमी का गलत आदमी से भी जोड़ होता है; लेकिन जो खुला है, वह खुले होने के कारण और गलत के अनुभव से, जल्दी ही सही के निकट होने लगता है। इतना स्मरण रखें कि सद्गुरु आपको चुन ही लेता है, वह सदा ही मौजूद है; शायद ठीक आपके पड़ोस में हो।

एक दिन हसन ने परमात्मा से प्रार्थना की कि दुनिया में सबसे बुरा आदमी कौन है—वड़े से वड़ा पापी? रात उसे स्वप्न में संदेश आया कि तेरा पड़ोसी इस समय दुनिया में सवसे वड़ा पापी है।

हसन वहुत हैरान हुआ क्योंकि पड़ोसी वहुत सीधा-सच्चा आदमी था, साधारण आदमी था। पापी होने की ऐसी कोई खवर भी नहीं थी, कोई अफवाह भी नहीं थी। हसन वड़ा चकित हुआ कि जगत् का सवसे वड़ा पापी पास में है। और मुझे अव तक उसका कोई पता नहीं है! उसने उस रात दूसरी प्रार्थना की कि 'एक प्रार्थना और मेरी पूरी करें—जगत् में सवसे वड़ा पुण्यात्मा, सवसे वड़ा ज्ञानी, सवसे वड़ा सन्त-पुरुष कौन है? एक को तो वता दिया, अव दूसरा भी वता दें।'

रात संदेश आया कि 'तेरा दूसरा पड़ोसी।'

हसन तो हैरान हो गया, क्योंकि वह भी एक साधारण आदमी था। वह एक चमार था, जो जूते वेचता था। वह पहले वाले आदमी से भी अधिक साधारण था। हसन ने तीसरी रात प्रार्थना की कि हे परमात्मा! तू मुझे और उलझन में डाल रहा है। हम ज्यादा सुलझे हुए थे, तेरे इन उत्तरों से हम और मुसीवत में पड़ गए! कैसे पता लगे—कौन अच्छा है, कौन वुरा है?

न निकलने देना। भोग का अर्थ है, उसे बाहर निकलने देना—किसी पर। फर्क समझ लें।

दमन का अर्थ है, अपने में दबा देना और भोग का अर्थ है, दूसरे पर निकाल लेना; पर जागृति तीसरी बात है। जागृति शून्य में निकाल लेना—न अपने में दबाना, न दूसरे पर निकालना—शून्य में निकाल लेना।

एक प्रयोग करें। जब क्रोध उठे तो द्वार बन्द कर लें। एक तकिया अपने सामने रख लें और तकिए पर पूरी तरह क्रोध निकालें। जो-जो करने का मन हो रहा हो—घूंसा मारना हो, मारें; पीटना हो तकिए को, पीटें; चीरना-फाड़ना हो, चीरें-फाड़ें; काटना हो, काटें—जो भी करना हो, पूरी तरह कर लें। और यह करते वक्त पूरा होश रखें कि मैं क्या कर रहा हूँ, मुझसे क्या-क्या हो रहा है।

यह करते वक्त पूरा होश रखें कि मेरे दांत काटना चाह रहे हैं और मैं काट रहा हूँ। मन कहेगा कि 'यह क्या बचकानी बात कर रहे हो, इसमें क्या सार है?' मन कहेगा कि असली आदमी को काटो तो सार है, असली आदमी को मारो तो सार है। लेकिन आपको पता है कि घूंसा चाहे आप तकिए को मारें और चाहे असली आदमी को, भीतर की जो प्रक्रिया है, वह बराबर एक सी ही रहती है। उसमें कोई फर्क नहीं है।

शरीर में क्रोध के जो अणु फैल जाते हैं खून में, वे तकिए पर मारने से भी उसी तरह निकल जाते हैं, जिस तरह असली आदमी को मारने से निकलते हैं। हाँ, असली आदमी को मारने से शृंखला शुरू होती है, क्योंकि अब उसका भी क्रोध जगेगा। अब वह भी आप पर अपना क्रोध निकालना चाहेगा। पर तकिया बड़ा ही सन्त है। वह आप पर कभी भी अपना क्रोध नहीं निकालेगा, वह पी जायेगा। अगर आप महावीर को मारने पहुँच जाते तो जिस तरह वे पी जाते, उसी तरह तकिया भी पी जायेगा। आपको दबाना भी नहीं पड़ेगा, रोकना भी नहीं पड़ेगा और किसी पर निकालने भी नहीं जाना पड़ेगा।

इसको ठीक से समझ लें, तो 'कैथासिस' की रेचन की प्रक्रिया समझ में आ जायेगी। और रेचन में ही जागरण आसान है। अगर आप सोचते हों कि 'हमसे नहीं निकलेगा' तो आप गलत सोचते हैं। मैं सैकड़ों लोगों पर प्रयोग करके कह रहा हूँ—आप ही जैसे लोगों पर। बहुत दिल खोल कर निकलता है। सच तो यह है कि दूसरे पर निकालने में थोड़ा दमन तो हो ही जाता है, पूरा नहीं निकल पाता। वह जो थोड़ा दमन हो जाता है, वह जहर की तरह

तो जिनको भी क्रोध का दमन करना हो, अगर वे जागृति का उपयोग कर रहे हों, तो उनको जागृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे सिर्फ क्रोध को दबाना चाह रहे हैं। जिन्हें क्रोध का विसर्जन करना हो, उन्हें क्रोध पर प्रयोग करना चाहिए, क्रोध पर ध्यान करना चाहिये। सारे जगत् में अकेले महावीर ने दो बुरे ध्यानों की बात की है, जिन्हें किसी और ने कभी ध्यान नहीं कहा। महावीर ने चार ध्यान कहे हैं। दो ध्यान जिनके ऊपर उठना है, और दो ध्यान जिनमें जाना है। दुनिया में ध्यान की बात करने वाले लाखों लोग हुए हैं, लेकिन महावीर ने जो बात कही, वह बिलकुल उनकी है। वह किसी ने भी नहीं कही।

महावीर ने कहा है कि दो ध्यान ऐसे जिनके ऊपर जाना है और दो ध्यान ऐसे हैं जिनमें जाना है। हम तो सोचते हैं कि ध्यान हमेशा अच्छा होता है, पर महावीर कहते हैं—दो बुरे ध्यान भी हैं। उनको महावीर कहते हैं 'आर्त्र-ध्यान' और 'रौद्र-ध्यान'। दो बुरे ध्यान और दो भले ध्यान हैं; भले ध्यान को महावीर कहते हैं—'धर्म-ध्यान' और 'शुक्ल-ध्यान'। चार ध्यान हैं। रौद्र-ध्यान का अर्थ है—क्रोध, आर्त्र-ध्यान का अर्थ है—दुख।

जब आप दुख में होते हैं, तो चित्त एकाग्र हो जाता है। आपका कोई अगर मर जाये, आपका प्रेमी मर जाये, तो उस वक्त आपका चित्त बिलकुल एकाग्र हो जाता है। जब वह जिन्दा था, तब उस पर चित्त कभी एकाग्र नहीं हुआ था। अब वह मर गया है, तो उस पर चित्त एकाग्र हो गया है। जब वह जिन्दा था, तभी इतना चित्त एकाग्र कर लिया होता, तो शायद उसे मरना भी न पड़ता इतनी जल्दी ! लेकिन जिन्दे व्यक्ति में कहीं कोई चित्त एकाग्र होता है ? मर जाये, तो इतना धक्का लगता है कि सारा चित्त एकाग्र हो जाता है।

दुख में आदमी चित्त एकाग्र कर लेता है। क्रोध में भी आदमी का चित्त एकाग्र हो जाता है। क्रोधी आदमी को देखें, क्रोधी आदमी बड़े ध्यानी होते हैं। क्रोधी को सारी दुनिया मिट जाती है, बस वही एक बिन्दु रह जाता है, जिस पर उसका क्रोध है; और सारी शक्ति उसी एक बिन्दु की तरफ दौड़ने लगती है, उसके क्रोध में एकाग्रता आ जाती है। महावीर ने कहा है, यह भी दोनों ध्यान हैं। बुरे ध्यान हैं, पर ध्यान हैं। अशुभ ध्यान हैं, पर ध्यान हैं। इनसे ऊपर उठना हो, तो इनको करके, इनमें जाकर ही ऊपर उठा जा सकता है।

जब दुख हो, तो द्वार बन्द कर लें। और दिल खोलकर रोएँ, छाती पीटें, जो

ध्यान रखें, किसी भी दवाई हुई चीज़ की मात्रा उतनी ही नहीं रहती, जितनी आप दवाते हैं। वह बढ़ती है, भीतर बढ़ती चली जाती है। जैसे आप पत्नी पर नाराज हो गये, पर आपने क्रोध दबा लिया। अब आप दफ्तर गये, चपरासी जरा सी भी बात कहेगा, जो कि कल बिलकुल चोट नहीं करती, पर आज वह चोट दे देगी। उसको भी दबा गये, तो आपने मात्रा और बढ़ा ली। अब आपका मालिक बुलाता है, और कुछ कहता है। कल आपको बिलकुल नहीं अखरी थी उसकी बात, पर आज उसकी आँख अखरती है, उसका ढंग अखरता है। वह आपके भीतर जो इकट्ठा है, वह 'कलर' दे रहा है, आपकी आँख को रंग दे रहा है। अब उस रंग में से सब उपद्रव दिखाई पड़ता है। यह आदमी दुश्मन मालूम पड़ता है। वह जो भी कहता है, उससे क्रोध और बढ़ता है। वह भी आपने इकट्ठा कर लिया। वह जो सुबह आप पत्नी से लेकर चले गये थे दफ्तर, साँझ जब आप लौटते हैं, तो जो बीज था वह वृक्ष हो गया। सुबह ही निकाल दिया होता, तो मात्रा कम होती। साँझ जब वह निकलेगा, तो मात्रा काफी होगी और यह अन्याय-युक्त होगा। सुबह तो हो सकता था कि वह न्यायपूर्ण भी होता, इसमें दूसरों पर जो क्रोध होता है, वह भी संयुक्त हो गया।

दबायें मत, उससे तो भोग लेना बेहतर है। इसलिए जो लोग भोग लेते हैं, वे सरल लोग होते हैं। बच्चों को देखें, उनकी सरलता यही है। क्रोध आया, क्रोध कर लिया; खुशी आई, खुशी कर ली; लेकिन खींचते नहीं। इसलिए जो बच्चा अभी नाराज हो रहा था—'दुनिया को मिटा देगा' जब ऐसा लग रहा था, अब, थोड़ी देर बाद वह गीत गुनगुना रहा है। निकाल ही दिया जो था, अब गीत गुनगुनाना ही बचा। आप न दुनिया को मिटाने लायक उछल-कूद करते हैं, और न कभी तितलियाँ जैसा उड़ सकते हैं, और न पक्षियों जैसा गीत गा सकते हैं।

आप अटके रहते हैं बीच में। धीरे-धीरे आप 'मिक्श्चर', एक खिचड़ी हो जाते हैं सब चीजों की। जिसमें से न कभी क्रोध निकलता शुद्ध, न कभी प्रेम निकलता शुद्ध। क्योंकि शुद्ध कुछ बचता ही नहीं, जब चीजें मिश्रित हो जाती हैं। और यह जो मिश्रित आदमी है, यह रुग्ण और बीमार आदमी है, 'पैथॉलॉजिकल' है। इसके प्रेम में भी क्रोध होता है। इसके क्रोध में भी प्रेम भर जाता है। यह अपने दुश्मन से भी प्रेम करने लगता है, अपने मित्र से भी घृणा करने लगता है। इसका सब एक दूसरे में घोल-मेल हो जाता है। इसमें कोई चीज साफ नहीं होती।

अँधेरे में दुख है ? अँधेरे की अपनी शान्ति है, अँधेरे का अपना मौन है, अँधेरे का अपना सौन्दर्य है—किसने कहा ?

लेकिन हम जीते हैं धारणाओं में। अँधेरे से हम डरते हैं, क्योंकि अँधेरे में पता नहीं कोई छुरा मार दे, जेब काट ले ! इसलिए बच्चे को हम अँधेरे से डराने लगते हैं। धीरे-धीरे बच्चे का मन निश्चित हो जाता है कि प्रकाश अच्छा है और अँधेरा बुरा है, क्योंकि प्रकाश में कम से कम दिखाई तो पड़ता है।

मैं एक प्रोफेसर के घर रुकता था। उनका लड़का नौ साल का हो गया। उन्होंने कहा कि कुछ समझायें इसको। इसको रात में भी पाखाना जाना हो (पुराने ढंग का मकान, बीच में आँगन, उस तरफ पाखाना), तो इसके साथ जाना पड़ता है। इतना बड़ा हो गया है, अब अकेला जाना चाहिये। रात में इसके पीछे कोई जाये और दरवाजे के बाहर खड़ा रहे, तो ही यह जा सकता है। तो मैंने उस लड़के से कहा अगर तुझे अँधेरे का डर है, तो लालटेन लेकर क्यों नहीं चला जाता। उस लड़के ने कहा—खूब कह रहे हैं आप ! अँधेरे में तो किसी तरह मैं भूत-प्रेत से बच जाता हूँ, लालटेन में तो वे मुझे देख ही लेंगे। अँधेरे में तो मैं ऐसा चकमा देकर इधर-उधर से निकल जाता हूँ।

धारणाएँ बचपन से निर्मित करते जाते हैं। कुछ भी—चाहे भूत-प्रेत की, चाहे प्रकाश की, चाहे अँधेरे की। फिर वे धारणाएँ हमारे मन में गहरी हो जाती हैं। फिर जब हम अध्यात्म की खोज में चलते हैं, तब भी उन्हीं धारणाओं को लेकर चलते हैं, उससे भूल होती है। परमात्मा को न तो अँधेरे से कोई विरोध है, न प्रकाश से कोई लगाव है। परमात्मा दोनों में एक सा मौजूद है। जिद्द मत करें कि हमें प्रकाश ही चाहिये। यह जिद्द बचकानी है।

यह जानकर आपको हैरानी होगी कि प्रकाश से ज्यादा शान्ति मिल सकती है अँधेरे में, क्योंकि प्रकाश में थोड़ी उत्तेजना है, पर अँधेरा बिलकुल ही उत्तेजना-शून्य है; और प्रकाश में तो थोड़ी चोट है, पर अँधेरा बिलकुल ही अहिंसक है, अँधेरा कोई चोट नहीं करता; और प्रकाश की तो सीमा है, पर अँधेरा असीम है; और प्रकाश को तो कमी करो, फिर बुझ जाता है, पर अँधेरा सदा है, शाश्वत है।

तो क्या घबड़ाहट अँधेरे से ? प्रकाश को जलाओ-बुझाओ, लेकिन अँधेरा न जलता, न बुझता। वह सदा है। दिखाई नहीं पड़ता तो थोड़ी देर प्रकाश जला देते हैं, फिर बुझा देते हैं। अँधेरा अपनी जगह ही था। आप भ्रम में

इस सूत्र के कारण बड़ी भ्रान्तियाँ भी हुई हैं। ऐसे सूत्र कुरान में मौजूद हैं। ऐसे सूत्र गीता में भी मौजूद हैं। और उन सबने दुनिया में बड़ा उपद्रव पैदा किया है। उनका अर्थ नहीं समझा जा सका। उनका अनर्थ किया गया है। इस तरह के सूत्रों की वजह से अनेक लोग सोचते हैं कि अगर धर्म पर कोई खतरा आ जाये (धर्म का मतलब—हिन्दू-धर्म पर, जैन-धर्म पर), तो अपनी जान दे दो। क्योंकि महावीर ने कहा है कि 'चाहे देह भले ही चली जाये, पर मैं अपना धर्म-शासन नहीं छोड़ सकता।'

तो अनेक शहीद हो गए नासमझी में। वे यह सोचते हैं कि जैन-धर्म छोड़ नहीं सकता, चाहे देह चली जाये। और मजा यह है कि जैन-धर्म कभी पकड़ा है ही नहीं, छोड़ने से डर रहे हैं! सिर्फ जैन घर में पैदा हुए; 'पकड़ा कब था, जो आपसे छूट जाएगा?' 'हिन्दू धर्म नहीं छोड़ सकते,' बस! जब छोड़ने का सवाल आता है, तभी पकड़ने का पता चलता है। और पकड़ने का कभी पता नहीं चला! मस्जिद में नहीं जा सकते, क्योंकि हम मन्दिर में जानेवाले हैं; लेकिन मन्दिर में गए कब? मन्दिर में जाने की कोई जरूरत नहीं, जब मस्जिद से झंझट हो, तब ही मन्दिर का ख्याल आता है।

इसलिए बड़ा मजा है। जब हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते हैं, तब ही पता चलता है कि हिन्दू कितने हिन्दू, मुस्लिम कितने मुस्लिम। तभी पता चलता है कि 'सच्चे धार्मिक कौन हैं?' वैसे कोई पता नहीं चलता।

मामला क्या है? जिस धर्म को आपने कभी पकड़ा ही नहीं, उसको छोड़ने का कहाँ सवाल उठता है?

जन्म से कोई धर्म नहीं मिलता, क्योंकि जन्म की प्रक्रिया से धर्म का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जन्म की प्रक्रिया है 'बायोलॉजिकल', जैविक। उसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। आपके बच्चे को मुसलमान के घर में बड़ा किया जाये, मुसलमान हो जायेगा; हिन्दू के घर में बड़ा किया जाये, हिन्दू हो जाएगा, ईसाई के घर में बड़ा किया जाये, ईसाई हो जाएगा। तो यह जो धर्म मिलता है, यह तो संस्कार है, शिक्षा है घर की। इसका जन्म से, खून से कोई लेना-देना नहीं है। ऐसा नहीं कि आपके बच्चे को, पहले दिन ही, जब वह पैदा हो और ईसाई के घर में उसे रख दिया जाये, तो तभी वह पता लगा ले कि मेरा खून हिन्दू का है। इस भूल में मत पड़ना।

लोग बड़ी भूलों में रहते हैं। माताएँ कहती हैं लड़के से कि 'मेरा खून'। और बच्चा पैदा हो, जैसे 'मैटरनिटी होम' में बच्चे पैदा होते हैं। बीस बच्चे

आखिरी दाँव लगाते ही घटना घट जाती है।

हम दाँव पर भी लगाते हैं, तो बड़ी छोटी-मोटी चीजें लगाते हैं। कोई कहता है कि आज उपवास करेंगे; 'क्या दाँव पर लगा रहे हैं ? इससे आपको लाभ ही होगा, 'दाँव पर क्या लगा रहे ?' क्योंकि गरीब आदमी तो उपवास वगैरह करते नहीं। जो ज्यादा खा जाते हैं—'ओव्हर फेड' वे उपवास करते हैं। तो आपको थोड़ा लाभ ही होगा, डॉक्टर कहेंगे—अच्छा ही हुआ, कर लिया। थोड़ा 'ब्लड प्रेशर' कम होगा, उम्र थोड़ी बढ़ जाएगी।

यह बड़े मजे की बात है कि जिन समाजों में ज्यादा भोजन उपलब्ध है, वे ही उपवास को धर्म मानते हैं। जैसे जैनी, वे उपवास को धर्म मानते हैं। इसका मतलब, वे 'ओव्हर फेड' लोग हैं। ज्यादा खाने को मिल गया है, इसलिए उपवास में धर्म दिखलाई पड़ रहा है। गरीब आदमी का धर्म देखा ? जिस दिन धर्म-दिन होता है, उस दिन वह मालपुवा बनाता है। गरीब आदमी का धर्म का दिन होता है, भोजन का उत्सव। अमीर आदमी के धर्म का दिन होता है, अनशन। यह दोनों ठीक हैं, बिलकुल लॉजिकल हैं। होना भी ऐसे ही चाहिए। होना भी यही चाहिए। क्योंकि साल भर तो मालपुवा गरीब आदमी खा नहीं सकता, धर्म के दिन ही खा सकता है। जो सालभर मालपुवा खाते हैं, वे धर्म के दिन क्या खाएँगे ! कोई उपाय नहीं, उपवास कर सकते हैं, कुछ नया कर लेते हैं।

लोग कहीं उपवास करके दांव पर लगाते हैं ? तुच्छ सी चीजें छोड़ते रहते हैं। कोई कहता है नमक छोड़ दिया, कोई कहता है घी छोड़ दिया। इनसे कुछ भी न होगा। यह दाँव, दाँव नहीं है, धोखा है। यह ऐसा है, जैसे कि एक करोड़पति जुआ खेल रहा हो और एक कौड़ी दाँव पर लगा दे। ऐसे जुए का कोई मजा ही नहीं आएगा। जुए का मजा ही तब है, जब करोड़पति सब दाँव पर लगा दे और एक क्षण को ऐसी जगह आ जाए कि अगर हारा तो भिखारी होता हूँ। उस क्षण में जुआ भी ध्यान बन जाता है। उस क्षण में सब विचार रुक जाते हैं।

आपको जानकर हैरानी होगी जुए का मजा ही यही है कि वह भी एक ध्यान है। जब पूरा दांव पर कोई लगता है, तो छाती की धड़कन रुक जाती है एक सेकंड को कि अब क्या होगा—इस पार या उस पार, नर्क या स्वर्ग, दोनों सामने होते हैं और आदमी बीच में हो जाता है,। सस्पेन्स हो जाता है, सारा चिन्तन बन्द हो जाता है, प्रतीक्षा भर रह जाती है कि अब क्या होता है ! सब कम्पन रुक जाता है, स्वांस रुक जाती है कि कहीं स्वांस के कारण

करनी पड़ती है। क्योंकि वे जो भक्तगण हैं चारों तरफ, वे दुश्मन की तरह लगे हैं। वे पता लगा रहे हैं कि क्या कर रहे हो, क्या नहीं कर रहे हो।

एक दिगम्बर जैन-मुनि एक गांव में ठहरे थे। दिगम्बर जैन-मुनि तो किसी चीज पर सो नहीं सकता। किसी वस्त्र पर, विस्तर पर, किसी चीज पर सो नहीं सकता। सर्द रात थी, तो क्या किया जाय? तो दरवाजा वन्द कर दिया जाता, ताकि थोड़ी-वहुत गर्मी हो जाये। और किस तरह के पागलपन चलते हैं! घास-फूस डाल दिया जाता है कमरे में। वह भी भक्तगण डालते हैं। क्योंकि अगर मुनि खुद कहें कि घास-फूस डाल दो, तो उसका मतलव हुआ कि तुम शरीर के पीछे पड़े हो, तुम्हें शरीर का मोह है। जव आदमी आत्मा ही है, तो फिर क्या सर्दी, क्या गर्मी! तो पुआल डाल देते हैं। लेकिन वह पुआल भी भक्त ही डालें। वह मुनि कह नहीं सकता कि तुम डाल दो। डाली है, इसलिए मजवूरी में उस पर सो जाता है।

मैं उस गाँव में था। मुझे पता चला कि रात में जिन भक्तों ने पुआल डाली थी, वे जाकर देख आते हैं कि पुआल ऊपर तो नहीं कर ली! (ऐसे दुष्ट भक्त भी मिल जाते हैं) तो, पुआल कहीं ऊपर तो नहीं कर ली? कर ली हो तो सव भ्रष्ट हो जाता है।

ऐसा लगता है कि पर-दुख का रस है; और पर-दुख का जिनको रस है, वह वैसे आदमी को आदर दे सकते हैं, जिनको स्व-दुख का रस हो। अगर इसको मनोविज्ञान की भाषा में कहें, तो दो तरह के लोग हैं दुनिया में—'सैडिस्ट और मैसोकिस्ट।' 'सैडिस्ट' वे लोग हैं, जो दूसरों को दुख देने में मजा लेते हैं और 'मैसोकिस्ट' वे लोग हैं, जो खुद को दुख देने में मजा लेते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि हिन्दुस्तान में इन दोनों के वड़े तालमेल हो गए हैं। 'मैसोकिस्ट' हो गए हैं 'गुरु' और सैडिस्ट हो गए हैं 'शिष्य।'

तो गुरु कितनी तकलीफ अपने हाथ से उठा रहा है, उसकी शिष्य चर्चा करते हैं कि 'क्या तुम्हारा गुरु है? हमारा गुरु काटों पर सोया हुआ है? जैसे कि यह कोई सर्कस है। यहां कौन कहां सोया हुआ है, इसका सव निर्णय होनेवाला है। कौन खा रहा है, कौन नहीं खा रहा है, जैसे इसका निर्णय होनेवाला है। कौन पानी पी रहा है, कौन नहीं पी रहा है, जैसे इसका निर्णय होनेवाला है। पर निर्णायक एक ही वात है कि शरीर को कौन कितनी वुरी तरह से हिंसा कर रहा है।

बराबर समुद्र की तरह दिखाई पड़ेगा। और महावीर के समय में तो छोटा-मोटा समुद्र था, अब तो बड़ा समुद्र दिखाई पड़ता है। महावीर के जमाने में भारत की आबादी भी दो करोड़ से ज्यादा नहीं थी। अब भारत दुनिया को मात किये दे रहा है आबादी में। अब तो ऐसा समझें कि जमीन हमने बचने ही नहीं दी। सब समुद्र ही समुद्र हुआ जा रहा है। सारी दुनिया की आबादी साढे तीन अरब हो गई है। इस सदी के पूरे होते-होते भारत की आबादी एक अरब होगी। आदमियों का सागर है। और आदमियों के सागर में आदमियों की वृत्तियों, इन्द्रियों, क्रोध, रोष, मान, अपमान, उन सबका भयंकर झंझावत है।

आदमी अकेला पैदा नहीं होता। वह अपने सारे पाप, अपने सारे रोष, अपनी सारी वृत्तियों के साथ पैदा होता है। और हर आदमी इस संसार सागर में तरंगे पैदा करता है। जैसे मैं एक सागर में एक पत्थर फेंक दूँ, तो वह एक जगह गिरता है, लेकिन उसकी लहरें पूरे सागर को छूती हैं। जब एक बच्चा इस जगत् में पैदा होता है, तो एक पत्थर और गिरा। उसकी लहरें सारे जगत् को छूती हैं। वह हिटलर बनेगा कि मुसोलिनी बनेगा कि क्या बनेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। उसकी लहरें सारे जगत् को कपायेंगी।

यह जो सागर है हमारा, इसको महर्षिजन पार कर जाते हैं। सांसारिक आदमी और धार्मिक आदमी में एक ही है फर्क। सांसारिक आदमी वह है, जो इस सागर में गोल-गोल चक्कर काटता रहता है। कभी आपने नाव देखी है? उसमें दो डान्ड लगाने पड़ते हैं। एक डान्ड बन्द कर दें, एक ही डान्ड चलायें, तब आपको पता चलेगा कि सांसारिक आदमी कैसा होता है। एक ही डान्ड चलायें, तो नाव गोल-गोल चक्कर खायेगी। जगह वही रहेगी, यात्रा बहुत होगी, पर पहुँचेंगे कहीं भी नहीं। लेकिन पसीना काफी झरेगा। लगेगा कि पहुँच रहे हैं और गोल-गोल चक्कर खायेंगे।

आपकी जिन्दगी गोल चक्कर तो नहीं है? एक 'व्हीशियस सर्कल' तो नहीं है? क्या कर रहे हैं आप? गोल-गोल घूम रहे हैं? कल जो किया था, वही आज भी कर रहे हैं, वही परसों भी किया था। वही पूरी जिन्दगी किया है, रोज-रोज। वही और जिन्दगियों में भी किया है। मालूम पड़ता है नाव की एक ही डान्ड चल रही है और आप गोल-गोल घूम रहे हैं।

धार्मिक आदमी गोल नहीं घूमता। वह एक सीधी रेखा में तट की तरफ यात्रा करता है। दोनों डान्ड हाथ में होनी चाहिए—दोनों पतवार। न

जो कल हो चुका; उससे सीखें और पार जायें, दुहरायें मत और जिन्दगी में जिन रास्तों से गुजर गये उन पर से बार-बार गुजरने का मोह छोड़ दें। कोई सार नहीं है। जहाँ से गुजर गये, वहाँ से गुजर ही जायें, उसको पकड़े मत रखें। कल किसी ने गाली दी थी, वह बात हो गई। उस रास्ते को छोड़ दें, आगे बढ़ें। लेकिन वह गाली अटकी हुई है। जिसके मन में कल की गाली अटकी हुई है, वह वहीं रुक गया। उसने गाली को मील का पत्थर बना लिया। जमीन में गाड़ दिया खंभा और उसने कहा—अब हम यहीं रहेंगे। अब हम आगे नहीं जाते।

अगर आपको कल अब भी सता रहा है, बीता हुआ कल, तो आप वहीं रुक गये। अगर इसको हम सोचें, तो हमें बड़ी हैरानी होगी कि हम कहाँ रुक गये। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि आमतौर से लोग बचपन में ही रुक जाते हैं। फिर शरीर ही बढ़ता रहता है—न बुद्धि बढ़ती है, न आत्मा बढ़ती है—कुछ नहीं बढता, वहीं रुक जाते हैं। इसलिए आपके बचपन को जरा में निकाला जा सकता है। अभी एक आदमी आप पर हमला बोल दे, तो आप एकदम चीख मारकर नाचने-कूदने लगेंगे। आप भूल जायेंगे कि आप क्या कर रहे हैं। अगर आपका चित्र उतार लिया जाये, या आपको स्मरण दिलाया जाये, तो शायद आप जब पाँच साल के बच्चे थे, और जो करते थे, वही आपने अब भी किया। मतलब यह कि मनोवैज्ञानिक कहते हैं आपका 'रिग्रेशन' हो गया। आप पीछे लौट गये बचपन में, उस खूंटे पर पहुँच गये, जहाँ आप बँधे हैं।

इसलिए मनसविद् किसी भी व्यक्ति की मानसिक बीमारी दूर करना चाहते हैं, तो पहले उसके अतीत जीवन में उतरते हैं, खासकर उसके बचपन में उतरते हैं। वे कहते हैं—जब तक हम तुम्हारा बचपन न जान लें, तब तक हम यह नहीं जान सकते कि तुम कहाँ रुक गये हो। कहाँ रुक जाने से तुम्हारा सारा उपद्रव पैदा हो रहा है। हम सब रुके हुए लोग हैं। गति नहीं है जीवन में, यात्रा नहीं है।

महावीर कहते हैं, महर्षिजन पार कर जाते हैं इस सागर को। पार करने का मार्ग है—संयम। साधना का सूत्र है—संयम, संतुलन—अतियों से बच जाना। दो अतियों के बीच जो बच जाता है, वह तट पर पहुँच जाता है। लेकिन हम क्या करते हैं, हम घड़ी के पेंडुलम की तरह हैं।

घड़ी का पेंडुलम, (पुरानी घड़ियों का, नई घड़ियों में ख्याल नहीं आता कुछ। पुरानी घड़ी पर ध्यान करना चाहिए।) दीवाल घड़ी का पेंडुलम बायें,